# उठते कदम

# उठते कदम

[ समस्यामूलक सामाजिक उपन्यास ]

श्रीराम शर्मा 'राम'

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ



मूल्य : रुपया २०-००

मुद्रक
श्री दुलारे लाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-फाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

# एक

विश्व के प्रकाश से दूर, जीवन के निपट अंधकार में पड़ा वह गाँव—उसका समाज—कदाचित् एक क्षण के लिये भी नहीं समझ पाया कि इस मानव का कर्म अथवा उद्देश्य क्या है ! नर-नारी से बने समाज की संस्कृति, धर्म और जीवन की रीति-नीति का पाठ उस गाँव के व्यक्तियों को कहीं से भी नहीं मिला । उन्हें विश्व के किसी एक कोने से भी ऐसा मधुर स्वर नहीं सुनाई दिया कि नर महान् है, और नारी महत्ता की देवी ! मानो मानव की चिर-लक्षित, चिर-प्रतीक्षित तथा चिर-मर्यादित परंपरागत भावना वहाँ सदियों से सुप्त पड़ी थी—गाँव की धूल से ढक गई थी । फल-स्वरूप, जीवन की उस दीनता को पाकर, वह गाँव, मानो बरबस ही अपने जानवरों के सदृश, जानवर बन गया था—उन्हीं के समान मूक, जीवन की कल्पनाओं से शून्य और रात की अँधेरी के समान भयावह ।

लखना और लक्खी अभी दस वर्ष से ऊपर नहीं पहुँचे थे । लक्खी की आयु तो आठ वर्ष से भी कम थी, किंतु उन दोनो की आत्मीयता मानो किसी दूसरे जीवन से चली आई हो । पड़ोस के दो घरों के ये दो बच्चे आपस में इतने हिल-मिल गए थे, मानो भूल गए थे कि वे भिन्न हैं—दो घरों के हैं । प्राय: वे गाँव के बाहर नदी-तट पर जाकर खेल खेलते । अपने घरौंदे बनाते, और आपस में कहते—"यह है हमारा घर······लक्खी, मेरा घर !" तब लक्खी कहती—"और मेरा !" तुरंत लखना बताता—"यही तेरा; हम दोनो का ।" फल-स्वरूप दोनो ही उस बालू के घर को बनाने-सँवारने में लग जाते । मानो बालू के उन कणों में ही उनके प्राण समा जाते—उनके हृदय और मस्तिष्क एक-मन होकर उस बालू के घर में अपनी ममता उँडेल देते । और, सचमुच वे दोनो बच्चे विश्व के कोलाहल से दूर, अपने अंतर्मन के साक्षी, उस बालू के घरौंदे में ही अपना विश्व समाविष्ट करते, और उसी में जीवन का परम तथा पुनीत आनंद प्राप्त हुआ देखते ।

किंतु उन दोनों बच्चों के प्रति विधि की मुस्किराहट मानो रहस्यमयी थी—कटु और कषैली भी। लखना और लक्खी की यह अवस्था अधिक दिनों तक नहीं चली। कदाचित् विधना को वह भली नहीं लगी। लखना अभी दस वर्ष का हुआ था कि उसकी आँखों के सामने पिता का प्राणांत हो गया। अपने पिता की अमानुषीय मृत्यु का वह करुण दृश्य बालक लखना के हृदय-पटल पर गहरा अंकित हो गया था। बात यह थी, लखना के पिता को मालगुज़ारी के रुपए देने थे। खेत की फ़सल से कुछ नहीं मिला, और ज़मींदार रुपया माँग रहा था उस रुपए के लिये ही उसने लखना के पिता को इतनी सज़ा दी कि उस मार की पीड़ा में वह कई दिन तक चारपाई पर कसका, और दम तोड़ने तक बराबर उसके मुँह से ख़ून जाता रहा। लखना की मा विवश थी। उस नारी के पास उपचार का कोई आधार न था। गाँव के वृद्ध वैद्य ने भी ज़मींदार के भय से मदद न की।

लखना का पिता गाँव-भर में ज़मींदारी और सरमाएदारी के विरुद्ध प्रचार करता था। लोगों से कहता—"यह है इंसानियत का पाप—हत्या!" किंतु हाय! वह स्वयं ही उस क्रूरता का शिकार बन गया। ज़मींदार को अवसर मिल गया। उसने अपने चिर-शत्रु को इतना दबोचा कि उसका प्राण ही निकल गया!

जब कई दिन चारपाई पर तड़पकर लखना का पिता मर गया, तो यह भी एक अकल्पित बात हुई, उस दिन से लखना ने लक्खी के साथ खेलना बंद कर दिया। वह प्रायः एकांत में रहने लगा। नदी-किनारे बैठा मिलने लगा। लखना की यह अवस्था देखकर कुछ दिन तो लक्खी मौन रही, पर अंत में उसे कहना पड़ा—"क्यों लखना, ऐसे कब तक रहोगे! तुम्हारे पिता तो गए, क्या तुम उनके रास्ते पर नहीं चलोगे? अब नहीं खेलोगे—नदी-किनारे?"

जब लक्खी ने अपनी बात कही थी, आँखों से आँसू गिराकर भी प्रार्थना की थी, उस समय लखना, घुटनों पर सिर रक्खे, घर के आँगन में, मौन बैठा था। उसकी मा कटे खेत पर दाने चुनने गई थी। भूखे लखना को घर में बैठा गई थी, और जंगल से आते ही रोटी बनाकर खिलाने का आश्वासन दे गई थी। बालक लखना बैठा यही सोच रहा था कि रात में जितना आटा था, उसकी रोटी बनाकर मा ने मुझे दे दी थी, और वह स्वयं पानी पीकर सो गई थी, अब वह रोटी कहाँ से बनाएगी?"

परंतु जब अपने स्वभाव के अनुकूल मुस्किराती और अल्हड़ भाव से हँसती लक्खी लखना के पास आई, तो वह उसे मौन तथा चिंताओं के भँवर में पड़े देखकर बरबस ही टकोर देने में समर्थ न हो सकी। वह स्वयं भी उसके पास बैठकर मौन रह गई। कुछ देर बाद उसने लखना के घुटने पर अपना हाथ रक्खा, और उस पर अपनी गरम हथेली फेरते हुए, लखना की उदास आँखों में अपनी आँखें डालते हुए, मानो मौन भाव में कह दिया—"अरे, तुम ऐसे······सच !"

उसी समय लखना ने साँस भरी, और छोड़ दी। मानो वह बालक किसी गंभीर विचार में लगा समाधिस्थ बैठा था—जगत् की चेतना से दूर हो गया था। जब लक्खी का वह मुलायम हाथ उससे स्पर्श हुआ, तो उसने स्वयं भी अपनी दृष्टि लक्खी के उस भोले, सुहावने मुँह पर टिका दी।

लक्खी ने—जिसका नाम था लक्ष्मी—कपड़े में लिपटी हुई रोटी निकालकर कहा—"लो, खाओ।"

रोटी देखकर लखना बोला—"ऐसे निभा नहीं करता, लक्खी ! मा कहती थी, यह नहीं शोभता।"

इतना सुनकर लक्खी जैसे चिढ़ गई। तुरंत बोली—"पर मेरी मा कहती थी, हम दो नहीं, एक हैं। लो, खाओ रोटी; फिर नदी पर चलो। अपना घर बनाने चलो—खेलने।"

लखना ने अपनी आँखें ऊपर आसमान की ओर उठा दीं। उसी ओर देखते हुए उसने भारी स्वर में कहा—"लक्खी ! मेरा बाबू······उनकी मौत······उनकी जलती हुई चिता······"

लक्खी ने इतनी बात सुनी, तो वह मौन रह गई। वह स्वयं भी उस बात के अंतराल में डूब गई।

लखना ने फिर कहा—"ज़मींदार ने मेरे बाबू को इतना मारा, उसने पैसे के लिये मेरे बाबू का प्राण तक ले लिया ! मैं आज भी यह बात याद करता हूँ, लक्खी !"

इतनी देर में लक्खी स्वयं अवरुद्ध हो गई थी। वह लखना की उदास आँखें देखकर इतनी उद्विग्न हुई कि बरबस उसकी आँखें भर आईं, किंतु लखना ने

अपनी बात लेकर कहा—"लक्खी, ज़मींदार ने अच्छा नहीं किया, मेरा बापू मार दिया; मुझे विना बाप का बना दिया।"

लक्खी बोली—"वह क़साई है, पापी है।"

किंतु उस समय लखना के मन में अतिशय रोष और असंतोष भरा था। उस अवस्था में ही उसने कहा—"हमारा सहारा चला गया, मा सुबह से गई है। वह बापू के लिये रात-दिन रोती है।" उसी समय लखना ने लक्खी के मुँह पर आँसू देखे। उसने अपने कुरते के पल्ले से उन्हें पोछ दिया।

लक्खी ने कहा—"पापी नहीं मरता। परमात्मा भी उसकी ओर नहीं देखता।"

लखना ने जैसे परमात्मा की परिभाषा अभी नहीं समझी थी, अतएव वह लंबी साँस खींचकर रह गया।

लक्खी ने कहा—"मेरी मा कहती थी, भगवान् सबकी सुनता है। तू रोटी खा लखना! पानी पी। देख, मुँह उतर रहा है। ज़रूर भूखा है।"

लखना ने कहा—"आज सुबह से क्या कुछ खाया है!"

लक्खी बोली—"हाँ, मुझे पता है।"

"और तू खाकर आई है?"

जल्दी से लक्खी ने कह दिया—"हाँ, मैंने खा लिया है।"

लखना खाने लगा। जब खा चुका, तो पानी पीकर, वह बरबस होठों पर सूखी मुस्कान लेकर बोला—"तू आई, रोटी ले आई, तो लगता है, जैसे प्राणों को बल मिल गया।"

इतना सुन लक्खी मौन रह गई, वह अज्ञात भाव से बैठी हुई जैसे अपने आप में निःशक्त भी बन गई।

लखना ने कहा—"मा कहती थी, मेरा मामा आएगा, वह मुझे ले जायगा। शहर में रहता है न वह, तो मुझे भी किसी काम में लगा देगा।"

बात सुनी, और लक्खी के मन में उतर गई। वह तब भी विना किसी आश्चर्य के लखना की ओर देखती-भर रही।

किंतु लखना ने फिर कहा—"मैं शहर जाऊँगा, वहाँ बड़ा हो जाऊँगा, तो तेरे लिये—हाँ, तेरे लिये लक्खी, माथे की बिंदी, माँग का सिंदूर और सुंदर-सी साड़ी......"

मानो टूटते स्वर में, झटका खाकर, लक्खी ने कहा—"तो तू शहर जायगा, लखना ! कब जायगा ?"

लखना ने कहा—"मा कहती थी, तेरा मामा आनेवाला है। तभी जाऊँगा।"

लक्खी ने साँस भरी—"तो तू चला जायगा ! शहर जायगा ?"

विपन्न भाव में, मानो किसी बुज़ुर्ग के स्वर में, लखना ने कहा—"बापू तो गया लक्खी, मुझे ही तो कुछ कमाकर मा के हाथ पर रखना होगा। मैं वहाँ कुछ काम करूँगा, रुपया लाऊँगा।"

लक्खी ने जैसे फिर लखना के मुँह पर कुछ खोजना चाहा, उसे समझना चाहा कि सच, यह लखना कुछ काम करेगा, रुपया लाएगा। निदान, उसने जैसे बरबस ही प्रसन्न भाव में कह दिया—"तो तू रुपया लाएगा ! तू भी बड़ा आदमी कहलाएगा रे, लखना !"

लखना हँस दिया—"मैं भी बड़ा आदमी कहलाऊँगा री, लक्खी ! रुपया लाऊँगा, तुझे भी दूँगा।"

मानो लक्खी ने फिर उसे खोजा—"मुझे रुपया देगा !" उसने ऊपर आसमान की ओर देखकर कहा—"भला मुझे क्यों देगा ?"

लखना कुछ और लक्खी के पास सरक गया। वह उसका हाथ पकड़कर बोला—"जब तुझे मेरी चिंता है, तो मुझे भी तेरी ओर देखना पड़ेगा री, लक्खी !"

इतना सुनकर जैसे लक्खी का मानस खिल गया। एकाएक उसने कहा—"लखना, हम······"

लखना बोला—"हाँ, लक्खी, हम······"

किंतु तदनंतर ही लक्खी ने अपने मन में घुमड़ती हुई बात लेकर कहा—"लखना, जमींदार ने तेरे बापू को मारा है, तो तू उसे मारना भूल मत जाना।"

इतनी बात सुनते ही लखना गंभीर हो गया।

"मैं इतना नहीं भूल सकता लक्खी ! मैं बड़ा हो जाऊँ, तो उसे बताऊँगा कि बाप का बदला बेटा लेता है।" उसने कहा—"मेरी मा ने भी मुझसे यही कहा है लक्खी !"

सुनते ही, आदर-भाव में, लक्खी बोली—"तेरी मा···"

लखना ने उसी स्वर में कहा—"मेरी मा···"

लक्खी बोली—"मेरी मा कहती थी, लखना की मा का सोहाग लुट गया।"

लखना ने कहा—"मा कहती थी, हमारा एक ही सहारा था, वह भी इस जमींदार ने छीन लिया।

क्रुद्ध भाव में लक्खी बोली—"ज़ालिम···नीच···"

लखना ने कहा—"मा कहती थी, जब आदमी के पास पैसा आता है, तो वह अंधा बन जाता है—इंसानियत छोड़ देता है।"

लक्खी ने कहा—"मेरी मा का कहना है, पाप का घड़ा ऐसे ही भरता है।"

लखना मौन रह गया, वह जड़ बन गया।

उसी समय मा आ गई। देखते ही उसने लखना के सिर पर हाथ रक्खा—"बेटा!"

लक्खी ने कहा—"तुम अब आई हो, चाची!"

चाची ने कहा—"हाँ, बेटी! अन्न के चार दाने जंगल से बटोर लाई हूँ।" उसने लखना की ओर देखा—"बेटा, अभी रोटी बनाती हूँ।"

लखना ने कहा—"मा, लक्खी रोटी लाई थी।"

मा ने ममता-भरी दृष्टि से लक्खी को देखा—"मेरी अच्छी बच्ची! जीती रह।"

लक्खी ने लखना को तरेरा—"यह भी कहने की बात थी?"

तभी लखना की मा चूल्हे के पास गई, और आग सुलगाने बैठ गई। उसी अवस्था में उसने उन दोनो बच्चों की ओर देखा, और परबस परमात्मा से उनकी आयु माँगने के लिये अपनी आँखों को दीनता और याचना-भरी भावना के साथ आसमान की ओर पसार दिया।

# दो

जिस दिन लखना शहर जाने के लिये तैयार हुआ, आठ वर्ष की बालिका लक्खी ऐसी बन गई, जैसे सचमुच ही उसका कुछ छिन रहा था—उसके पास से कोई अलभ्य पदार्थ जा रहा था। लक्खी के मन की अवस्था इतनी दयनीय और आतुर बन गई कि लखना के वियोग में उसने रोटी तक खाना छोड़ दिया, और उस आतुर बालिका के लिये सबसे अधिक अचरज की बात तो यह हुई कि उसने अपनी मनोदशा का आभास तक किसी को नहीं होने दिया। लखना गया, तो वह रोई; परंतु क्या मजाल कि उसकी मा तक ने अपनी बच्ची की भीगी आँखें देख पाई हों!

जब लखना गाँव से जा रहा था, तो उसने लक्खी से कहा था—"मैं जल्दी आऊँगा, लक्खी! तुझसे आकर मिलूँगा। मैं तुझे वहाँ भी याद रक्खूँगा। मैं तेरे लिये अच्छी-सी गुड़िया लाऊँगा।"

लेकिन इतना सुनकर भी लक्खी से कुछ नहीं कहा गया उसकी आँखों में आँसू थे, और हृदय जैसे टूट-टूटकर किसी पथरीली शिला पर बिखर जा रहा था।

और, लखना गया, तो लक्खी के लिये वह जैसे बहुत दूर चला गया—बहुत दिनों के लिये चला गया। वस्तुतः सचाई भी यही थी, लखना मामा के साथ रहने गया था—आदमी बनने गया था। उसकी मा ने उसे भेजा ही इस उद्देश्य से था कि मेरा लखना शहर में जाकर कुछ सीख लेगा—चार पैसे कमाने-योग्य बन जायगा। फल-स्वरूप लखना शहर में जाकर पढ़ने लगा। निकट समय के लिये वह अवश्य ही शहर का एक छोटा-सा नागरिक बन गया, परंतु उसके पीछे गाँव में रह गई उसकी मा और दूसरे घर की लड़की लक्खी अवश्य ही उसकी याद अपने हृदय में लिए थीं। मा के लिये अपने पुत्र को याद करना स्वाभाविक था; क्योंकि वह उसका पुत्र था—उसकी आत्मा का एक भाग, लेकिन लक्खी किसलिये उस लखना की याद करती थी? वह लखना से क्या

चाहती थी ? वह कौन-सा आकर्षण पाती थी ? और, वस्तुस्थिति यह थी कि लक्खी निशि-दिन लखना के घर जाकर उसकी मा के पास बैठती, लखना का समाचार पाना चाहती। यों निःसंदेह वह लक्खी रहस्य-पूर्ण थी, क्योंकि वह अभी नितांत अजान थी—कदाचित् प्रेम और सहानुभूति के मर्म को भी नहीं समझती थी। लखना उसका सगा भाई तो था नहीं, इसलिये गाँव के अन्य बच्चों को छोड़कर वह केवल लखना की याद अपने मन में लिए रहती थी, यह उल्लेखनीय बात है। कदाचित् यह बात मानव के मनःशास्त्र की एक ऐसी समस्या थी, जिसे न स्वयं लक्खी समझ पाई, और न किसी दूसरे आधार द्वारा ही उसने समझने की चेष्टा की।

लखना का पिता जिस अवस्था में मरा, गाँव के मध्यम वर्ग की सहानुभूति स्वभावतः ही उसकी मा रूपा के साथ थी, किंतु उस सहानुभूति का कोई साकार रूप नहीं था। और, रूपा इस चिंता में थी, उसका एकमात्र प्रयत्न ही यह था कि गाँव का अधिक-से-अधिक सहयोग पाकर ज़मींदार के विरुद्ध एक नए आंदोलन को जन्म दे। रूपा के मन की उस प्रतिक्रिया का स्वरूप क्या हो, इतना उसे भी ज्ञात नहीं था, परंतु उसके मन का यह संकल्प—अंतर की यह प्रतिहिंसा बार-बार उसे उद्बोधित करती थी कि ज़मींदार का नाश हो—जिस प्रकार मेरा पति तड़पकर मरा है, चोट खाकर मरा है, उसी प्रकार ज़मींदार का भी अंत हो। रूपा की आत्मा बार-बार चिल्लाती थी—"इस क्रूर और मदांध भेड़िए के रूप में ज़मींदार ने मेरा पति चबा लिया, मेरे लखना को बिना बाप का बना दिया, इसी तरह उसके बच्चे भी अपने बाप के लिये तड़पें, बाप की स्मृति में रोएँ।"

निःसंदेह रूपा के मन की वह अवस्था कदाचित् ऐसी तो थी नहीं कि एक बार तड़पकर और रोकर मौन हो जाती। वह जब भी एकांत में होती, पति की याद करके आँखों में आँसू भर लाती। वह बरबस ही दिवंगत पति की याद में डूब जाती। रूपा उस स्मृति-कुंड में ऐसे खो जाती, मानो वही उसका स्थल और उसी में उसका अस्तित्व समाविष्ट था। यद्यपि पति-गृह में आकर रूपा ने कोई सुख नहीं पाया, जीवन की स्वतंत्र और सुख-पूर्ण साँस उसे एक दिन भी उपलब्ध नहीं हुई, परंतु यह तो उसके भाग्य की असमर्थता थी। रूपा को अपने दांपत्य जीवन में

जो सबसे अधिक संतोष और सुख अनुभव हुआ, वह यह था कि उसका पति उसी का था—वह एकांत रूप से रूपा का था। वह नर एक बार ही आँख मूँदकर रूपा के जीवन में डूब चुका था। यौवनमयी रूपा, वह कल्पना-लोक की रानी सचमुच ही अपने पिया की प्यारी और उसके हृदय की आराध्य देवी बनकर इसलिये गर्वित थी कि उन दोनो के जीवन में कहीं भी दुराव नहीं था। पति ने एक बार ही उससे कह दिया था—"ऐ रूपा! अब तू इस छोटे-से घर की ही अधिष्ठात्री नहीं, अपितु मेरी भी मालकिन है—तू मेरी रखवाली करनेवाली है।" और, रूपा ने मानो सहर्ष भाव में, सानुमोदित बनकर, पति की बात स्वीकार कर ली थी।

परंतु हाय! रूपा का वही सुख—उस यौवनमयी नारी की वही एक मधुर कल्पना एक ही आघात में, जीवन के एक ही कठोर झंझावात में, बह गई। रूपा अकेली, सूनी रह गई। उसके जीवन की जितनी भी मधुर भावनाएँ थीं, दरिया के एक ही सैलाब में जाने कहाँ-की-कहाँ चली गई। बेचारी रूपा ने, जीवन के कठोर थपेड़े खाकर भी, पति की उस थाती को स्वीकार किया था। उसने निर्धन पति पाकर भी अपना भाग्य सराहा था, रूखी रोटियाँ खाकर भी ईश्वर को धन्यवाद दिया था, किंतु नियति का इतना भयंकर, क्रूर और आत्मघाती प्रहार भी उसके मानस पर पड़ सकेगा—आह! इसका भी उस भोली रूपा को क्या पता था।

लेकिन नियति का आश्रय पाकर मनुष्य जिस प्रकार का खेल खेलने लगा, कदाचित् उसी का एक प्रहार स्वयं रूपा के ऊपर किया गया। रूपा ने अपनी निस्सहाय अवस्था को देख एक ही बार में यह समझ लिया कि यह स्वार्थी की दुनिया है—नर-समाज के इस मेले में जो भी कोई भीड़ चीरकर आगे बढ़ता है, अपना स्वार्थ पूरा करने के लिये दूसरों को पीछे धकेल देना चाहता है; तो सच-मुच उस व्यक्ति के हृदय में इतनी गुंजायश नहीं, इतनी दया नहीं कि समझे—नारायण के रूप में वह नर—यह नर-समाज एक दूसरे से दया पाना चाहता है, सहानुभूति चाहती है, प्रेम चाहता है! किंतु जब रूपा ने स्वयं अपने पति को तड़पते और टीस से भरी हुई साँसों को टूटते देखा, उस पति की आत्मा का

करुण चीत्कार कानों से सुना, तो भले ही वह हृदयस्पर्शी स्वर अब नहीं रहा, वह काया जल गई, उसका पति राख हो गया, लेकिन रूपा तो इतना नहीं भूल सकी। उसकी आत्मा का वह तुमुल घोष एक दिन भी बंद नहीं पड़ा कि इस नर-समाज में दया नहीं, ईश्वर नहीं, इसकी दानवी प्रभुता ही श्रेष्ठ है। जिसके पास बल है, वही श्रीमान् है। श्रीमान् ही इस विश्व का सूत्रधार और कर्णधार है। अपने मन की इस वेदनामयी वाणी को सुनकर यौवन की भरी दोपहरी में खड़ी हुई वह रूपा, जिसने शिक्षा नहीं पाई, कहीं से प्रेरणा नहीं पाई, जिसने जगत् का प्रकाश भी नहीं देखा, वैभव भी नहीं देखा, वह अंतर के जाने किस कोने से प्रस्फुटित हुए इस उद्गार को एक बार भी अनसुना नहीं कर सकी कि इस नर ने नारायण को ठगा है—कहीं नारायण हो, तो हो; परंतु इस जगत् में तो नर ही प्रभुता का स्रोत बना हुआ है—क्रूर और मदांध नर—नर-समाज।

निःसंदेह यह भी एक अजीब बात थी, रूपा के जीवन की अलौकिक और अभूत पूर्व जागृति दिखती थी, उसने किसी से भी जीवन की दिशा न पाकर अपने लिये विशाल पथ निर्देशित कर लिया है। उसे साधारण अक्षर-ज्ञान था, उसी के सहारे उसने समाज, धर्म और देश को समझना चाहा। लगा कि जो अपने पौरुष को—नारी के अस्तित्व को—यौवन की अंधकार-पूर्ण और भयावनी उपत्यका से कुरेद-कुरेदकर खोज लेना चाहा। रूपा ने इतना अपनी आत्मा से ही सुन लिया कि दुर्बल दबाया जाता है। निःशक्त और कायर व्यक्ति के लिये इस जगत् में कोई स्थान नहीं। उसने अनुभव किया कि मेरे पति का भी यह पाप था कि वह दुर्बल था, निस्सहाय था। निदान रूपा के मन में टीस उठती कि लखना के पिता को ज़मींदार का सामना करना था—उसे अपने तेज़ दाँतों से चबा डालना था। वह मारना चाहता था, तो लखना के पिता को स्वयं उस पापाचारी का अंत कर देना था।

परंतु हाय! ऐसे अवसर पर, मन की ऐसी रोषमयी अवस्था आने के बाद ही, रूपा अपने आप में खो जाती। तुरंत ही वह काँपते हुए स्वर में कहती—"रे परमात्मा! तूने मुझे यह भी नहीं दिया कि मेरे पति में बल होता, प्रतिकार का भाव होता, इस ज़मींदार को मार देने का साहस होता।

ऐसे समय, सचमुच ही, रूपा की अजीब अवस्था बन जाती, वह जैसे विक्षिप्त हो जाती। उसकी आँखों में खून उतर आता। हाथों की मुट्ठियाँ बँध जाती। और, वह अपने आपको जैसे नोच लेना चाहती हो। ऐसी ही अवस्था को लेकर, क्रुद्ध भाव में, कहती—"थू है इस इंसान पर—लानत है इसके स्वार्थ पर!"

तुरंत ही रूपा चीख पड़ती—तो फिर भगवान् क्यों! जब इंसान हैवान बन गया, शैतान से आगे बढ़ गया; तो इसके मुँह पर दया और ममता का नाम क्यों?

और सोचती रूपा—हाय-हाय! इंसान तो अकेला है। तू अकेली है, निराश्रित है, तेरे चारो ओर भेड़ियों का जाल बिछा है!

जब रूपा का भैया आया, तो उसने अपनी बहन की उस एकाकी, निराश्रित अवस्था को ही लक्ष्य करके कहा था—"तू भी चल, रूपा! मेरे साथ रहना। जिस गाँव में तेरा कोई नहीं—अपना नहीं—तो ऐसी जगह रहकर क्या ज़िंदगी का कारवाँ चल सकता है! न, ऐसे तो कल तेरे ऊपर भी किसी-न-किसी मुसीबत का पहाड़ टूट सकता है।"

भैया की बात सुनकर एकाएक रूपा रूखे भाव में मुस्किराई, और मौन रह गई, मानो वह भैया की बात से सहमत नहीं हुई।

किंतु भैया ने फिर कहा—"रूपा, इस ज़िंदगी को बिताना आसान नहीं। और, तेरी यह आयु—यह ज़िंदगी का बोझ···"

तुरंतु ही मानो झटका-सा खाकर रूपा बोली—"भैया, जब ज़िंदगी है, तो बोझ भी है। दोष तो मेरे भाग्य का है—जितना लिखा है, उतना ही मैंने पाया। यह बोझ अब मुझी को उठाना है—ज़िंदगी का सफ़र तो मेरे पैरों को ही तय करना है।"

बहन से इतना सुनकर भैया ने साँस भरी—"यह तो तूने ठीक कहा है, रूपा!" वह बोला—"पर मुझे भय लगता है। तेरे चारो ओर शत्रुओं का जाल बिछा है।"

रूपा ने धीर भाव में कहा—"मुझे पता है।"

"और, तुझे यह भी पता है कि आदमी जानवर बनता है, जहरीला बनता है, तो न अपना देखता है, न पराया। ऐसे आदमी की वाणी में केवल स्वार्थ बोलता है।"

ईर्ष्या और खिन्न भाव में रूपा मुस्किरा दी—"हाँ, भैया ! मुझे इसका भी पता है। जिस रूपा का पति स्वार्थ-वश मार दिया गया, जिसका सोहाग सूरज की चढ़ी धूप में छीन लिया गया, तो उसे क्या अब इतना भी पता न होगा ?"

"और, जब कल को तेरे साथ भी लड़ाई-झगड़ा हुआ, तो ? जमींदार का क्रोध तुझ पर भी उतरा, तो ?"

रूपा झुँझला पड़ी—"तो मैं भी मर जाऊँगी—अपने पति की राख में मिल जाऊँगी।"

बहन के मन का परिताप और क्षोभ देखकर भैया मौन रह गया। वह अपनी बहन की दयनीय स्थिति में भी डूब गया।

किंतु, तत्क्षण ही, रूपा ने फिर कहा—"सुनो, भैया ! मैं तुमसे भी कहे देती हूँ, मैं अपने पति का बदला लूँगी। मेरा पति चला गया है, सौगात में, अपनी निशानी-स्वरूप, मुझे पुत्र दे गया है, वह मुझे मा का महान् पद भी प्रदान कर गया है।"

इतना सुनते ही भैया की आँखें चमक गईं—"रूपा !"

रूपा ने कहा—"हाँ, भैया ! इसीलिये तो मैं लखना को तुम्हारे साथ भेजती हूँ। मैं चाहती हूँ, वह इस गाँव के अंधकार से निकलकर प्रकाश में रहे। यह समझे, मनुष्य का स्वार्थ कितना बड़ा है, कितना क्रूर है, कितना मदांध है। मेरा लखना अपने बाप का बदला ले, अब मेरी यही तो एक साध है। वह मेरे पति की अमानत है—धरोहर। अपने जीवन की परम और श्रेष्ठ निधि को मैने तुम्हें सौंप दिया है। देखना, यह सुरक्षित रहे, अक्षत रहे।"

इतनी बात सुनकर रूपा का भाई स्वयं भी उत्साहित हो गया। उसके हृदय में स्वेच्छा से उमंग पैदा हुई—"तेरा लखना ऐसा ही बने। तेरे अनुरूप बने, मैं इसका प्रयत्न करूँगा, रूपा !"

रूपा ने कहा—"भैया, तेरे जीजा के मन में जो कुछ था, उसका मुझे पता है। उन्होंने मुझसे कहा था। यह तो भाग्य की बात हुई कि ज़मींदार ने समय अपना वार किया, जब सचमुच ही यह घर विपत्ति के मुँह में पड़ा था, और शायद ज़मींदार इसी ताक में था।" इतना कहते हुए रूपा की आँखें लाल हो गईं। उनमें ज्वाला की चिनगारियाँ फूट आईं। वह बोली—"भैया, क्या तुम्हें अब यह भी बताना होगा कि ज़मींदार ने जिस संध्या के समय तुम्हारे जीजा को अपने यहाँ बुलाया, उस समय भी उन्हें बुख़ार था। दो वर्ष से खेती में दाना नहीं हुआ। जब वह ज़मींदार के पास गए, तो उसने छूटते ही, अपमान-भरे शब्दों में, कहा—'रुपया अभी दो, नहीं तो जान से मार दूँगा।' किंतु रुपया तो क्या, उस समय तो खाने तक का टोटा था। निदान, उस कमबख़्त ने न सिर्फ़ अपने हाथों से उन्हें मारा, अपितु अपने चार आदमियों से खंभे से बँधवा दिया—बदन नंगा करा दिया, और कितने कोड़े उनके शरीर पर पड़े, यह क्या उन नर-पिशाचों ने गिना होगा! भैया, जब वह बेहोश हो गए, तो ज़मींदार ने एक आदमी को उनके मुँह पर पेशाब करने का आदेश दिया!"

रूपा का भाई चीख़ पड़ा—"बहन!"

रूपा के हाथों की मुट्ठियाँ बँध गईं—"जब वह यहाँ लाए गए, तो बेहोश थे। ख़ून से लथ-पथ। मैं दूसरे दिन थाने में रिपोर्ट करने गई, तो कम्बख़्त थानेदार मेरी ओर देखकर मुस्किराया, हँसा—'तो तू है, हरीराम की बहू! अच्छा, अच्छा! लिखा, क्या कहना है, तुझे!' और, उसने अपने आप ही कहा—'जल में रहकर मगर से वैर! ही-ही-ही-ही! वह तो ज़मींदार के विरुद्ध प्रचार करता था न! ज़मींदार के दुश्मन बना रहा था। ज़मींदार पापी, दुराचारी······ओ-ओ-हो!'"

रूपा बोली—"उस दुष्ट ने एक काग़ज़ पर मेरा बयान लिखा, और घर जाने को कह दिया।"

भाई ने कहा—"पुलिस अच्छी नहीं, ईमानदार नहीं।"

रूपा ने अपने स्वर पर ज़ोर देकर कहा—"पुलिस चरित्र की अच्छी नहीं। पुलिस का सिपाही गुंडा है, थानेदार बेईमान। समाज की मा-बहनों की इज़्ज़त की क़ीमत उनकी आँखों में कानी कौड़ी भी नहीं।"

भैया ने कठिन स्वर में कहा—"यह भी एक समस्या है।"

रूपा बोली—"जिस रात को यह क़िस्सा हुआ, मैंने सुना कि थानेदार रात में ही ज़मींदार के यहाँ बुलाया गया था। उसे शराब पिलाई गई थी, और जब वह गया, तो उसकी जेब में रुपए भी डाल दिए गए थे।"

भैया ने पूछा—"तुझे कैसे पता चला ?"

रूपा खिन्न भाव से मुस्किरा दी—"ज़मींदार के एक नौकर ने ही मुझे यह सब पता दिया था।"

इतना सुनकर भैया ने साँस भरी—"और आज भी वही ज़मींदार है, वही पुलिस है, तो—तो ! अरी, रूपा !"

रूपा ने दृढ़ भाव से कहा—"तब मैं भी उसी तरह मरूँगी। मैं प्रतिकार करूँगी—मरूँगी या मारूँगी।"

सुनकर भैया उदास हो गया। वह रूपा की ओर देखने लगा।

किंतु रूपा फिर क्रोध में आ गई—"भैया, मरते समय लखना के पिता ने मुझसे यही कहा था। मुझसे यही वचन लिया था। मैंने उनसे इतना भी सुना कि 'रूपा, तू भूल न जाना। तू कुछ न कर सके, तो लखना को याद दिलाना।'" वह बोली—"भैया, लगान का पैसा माँगना तो बहाना था। बात और कुछ थी। ज़मींदार के रास्ते में लखना का पिता एक काँटा था। वह शूल सोते-जागते उसे सताता था। पिछले दिनों जब एक और किसान के साथ भी ऐसा हुआ, तो इस गाँव में एक लखना का पिता ही तो था, जिसने जमींदार के मुँह पर कहा था—'यह पाप है ! इंसानियत का ख़ून है ! तुम्हें भी यह चुकाना होगा !'" रूपा बोली—"लखना के पिता ने उसी समय ज़मींदार को यह भी सुना दिया था कि 'समय आ रहा है कि तुम्हारा यह ऊँचा महल गिरा दिया जायगा—तुम्हारा शरीर आग की सुलगती हुई भट्ठी में झोंक दिया जायगा।'"

उदास स्वर में भैया ने कहा—"यह भी संगत नहीं था। जब अपनी शक्ति नहीं, तो मौन रह जाना उचित था।"

रूपा बोली—"न भैया ! ज़ुल्म का सहना भी पाप है। ज़ालिम को उसकी क्रूरता और बर्बरता बता देना धर्म है। मेरे पति ने यही किया। उन्होंने

स्वयं भी दंड पाया, तो मरते समय न उन्हें खेद था, न विधवा बनकर मुझको। मैं आज भी कहती हूँ, इंसान के रूप में उनका यही कर्तव्य था। मेरे मूर्ख और निर्धन पति ने मुझे यही तो सिखाया। मरते समय भी उन्होंने मुझे इसी एक भावना से प्रेरित किया।"

और तभी रूपा के भैया ने देखा, उसकी बहन की आँखों में उस समय जो तेज और अमरत्व की चमक दीख पड़ी, कदाचित् वैसा भाव वह अपने जीवन में अन्यत्र न देख पाया था, न समझा।

---

# तीन

नि:संदेह रूपा के जीवन की यह भी एक कठिनाई थी कि जहाँ वह रूप और शरीर से सुंदर थी, वहाँ आयु की भी अधिक नहीं हुई थी। नगर से दूर, गाँव के उस अंधकार में, रूपा छिपने की चेष्टा करके भी नहीं छिप सकती थी। अपने आप में नारी कितनी हीन और क़ायर है, पति की मृत्यु के एक साल बाद ही रूपा इस बात को समझ चुकी थी। यद्यपि मानसिक संताप के कारण उसके रूप में पर्याप्त मलिनता आ गई, परंतु पुरुषों की जिस वक्र दृष्टि का शिकार उसे आए-दिन बनना पड़ने लगा, वह अवस्था भी, उसकी दृष्टि में, दिन-दिन अधिक घिनौनी और क्रूर बनती जा रही थी। रूपा के शुभचिंतकों ने यह बात उसके कानों में पहले ही डाल दी थी कि ज़मींदार की उस पर निगाह है, उसके विचारों पर उसके कान लगे है और पैरों पर आँखें हैं—वह रूपा की प्रत्येक गति-विधि को समझने के लिये चेष्टित है।

कदाचित् यही कारण था कि रूपा अनेक बार इस बात का भी विचार करती कि वह भैया के पास चली जाय। नगर में ही मज़दूरी करके अपना और लखना का निर्वाह करे। जब-तब रूपा के मन में इस प्रकार का भय प्रस्फुटित होता, वह उसके मन और आत्मा को कँपा देने में समर्थ बनता, तो वह रूपा, सचमुच ही, अँधेरे में खो जाती—उसकी आँखों में अँधेरा छा जाता और सिर घूम जाता। उसे अपना जीवन सर्वथा निरालंब और खोया-खोया-सा दीख पड़ता। ऐसे क्षणों में वह स्पष्ट अनुभव करती कि उसकी जीवन-नैया पुरानी है, पतवार छूट चुकी है, और अब केवल लहरों की कृपा ही उसे किनारे की ओर बढ़ा सकती है। किंतु जीवन-सागर की वे लहरें तेज हैं, प्रवाह तेज है; किनारे पर पहुँच जाने की बात तो दूर, वह जल्दी ही—हाँ, किसी समय भी—उन विशाल और हृदय-हीन भँवरों की गोद में समा सकती है।

गाँव के जिस पुरवे में रूपा का घर था, वहाँ कुछ ऐसे भी पड़ोसी रहते थे, जिन्हें

सचमुच ही रूपा के प्रति सहानुभूति थी। रूपा भी उन्हें अपना आत्मीय मानती थी। उन्हीं में एक वह घर था, जिसकी लड़की लक्खी थी। लक्खी अब भी किसी-न-किसी समय रूपा के पास आती, और उसे संबोधित कर लखना का समाचार पाती—गाँव ओर जंगल की बात करती। उन्हीं बातों के प्रसंग में लक्खी अपनी चाची को यह भी बताती कि किस औरत ने उसकी चाची के लिये क्या कहा—हाँ, आज कहती थी रेवती की मा, बेचारी लखना की मा का सोहाग क्या लुटा, उसका सभी कुछ चला गया। ज़मींदार ओर उसका गुट्ट भी अब उसका पहले से अधिक शत्रु बन गया।

लक्खी से इस प्रकार की बातें सुनकर रूपा यह अनुमान सहज ही लगा पाती कि गांव में उसके प्रति क्या चर्चा है—क्या कहा जाता है। वह गाँव कोई नगर तो था नही, जहां दिन-भर बहुत-सी बातें उठती-बैठती हों। और उन का किसी को पता भी न हो वह तो दो सौ घरों का एक गाँव था, जिसके चारो ओर बीहड़ वन था। संध्या होते ही गाँव के प्रत्येक नर-नारी के कानों में जंगल से बोलते गीदड़ों का स्वर अनायास ही आता था अतएव ऐसे संदिग्ध, दुरूह और विषम बने हुए जीवन के आँगन में बैठी हुई रूपा, निश्चय ही, तनिक भी सुरक्षित नहीं थी। वह अपने चारो ओर हिंसक पशुओं को खड़ा देखती थी। दिन में जंगल में जाकर अपना खेत देखती, और रात में जब घर आती, तो उस सूने मकान में पड़ी हुई ज़रा-सा खटका पाकर भी चौंक जाती। वह आँखें खोलकर चारो ओर देखने लगती।

अपने जीवन की उस दुरूहता में रहकर भी रूपा अपने आपसे कम संतुष्ट न थी, जिसका एक कारण यह था कि वह दिन-दिन गाँव के नर-नारियों की सहानुभूति अपने प्रति संगृहीत करती जा रही थी। वह अधिक पढ़ी नहीं थी, उसमें चेतना भी अधिक नहीं थी, परंतु वह जितना बोलती, सोच-समझकर गाँव में किसी के घर कोई बात हो—कष्ट की बात हो—तो क्या मजाल कि उसे सुनकर रूपा वहाँ न जाती हो। वह सभी के काम आती—सभी के पीड़ा-भरे आँसुओं में अपने आँसू मिलाती थी। भी मिला पाती। वह गाँव के छोटे-बड़े सभी वर्ग को बताती कि ज़मींदार पापी है। किसान ख़ून-पसीना एक

करके चार दाने उपार्जित करते हैं, और उसकी निगाह उन्हीं पर पड़ती है—इंसानियत का कलंक है जमींदार!

उन्हीं दिनों, एकाएक, गाँव में यह चर्चा ज़ोर पर थी कि जब एक दिन रूपा अपने खेत पर काम कर रही थी, तो ज़मींदार का कारिंदा उस ओर गया। शायद लगान का पैसा लेने गया हो। जब वह रूपा से बात करने लगा, तो उसी समय रूपा ने उसके मुँह पर तड़ से तमाचा मार दिया। चोट से कारिंदा जैसे तड़प गया। रूपा को मारने के लिये उसने बेंत उठाया था कि तुरंत रूपा ने वह बेंत उसके हाथ से छीन लिया, और खेत में फेंक दिया। अवसर की बात थी कि उस समय पास के एक दूसरे खेत में भी आदमी काम कर रहे थे। वे यह दृश्य देखकर तुरंत दौड़ आए। वे रूपा की रक्षा करने के लिये आए थे। उन्हें देखकर रूपा ने कहा—"मैं इस मुंशी को खा जाऊँगी—ज़िंदा नहीं छोड़ूँगी।"

उन किसानों में से एक बोला—"मुंशीजी, भला बनना तो इंसान का काम है।"

मुंशी ने कहा—"और अपना रुपया माँगना क्या बुरा है?"

उस समय तो रूपा क्रोध में थी—"तू चला जा, मेरे समाने से कमीने! जाकर ज़मींदार से कहना, रूपा भूली नहीं है कि उसका पति तूने मार दिया है। मैं बदला लूँगी। उसे तड़पा कर न मारा, तो मैं अपना 'रूपा' नाम बदल दूँगी।

उपस्थित व्यक्तियों ने बात को सँभाला। रूपा को रोका, और मुंशी को वहाँ से हटा दिया। वह चला गया। इसी एक घटना का परिणाम यह हुआ कि दो मास बाद ही रूपा के नामकुरक़ी आई, और उसके घर का बहुत-सा सामान लगान के रुपयों में नीलाम किया गया। जिस समय नीलाम की बोली हुई, तो ज़मींदार भी उपस्थित था। वह चाहता था, गाँव के अधिकांश व्यक्ति बोली बोलें, परंतु वह यह देखकर चकित रह गया कि रूपा के माल पर गाँव की एक भी बोली नहीं हुई। सभी की वाणी मौन रही, मानो सभी के मुँह सी दिए गए थे। गाँव के वे नर-नारी जैसे ज़मींदार को यह बता देना चाहते थे कि तुम्हारी प्रभुता के दिन गए, दया और सहानुभूति पानेवाले श्रेष्ठ हो गए।

यह देखकर जमींदार झल्ला उठा—"कोई नहीं बोलता ! कोई नहीं चाहता कि मेरा रुपया वसूल हो।"

उसी समय एक युवक ने अपनी वाणी पर ज़ोर देकर कहा—"औरत जात है, जिसका पति मार दिया गया है। ज़मींदार बेशर्म और पत्थर बन सकता है, परंतु गाँव अपनी शर्म को इस प्रकार आँखों से नहीं उतार सकता। यह माल कोई नहीं ख़रीदेगा, यह नीलाम की बोली पर नहीं चढ़ेगा। रूपा का माल रूपा का ही रहेगा।" और, उसने अपनी जेब से रुपए निकालकर फेकते हुए कहा—"आज सुन लो तुम, गाँव तुम्हारे जुल्मों को अब बर्दाश्त न कर सकेगा। रुपए ले जाओ। जाओ। हमारे सामने एक औरत को तुम अपमानित नहीं कर सके, यह संतोष हमारे लिये बहुत बड़ा रहेगा—इस रुपए से बड़ा।"

ज़मींदार ने बात सुनी, और रुपयों के साथ उस युवक को घूरा—"ओहो, तो मलखान चौधरी रुपए देते हैं। क्यों न हो, धन्ना सेठ जो हैं।" पुनः उसने कड़ककर कहा—"जब तेरे घर क़ुरक़ी आएगी, तब देना रुपया। मैं नहीं लूँगा ये रुपए। मैं खुद ही ख़रीद लूँगा सामान।"

मलखान ने हाथ में पकड़ी हुई लाठी को ऊपर उठाकर कहा—"ज़मींदारजी, यह मत भूलो, रूपा का यह सामान उसका सम्मान है, और उस नारी का सम्मान गाँव का सम्मान है। अपनी इज़्ज़त के लिये हमने ख़ून देना भी सीखा है।"

ज़मींदार ने तड़पकर कहा—"यह सामान भी आदमी का ख़ून माँगता है, रुपए नहीं।"

गाँव की वह चौपाल आदमियों से भरी थी। रूपा अपने घर में थी। वह मौन थी। वह अपना सामान उठा देने की सम्मति दे चुकी थी। जब मलखान ने अपनी बात कही, तो चौपाल में दूसरी ओर से आवाज़ आई—"हम ख़ून भी देंगे। इस सामान के लिये अपनी जान दे देंगे।"

तीसरी ओर से कहा गया—"ज़मींदार अंधा है, तो गाँव अंधा नहीं। रूपा का पति इसी भेड़िए ने चबा लिया है। इसके दाँतों को तोड़ देना है।"

क़ुरक़ी के लिये आया हुआ अमीन एक चतुर व्यक्ति था। उसने परिस्थिति समझकर और ज़मींदार के कान में कहा—"इन रुपयों को उठा लो, मूर्खों की कुबुद्धि से लाभ उठाओ।"

ज़मींदार भी अड़ियल था, वह सहमत न हुआ। उसने मलखान का रुपया लेना अपना अपमान समझा। भरे गाँव ने उसके मुँह पर जीवन में पहली बार तीखी और तेज़ बात कही, आँखें दिखलाई। उसे गाँव की उन आँखों को फोड़ देना अधिक संगत लगा था। उसका वश चलता, तो उसी समय वह एक-एक को मौत के घाट पहुँचा देता। निदान, वह दाँत पीसकर रह गया। वह तेज़ी से खड़ा हो गया, और बोला—"अच्छा, तुम रूपा की मदद करो। आज जो कुछ कहा है, इसका फल भी भोगना। एक-एक को भूखा न मार दूँ, तो मेरा नाम विक्रम न कहना।"

मलखान ने सुना, और ठहाका मारकर हँस दिया। ज़मींदार क़ुर्क़-अमीन को साथ लेकर चल दिया। सामान और रुपया वहीं छोड़ गया।

उसी दिन संध्या होते-होते गाँव में थानेदार आया। उसने मलखान और उसके दो अन्य साथियों को गिरफ़्तार कर लिया। थानेदार ने रिपोर्ट सुनाई, और कहा—"तुमने क़ुर्क़-अमीन से कुर्क किया सामान और रुपया छीन लिया।" रिपोर्ट क़ुर्क़-अमीन द्वारा लिखाई गई थी। वह सरकारी आदमी था। उसके पास सरकारी रुपया था। फ़ौजदारी और डाके की दफ़ा लगाकर उसने उन तीन युवकों का चालान कर दिया। उस गाँव के जीवन में यह पहला अवसर था, जब सामूहिक रूप से जमींदार के प्रति क्रोध और विवाद का वातावरण पैदा हुआ। गाँव में वर्ग-भेद का श्रीगणेश हुआ। किसानों का एक भाग जमींदार के पक्ष का समर्थन कर रहा था, और दूसरा उसके विरुद्ध था। शांत और निश्चित वह छोटा-सा गाँव आग की भट्ठी बन गया। जीवन की उलझन में फँसे हुए ग्रामवासियों को जमींदार ने अनायास ही यह बताना पसंद किया कि मेरी प्रभुता और मेरा अस्तित्व स्वीकार करने में ही तुम्हारा भला है। मेरे विरुद्ध चलने के अर्थ है तुम्हारी मौत—सर्वनाश !

किंतु जीवन और मृत्यु के उस झंझावात में डोलता हुआ उस गाँव का समाज भले ही अपने आपमें नितांत दीन और कातर बन चुका था, सदियों की दासता के बंधनों में जकड़कर अतिशय घायल भी हो गया था, परंतु अभी वह जीवित था-उसमें तेज बाक़ी था। फलस्वरूप, समय की पुकार के साथ उस गाँव के समाज में

भी आवाज़ उठी, अनाचार और पापाचार के विरुद्ध आत्मा तड़पी। किंतु उसकी तड़प के स्वर को इस प्रकार दबाया जायगा—रूपा के पति का ख़ून किया जायगा, युवकों पर झूठा अभियोग लगाकर उन्हें जेल भेजा जायगा—कदाचित् इसका किसी को भी अनुमान न था। जब यह बात सामने आई, और ज़मींदार के ज़ुल्म को देखकर प्रतिकार की भावना जगी, तो वह एकाएक दबी नहीं, अपितु अंदर ही-अंदर राख के ढेर के नीचे सुलगती रही। ज़मींदार सोचता था, जिस आवाज़ को वह कुचलने चला है, वह दब जायगी, तो वह निष्कंटक रहेगा, लेकिन रूपा के पति को मारकर, उसका अंत करके, वह अभी संतोष ही कर रहा था कि उस दिन चौपाल में गाँववालों को अपने मुँह पर बोलता हुआ पाकर उसने अनुभव किया—रूपा का पति क्या मरा, वह अपने अनेक प्रतिनिधि बना गया—अपने शरीर का ख़ून जैसे गाँव-भर में छिड़क गया। वह ज़हर के कीड़े बखेर गया, प्रतिहिंसा और प्रतिरोध फैला गया।

उसी प्रतिरोध का सामना करने के लिये ज़मींदार कृत-संकल्प था। अपनी प्रभुता को अक्षुण्ण बनाए रखने का एकमात्र यही अवलंब था। उसका एकांत मत था—शासन दया से नहीं चलता। अपना स्वार्थ सद्भावना से पूरा नहीं किया जा सकता। अतएव, वह अपने मार्ग के उन काँटों को भी तोड़ देना पसंद करता था, जो उसके मार्ग में आ गए थे—उसे पीड़ा पहुँचाने के लिये उद्यत थे।

मुक़द्दमा चला, और उन तीन युवकों को दो-दो वर्ष का कठोर कारावास का दंड सुनाया गया।

गाँव के उन युवकों को उनको दिया जानेवाला दंड ज़मींदार के लिये भले ही शांति और चैन का विषय बन गया हो, परंतु रूपा के लिये वह जैसे एक बड़े उत्तरदायित्व का रूप बन गया था। वह यदि स्वयं जेल जाती, स्वयं मार खाती, तो कदाचित् इतनी परेशान न होती, लेकिन उसके कारण वे तीन युवक जेल गए, अपमानित हुए, यह अवश्य ही रूपा के लिये चिंता की बात थी। वह परेशान थी। उसके लिये केवल इतना ही सहारा अवशेष था कि जिन घरों के वे लड़के थे, उनके माता-पिता ने उसे दोषी न ठहराया केवल

इतना ही कहा, यह उनका कर्तव्य था। जेल गए, तो क्या हुआ ? दो वर्ष का समय ही क्या ? जब लड़ाई छिड़ी है, तो डरने का प्रश्न नहीं रहा। जमींदार के पास पैसा है, उसे उसका अभिमान है, तो यह गाँव भी उसका घमंड चूर करके रहेगा। समय बदल रहा है, आदमी बदल रहा है। इस अन्याय को अब अधिक दिनों तक बरदाश्त नहीं किया जा सकेगा।

रूपा के कारण गाँव के तीन युवक जेल तो गए, लेकिन एक ओर नई स्थिति उस गाँव में पैदा हुई, जमींदार ने घर-घर में फूट पैदा करानी आरंभ की। भाइयों को तोड़ा, जाति को तोड़ा। वर्ग-भेद और जाति-भेद की दीवारें चतुर जमींदार ने जहाँ-तहाँ खड़ी करनी आरंभ कर दीं, जिसका परिणाम यह हुआ कि सदियों से चली आई पशुता का शिकार वह नर-समाज जिस दयनीय अवस्था में था, उसमें रहकर भी निश्चित और शांत नहीं रह सका। आए दिन ही झगड़े होने लगे। भाइयों की जमीनें बँटन लगीं। यदि एक घर जमींदार के विरुद्ध है, तो उसी से सटा हुआ दूसरा घर उसकी जी-हज़ूरी करने लगा।

रूपा गाँव की उस बदलती हुई स्थिति को देख रही थी। वह अनुभव कर रही थी कि यह ग्राम-समाज आर्थिक हीनता के कारण पशु बन गया है, दीन बन गया है। यह जमींदार अब इसे केवल मिट्टी का ढेला बना देगा। जाने किन संस्कारों के प्रभाव से स्वत: ही रूपा के अंतर से आवाज़ आती कि इस अन्याय का प्रतिकार करने के लिये ऊँची भावना चाहिए—बलिदान चाहिए। मनुष्य अधिक तेज-पूर्ण और शौर्य-पूर्ण होना चाहिए। रूपा का यह निश्चित मत बन गया था कि जमीन हमारी है, हमारा ही उस पर अधिकार है। जमींदार ने बरबस ही उसे अपनी बना ली है। बंदर की तरह चालाक बनकर यह मालिक बन गया है, मूर्खों की मूर्खता से लाभ उठाता है। पैसा पा गया है, तो कमीना बन गया है। इंसान का खून इस नर-पिशाच के मुँह लग गया है।

रूपा अपने अंतर की इन्हीं भावनाओं को घर-घर जाकर सुनाती। उसने खेत पर जाना छोड़ दिया था। अब उसका एकमात्र यही काम रह गया था कि घर-घर जाकर जीवन की ज्योति जगाती। वह व्यक्ति-व्यक्ति को जाकर

सुनाती, ज़मीन तुम्हारी हैं, अधिकार तुम्हारा है। वह कहती, जो दबता हैं, उसे दबाया जाता है। जो पहले प्रतिकार करता है, वह हानि उठाता है। वही पहले अपना बलिदान देता है। वह बताती, यह न सोचो, इस गाँव के ज़मींदार ने केवल मेरा ही पति मार दिया है—इसने और इसके पुरखों ने हज़ारों को मारा हैं। लोगों के मुँह का दाना छीना है। उन्हें जीवन से मुहताज किया है। इंसान को अपना दास बनाया है।

नि:संदेह रूपा का उद्घोष–उसकी वह प्रेरणा घर-घर फैल रही थी। वह आत्मचेतना और आत्मभाव की भावना भर रही थी। नर और नारी समझ रहे थे कि हाँ, बात संगत है। कुटिल ज़मींदार ने न केवल उनकी जमीन पर अधिकार किया है, अपितु उनका अपना जीवन भी छीन लिया है—उनका सुहावना जीवन मुहताज हो गया है।

और, रूपा जहाँ जाती, जहाँ बैठती, वहीं वह जमींदार के विरुद्ध विष फैलाती। वह साफ़-साफ़ कहती—"तुम अपना भी अर्थ समझो—अपनी क़ीमत समझो। परमात्मा को मानते हो न, तो उस पर विश्वास करो। अपने पौरुष से काम लो। अपने अधिकार को देखो। सोओ मत, तुम जागो। चोर तुम्हारे घर में घुसा है, उसे अपना माल मत ले जाने दो।" वह कहती—"हाय! हाय! इस दीनता का भी कोई अंत है कि मेहनत तुम करो, खेत तुम गोड़ो, जेठ की दोपहरी और जाड़ों की रात तुम पलकों और काया पर उतारो, और उसका लाभ उठाए ज़मींदार—यह डाकू!"

रूपा जमींदार के विरुद्ध जिस प्रकार का विष वमन कर रही थी, वह उससे अनभिज्ञ नहीं था। उसके कानों में एक-एक बात पहुँचती थी, अतएव वह परेशान था। वह इस चिंता में था कि इस रोग का निदान क्या है? यह एक स्त्री का प्रश्न था। आदमी का मुँह बंद करना उसके लिये आसान था और वह इस कला में चतुर भी था, परंतु नारी की जबान वह किस प्रकार बंद करे, इस पाठ को उसने जीवन की पाठशाला में अभी नहीं पढ़ा था।

इसके विपरीत रूपा ने जैसे अपने शेष जीवन का लक्ष्य ही यह निर्धारित कर लिया था। कि वह भरसक अन्याय का प्रतिरोध करेगी। वह दिन-भर इतना

परिश्रम करती, इतना बोलती कि उसका स्वास्थ्य दिन-पर-दिन क्षीण होता जा रहा था। सिर के बाल सफ़ेद हो चले थे, गालों में गड्ढे पड़ने लगे थे, उसकी सुंदर आँखें मलिन हो गई थीं। दिखता था कि वह अपने संकल्प के लिये दृढ़-प्रतिज्ञ थी। वह जो निश्चय करती, उसे पूरा करना भी अपना कर्तव्य मानती। वह उस गाँव के प्रत्येक व्यक्ति को यह साफ़-साफ़ बता देना चाहती थी कि यह समस्या मेरी ही नहीं, तुम्हारी भी है, प्रत्येक मनुष्य की है। जो नर दुर्बल है, उसकी है।

एक दिन की बात है जब रूपा अपने घर का चिराग़ बुझाकर सोने लगी, तो वह पहले के समान अब शंकित तो रहती नहीं थी, इसलिये जल्दी ही उसे नींद आ गई। जाड़ों की रात थी। घोर काली, भयानक। गाँव में चारों ओर सन्नाटा था। रूपा अभी कठिनाई से एक घंटा ही सो पाई होगी कि उसके घर में चार व्यक्ति घुसे। वे सभी नक़ाब-पोश थे—लाठियों से लैस। आते ही उन्होंने रूपा को जगाया। उसके जागने पर तुरंत ही उसके मुँह पर कपड़ा बाँधकर उसकी मुश्क बाँध लीं। एक ने उसे कंधे पर उठा लिया। बाहर दो ऊँट खड़े थे, उनमें से एक पर रूपा को रख तेज़ी से दोनों ऊँटों को जंगल की ओर बढ़ा दिया। रूपा की आँखें खुली थीं परंतु मुँह बंद था और हाथ बँधे थे। वह कुछ कर न सकती थी—बोल नहीं सकती थी। एक व्यक्ति, जो उसके पास बैठा था, उसके हाथ में नंगा छुरा था, जिसे दिखाकर वह कई बार कह चुका था—"बोलने या भागने की चेष्टा न करना, वर्ना यह छुरा पेट में भोंक दिया जायगा।"

---

# चार

जब रूपा अपने घर से ले जाई गई थी, तब घरों में सोए हुए पड़ोसियों को इस बात का आभास जरूर मिला था कि मुहल्ले में कोई आया और गया है। उस समय कुत्ते भी भूँके थे। गाँव के कुछ व्यक्तियों ने अपने खेतों पर पानी देते हुए वे दो ऊँट भी देखे थे। अतएव जब प्रातःकाल रूपा अपने घर में नहीं दीख पड़ी, मकान खुला और रात की बिछी हुई चारपाई अस्त-व्यस्त, मिली तो बरबस ही पड़ोसी और गाँव के अन्य व्यक्तियों को भरोसा हो गया, रूपा जबरन् ले जाई गई है। वह मारी गई है।

परिणाम-स्वरूप गाँववालों ने पुलिस में रिपोर्ट की। तदनंतर ज़मीदार के विरुद्ध जो आवाज़ धीमी-धीमी उठ रही थी, वह अब स्पष्ट और ज़ोर से उठ खड़ी हुई। नारियों द्वारा ज़मींदार कोसा जाने लगा। पुरुषों द्वारा उसके विरुद्ध प्रचार होने लगा। इसी बीच में अपनी बहन का समाचार पाकर रूपा का भाई और पुत्र लखना आया। लखना इतने समय में बड़ा हो गया था। वह शहर में जाकर पढ़ने लगा था। मा के जाने का क्षोभ उसके अंतर में बोल रहा था। जब वह लक्खी से मिला, तो उसने कहा—"मैं तुझे एक दिन भी नहीं भूल सका।"

लक्खी ने कहा—"तुम भूलो या नहीं, पर मैंने सदा ही तुम्हें याद रक्खा।"

वह समय ऐसा न था कि लक्खी आगे भी कुछ कहती, क्योंकि उसने देखा, लखना अपनी मा के लिये अधिक चिंतित था। वह अब पहले के समान हल्का भी नहीं था। वह गंभीर बन गया था। उसकी आँखों में जितना सौंदर्य था, उतना ही भारीपन। तदनुरूप लक्खी भी अब पहली अवस्था में नहीं थी। वह गुलाब की फूटती हुई कली बन चुकी थी। बात करती, तो जैसे होंठों से फूल बखेरती थी। निश्चय ही अब वह पहले के समान थिरकती और मचलती हुई बालिका नहीं रह गई थी।

गाँव के समान लखना और उसके मामा को इस बात का भरोसा था कि रूपा के घर से जाने का कारण ज़मींदार है। वह गई नहीं, ले जाई गई है। ले

जाकर उसका क्या किया गया है ? वह मार दी गई या जीवित है ? यह प्रश्न अवश्य ही उन दोनों मामा-भांजे के मन में फिर रहा था । गाँव के समीप का समस्त जंगल देखा । दूर-दूर तक खोज की, परंतु रूपा का पता नहीं लगा । निकट समय में कोई आभास मिलने का भी आसार नहीं दिखाई पड़ा । इस बीच में पुलिस का थानेदार गाँव में दो-तीन बार आ चुका था । गाँव की चौपाल पर उसने गाँव के व्यक्तियों को एकत्र किया था । उसने इस बात का प्रयत्न किया कि रूपा का पता चले, किंतु सिवा इसके कि जिन लोगों ने ऊँट देखे, कुछ आदमी देखे, इससे आगे और कोई सुराग़ नहीं लगा । आश्चर्य की बात तो यह थी कि दारोग़ा के इस प्रयत्न में स्वयं ज़मींदार भी संलग्न था । वह कहता था, रूपा का पता चले । उसने गाँववालों को बताया कि रूपा से मेरा कोई द्वेष नहीं । उसका सम्मान करना सभी के समान मेरा भी कर्तव्य था ।

फल-स्वरूप, थाने में लिखाई रिपोर्ट और थानेदार का गाँव में दो-तीन बार का दौरा इस घटना पर अपनी सहानुभूति और प्रयत्न की इति-श्री करके शांत हो गया । मानो गाँववालों के रोष पर ठंडा पानी डाल दिया गया हो । उस घटना से जो प्रतिक्रिया होनेवाली थी, वह भी दब गई । लखना अपने मामा के साथ फिर शहर लौट गया । उसकी परीक्षा का समय समीप था । अवसर की बात थी कि लखना एक ऐसे स्कूल में भर्ती हो गया, जो राष्ट्रीय और सामाजिक शिक्षा के लिये प्रसिद्ध था । वह पढ़ने में तेज़ निकला । मास्टरों ने उसके साथ सहानुभूति दिखाई, और वह निःशुल्क उस स्कूल में शिक्षा पाने लगा ।

पढ़ाई में चतुर और स्कूल के खेलों में तेज़ लखना गाँव से लौटकर चिंतित तो रहता ही साथ ही क्लास और लड़कों के बीच में पहले की अपेक्षा गंभीर भी रहने लगा । स्कूल के अध्यापकों और विद्यार्थियों ने सुन लिया था कि लखना का पिता ज़मींदार के ज़ुल्मों द्वारा मारा गया था । अब घर में अकेली रह गई मा का भी शायद वध कर दिया गया हो । इस प्रकार, बरबस ही, लखना अध्यापकों और विद्यार्थियों की सहानुभूति पा गया । निर्धन होकर भी वह पढ़ने और खेलने में प्रवीण था, इसलिये स्कूल का विशिष्ट विद्यार्थी था, परंतु मा की घटना के बाद वह और भी उस स्कूल की दृष्टि में आ गया ।

उस स्कूल में, जो नगर का विशिष्ट स्कूल समझा जाता था, लखना सभी की दृष्टि में आनेवाला विद्यार्थी अवश्य बन गया, लेकिन सचाई यह भी थी कि उसी के सरल और सपाट दिल ने उसी स्कूल में बैठकर समझना आरंभ किया कि दुनिया छोटी नहीं है, और न उसके स्वार्थ ही छोटे हैं। वह देखता कि बालकों के उस विद्यालय में भी वर्ग-भेद था, जाति-भेद था। छोटे-बड़े का भेद तो वहाँ प्रत्यक्ष ही दिखाई देता था। ग़रीब और अमीर का प्रदर्शन भी उसे वहीं देखने को मिला।

लखना का एक अध्यापक, जो उसके क्लास को इतिहास पढ़ाता था, उसकी ओर विशेष रूप से आकर्षित था। लखना की इतिहास में रुचि थी, अतएव वह इतिहास का अध्यापक भी उसे विस्तृत रूप से अपने और पराए देशों का इतिहास बताता। अपने देश का इतिहास बताते हुए उसने लखना से अनेक बार कहा कि हमारा इतिहास पुराना है; किंतु भ्रष्ट कर दिया गया है। चूँकि वह अध्यापक आयु में प्रौढ़ और विचारों से धार्मिक वृत्ति का था, इसलिये वह जब भी इतिहास पर बोलता, तो लगता, सचमुच ही अपनी आत्मा की प्रेरणा से प्रेरित होकर अपने जीवन के एक ध्येय को विस्तृत रूप से बताने के लिये बाध्य होता था। लखना प्रायः उस अध्यापक के घर पहुँच जाता था। गुरु की सेवा करता था, चरण दबाता था। उस अवस्था में ही वह अपने गुरु से सुनता—"सुनो लखना! जीवन का पहला लक्ष्य है चरित्र! इस अमूल्य धन को खोकर व्यक्ति या व्यक्ति, समाज जीवित नहीं रह सकता। चरित्र-हीन व्यक्ति अधिक नहीं चल सकता—समाज का मार्ग-दर्शक नहीं बन सकता।"

प्रायः संध्या-समय जब लखना अपने अध्यापक के घर पहुँचता, तो वह आसन पर बैठे हुए मिलते। उनकी आँख बंद होतीं, और प्राणायाम के लिये साँस खिंची होती। लगभग पचास वर्ष की आयु के उस अध्यापक का शरीर कुंदन के समान तपता जान पड़ता। उस रूप में लखना अध्यापक को देखकर जैसे श्रद्धा से भर जाता। वह एकमन हो उन्हें देखता रहता।

जब अध्यापक संध्या से उठकर लखना को देखता, तो पूछता—"खाना खा आए, लखना?"

लखना कहता—"जी, ख़ा आया।"

"आज क्या खाया?"

लखना बताता—"दाल-रोटी, अथवा रूखी रोटी।"

तब गंभीर हो अध्यापक कहते—"ठीक है, अच्छा है, लखना!" वह बताते—"बेटा, इस देश में ऐसे करोड़ों जन हैं, जिन्हें एक समय भी सूखी रोटियाँ उपलब्ध नहीं होतीं! तन ढाँकने के लिये कपड़ा नहीं और न सिर छिपाने के लिये मकान।"

उस समय लखना कहता—"पर देश तो सबका है। ज़मीन सबकी है।"

सुनकर मास्टर का मन जैसे क्रोध और ईर्ष्या से भर जाता—"हाँ, मेरे बच्चे! देश तो सबका है, मा धरती भी सबकी है, परंतु इसके भागीदार सब नहीं। जिनके पास बल है, वही मालिक हैं। यह देश कुछ व्यक्तियों की मुट्ठी में बंधा है। शेष संसार का भी यही हाल हो गया है। समस्त विश्व का मानव त्रस्त और पीड़ित है।"

लखना इतनी बात सुनकर बरबस ही खो जाता। वह जैसे आगे बढ़ने का रास्ता नहीं पाता।

इतने ही में वह अध्यापक से फिर सुनता—"वत्स, स्वार्थी व्यक्तियों ने इस देश का नाश कर दिया। उज्ज्वल इतिहास भ्रष्ट कर दिया गया। धर्मांध पंडितों द्वारा संस्कृति का रूप विकृत कर दिया गया है।"

एक दिन संध्या के समय जब यही प्रसंग चला, तो लखना के अध्यापक ने अपने स्वर पर ज़ोर देकर कहा—"भारतीय संस्कृति के उत्थान और पतन का इतिहास एक मानव-जीवन का इतिहास है—कर्मण्यता और अकर्मण्यता का इतिहास है।" उन्होंने कहा—"लखना, भारत यदि मानव की परंपरा को ठीक से समझ पाता, तो चिरकाल के समान आज भी नए विश्व का निर्माता बन गया होता। दर्शन और उपनिषदों का ज्ञाता और समर्थक भारत राजनीति के खेल में इसलिये पिछड़ता गया कि धर्म इसके मस्तिष्क पर छा गया। विपुल धन ने भारतीयों को विलासी और प्रमादी बना दिया। सुगम और सुप्राप्य वैभव भारतीयों के लिये शाप बन गया। यह देश एक सूत्र में बहुत कम बंधा

रहा। विदेशियों के हमले हुए, तो भारतीय राजाओं ने ही उन्हें अपने पड़ोसी राजा को पराजित कराने में सहायता प्रदान की।"

लखना ने पूछा—"मास्टरजी, ऐसा क्यों हुआ ?"

सुनते ही मास्टरजी की आँखों में रोष उतर आया। हाथों की मुट्ठियाँ बँध गईं। सिर के बाल खड़े हो गए। वह बोले—"इस पाप का इतिहास बहुत बड़ा है। वही तो भारतीय पतन का लेखा है।" उन्होंने कहा—"वैभव और उन्माद मानव-जीवन में जिस चरित्र-हीनता की काली रेखा खींचते हैं, उसे फाँदकर जागृति की ओर जाना व्यक्ति की सामर्थ्य के बाहर हो जाता है। चरित्र-हीनता का अर्थ ही यह है कि व्यक्ति स्वार्थांध हो, मानव की परंपरागत रूढ़ियों के विरुद्ध हो। और इस मानव की एक रूढ़ि है, एक परंपरा है—'जिओ और जीने दो।' भारतीय संस्कृति का यही एक नारा था। इसी नारे की प्रेरणा पर एक दिन भारत विश्व में अपना प्रमुख स्थान रखता था।"

इतना सुनकर लखना ने मास्टरजी की ओर देखा। जैसे वह प्रस्तुत विषय में ठीक से नहीं पहुँच पाया।

मास्टरजी बोले—"'जियो और जीने दो,' का अर्थ ही यह है कि तुम यदि शक्तिशाली हो, विजेता हो, तो यह न भूलो कि इस पृथ्वी पर बसनेवाला दुर्बल प्राणी भी तुम्हारा भाई है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, तो इसके दुख-दर्द का साझीदार प्रत्येक व्यक्ति है।" वह बोले—"लखनपाल, हमारे देश की यही परंपरा थी। यह देश इसीलिये जीवित था। ज्यों-ज्यों इस भावना का ह्रास होता गया, त्यों-त्यों देश रसातल में पहुँचता गया। विदेशी आए, और विजयी हुए। वह स्वतंत्र देश को दास बनाने में भी समर्थ हुए। वैभव ने भारतीयों का विवेक लूट लिया। और, जब विवेक नहीं रहा, तो फिर हमारे पास क्या रह गया ? विवेक के तेज पर ही मनुष्य-समाज जीवित रहता है—राष्ट्र का निर्माण होता है।"

लखना ने कहा—"मास्टरजी, इस देश के वासी तो वीर थे, फिर भी हार गए ! दास बन गए !"

मास्टरजी बोले—"हाँ, बेटे ! यह भी एक रहस्य की बात है, विवेक-भ्रष्टता के कारण ही नैतिक पतन होता है। जब धर्म हमारे मस्तिष्कों पर छा गया, वैभव

ने जीवन को चारो ओर से घेर लिया, तो यहाँ का शूर-वीर व्यक्ति भी पतित हो गया। तलवार भले ही उसकी कमर में बँधी थी, परंतु सुरा और सुंदरी का उपासक युद्ध में मर जाने की प्रेरणा नहीं पा सका। प्रभुता का अभिमान उसके मार्ग में सदा अवरोधी बना रहा।"

जब एक और दिन लखना मास्टरजी से इसी प्रकार इतिहास पर कुछ सुन रहा था, तो उसने मानो किसी निश्चय पर पहुँचने के अभिप्राय से प्रश्न किया—"मास्टरजी, इस देश के उठने का आधार क्या है?"

मास्टरजी ने तुरंत कह दिया—"रोटी! जीने का अधिकार!"

लखना ने कहा—"रोटी तो सभी पाते हैं। अधिकार भी रखते हैं। आप क्या ग़रीब-अमीर की परिपाटी को मिटा देने की बात कहते हैं?"

मास्टरजी ने उस दिन लखना से एक अच्छी बात प्रश्न के रूप में सुनी, तो वह खिल गए, और प्रसन्न होते हुए भी एकाएक गंभीर होकर बोले—"हाँ, बेटे! इन रेखाओं ने भी हमें दूर कर दिया है, पाप का भागीदार बना दिया है।" उन्होंने तेज़ स्वर में कहा—"जिस धन की बात आम तौर से कही जाती है, उसी के लिये मेरा मत है कि वह एक व्यक्ति की संपत्ति नहीं, समाज की है। और, मनुष्य ही समाज का निर्माता है, यह समाज सभी प्रकार के व्यक्तियों से बना है। जिस भोजन को तुम पाते हो, यह मत भूलो कि उसको प्रस्तुत करने में अनेक व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त हुआ है। किसी ने खेत जोता, किसी ने पानी दिया, किसी ने काटा, किसी ने उस अन्न को पीसकर आटा बनाया। यहाँ तक कि पशुओं तक का सह-योग इस अन्न को उपार्जित करने के लिये उपलब्ध किया गया है। हम उनके भी ऋणी हैं। इसी प्रकार विश्व की प्रत्येक वस्तु—यह विशाल भवन, यह साज-सामान, सभी की चेतना और प्रदत्त की गई भावना का प्रतिबिंब यह भारत है। इस चेतना पर किसी एक या कुछ व्यक्तियों का अधिकार हो, तो भला, यह कैसे निभ सकता है? आज के युग की यही तो एक समस्या है। राजतंत्र का इसीलिये लोप हो रहा है। साम्राज्यवाद हमें कुछ दे नहीं सका। उसने अपना वैभव पूर्ण करने के लिये समाज का शोषण और नागरिकों का वध किया। राजा महाप्रभु बनकर बल के साथ जनता से अपनी पूजा कराता रहा—वह जनता की छाती पर बैठकर मदहोश बना भैरव राग अलापता रहा।"

एकाएक लखना ने प्रश्न किया—"तो मास्टरजी, अब··अब··?"

मास्टरजी ने लाल होकर कहा—"अब तुम्हारा देश उठेगा—विश्व उठेगा। नई चेतना से पूर्ण मानव-समाज अपना अधिकार समझेगा। आत्म सम्मान का गौरव समझेगा।"

लखना ने कहा—"ग़रीबी तो आज भी है, मास्टरजी! शायद पहले से कुछ अधिक। ग़रीब-अमीर का भी प्रश्न है।"

मास्टरजी बोले—"वह तो है, अधिक है।" उन्होंने कहा—"इस शरीर में जब रोग अधिक बढ़ जाता है, शरीर सड़ने लगता है, तो निपुण चिकित्सक उस अंग को काट देता है, ऑपरेशन कर देता है। आज यही तो किया जा रहा है। समस्त संसार का कृषक, मजदूर एक स्वर में चिल्ला रहा है—हमारा अधिकार दो! हम भी आगे बढ़ेंगे, हमें भी रास्ता दो।"

लखना ने कहा—"आप एक दिन कहते थे, अधिकार दिया नहीं, बल्कि लिया जाता है।"

आतुर स्वर में मास्टरजी बोले—"हाँ, रे! अधिकार लिया जाता है, तभी तो आज क्रांति है। देखता नहीं, विश्व जल रहा है। मानव-समाज में असंतोष बढ़ रहा है। क्रूर और मदांध सरमाएदारी के विरुद्ध आंदोलन चल पड़ा है। इस एक सदी में ही अनेक बड़े-बड़े राजा मार दिए गए हैं। वे राज्य मज़दूर और किसानों द्वारा चलाए जा रहे हैं।"

लखना ने आतुर स्वर में कहा—"क्या रूस···चीन···"

मास्टरजी ने कहा—"हाँ, ये भी, और भी! जागीरदार और सरमाएदार शंकित हैं, आतुर हैं, वे समझ चुके हैं कि उठी हुई आँधी उन्हें भी उड़ा सकती है—वह उन्हें भी किसी ऐसे खड्ड में फेंक सकती है, जहाँ तड़पकर प्राण निकलने के सिवा और कुछ नहीं होता। उस दारुण और वीभत्स अंत के अतिरिक्त उनके जीवन का और कोई परिणाम निकलता भी नहीं दिखाई देता।" तदनंतर ही मास्टरजी ने कहा—"और, तुम भी इसके एक प्रमाण हो। तुम्हारे पिता का खून इसका उदाहरण है। मा का लोप हो जाना भी एक ऐसी ही घटना है, जो इतिहास के पन्नों में लिखी दारुण और हृदयस्पर्शी कहानियों की तुलना कर सकती है!

बोलो, ज़मींदार ने अपने स्वार्थ, वैभव और प्रभुता के आगे क्या एक क्षण के लिये भी यह विचार किया कि उसके समान सभी को जीवित रहने का अधिकार है ! सभी अपने मुँह में शब्द रखते हैं । परमात्मा की वाणी है, तो उसका उपयोग करना सभी के लिये सार्थक है। परंतु हाय ! प्रभुता-संपन्न व्यक्ति किसी को बोलने नहीं देता । खाने नहीं देता । जीवन पाने नहीं देता । वही सब कुछ चाहता है। अवस्था यह आ गई है कि जूठा टुकड़ा भी वह इंसान को नहीं खाने देता—कुत्ते को प्रेम से खिलाता है ! इंसान के सामने वह कुत्ते को महत्त्व देता है !"

लखना तड़प गया—"मास्टरजी ! मैं मा और पिता का बदला लूँगा ।"

मास्टरजी और गंभीर हो गए—"हाँ, बेटा ! तुम ज़रूर बदला लेना ।" झटका खाकर उन्होंने लखना को घूरा—"तुम अभी निर्बल हो, बलवान् बनो, कुछ और पढ़ो। विश्व-पथ खुला है, बढ़ सको, तो ज़रूर उस पर आगे बढ़ जाओ। देश तुम्हारी ओर भी देखता है। तुमसे भी कुछ पाना चाहता है । मेरे बच्चे !"

लखना ने मास्टरजी के चरण छू लिए, और अपने अंतर में वेदना तथा विद्रोह का भाव लिए विदा हो गया ।

## [ पाँच ]

मास्टरजी के पास से चलकर लखना सीधा घर नहीं पहुँचा। उस दिन वह अपेक्षाकृत खिन्न और उदास था। मास्टरजी ने जिन-जिन बातों का उससे उल्लेख किया, वह उन्हें सुनकर भी प्रसन्न नहीं हुआ—उसका मन और अधिक गिर गया। फल-स्वरूप लखना पार्क में जा बैठा। उन दिनों उस पार्क में बहुत कम व्यक्ति आते थे। गुलाबी जाड़ा आरंभ हो चला था, फिर भी वहाँ कुछ आदमी घूम रहे थे, कुछ बैठे थे। उनमें नारियाँ और बच्चे भी थे। लखना एक बेंच पर जाकर बैठ गया। उसने देखा, जाड़े का आगमन होते ही लोग गरम स्यूटर-कोट पहनने लगे। उसी समय लखना ने अपनी ओर देखा—फटा और इकहरा कुरता, फटी धोती, पैरों में टूटी चप्पल—अपने उस रूप को देखकर, बरबस ही, लखना का अंतर विद्रोह से भर गया। पार्क के बाहर, राजपथ पर, विद्युत् का प्रकाश हो रहा था। कहीं दूर पर लाऊड स्पीकर बज रहा था। मोटरों के भोंपुओं का स्वर भी बार-बार लखना के कानों में आता। पार्क और उसके बाहर 'चना ज़ोर गरम', 'मलाई की क़ुल्फ़ी' का स्वर भी गूँज रहा था। लखना के पास से कई बार 'तेल-मालिश' करनेवाला एक लड़का निकला। वह देखने में उसके बराबर ही था, किंतु बहुत चुस्त और चालाक मालूम पड़ता था। उसके पैरों में पंप शू, साफ़ पाजामा, चुन्नटदार कुरता, उस पर स्यूटर, मुँह में पान और सिगरेट से उड़ता हुआ फर्र-फर्र धुआँ। इस समय उस लड़के को देख लखना ने, उसके सिर की ज़ुल्फ़ों को लक्ष करके, ऐसा मुँह बनाया, मानो उसने कोई अरुचिकर दृश्य देखा हो। तदनंतर ही वह आँखों के सामने नगरी की उस दीवाली को देख ऐसा बन गया, मानो वह सुखी नहीं, परेशान है—उसका अंतस्तल क्षुब्ध है—उसके जीवन के चारो ओर कोलाहल परिव्याप्त हो गया है।

लखना अभी चौदह वर्ष का हुआ था। इतनी आयु में ही वह अपने हृदय की किस वाणी को सुनने लगा? किस भारी कोलाहल से उसका समस्त मानस

त्रस्त हो गया ? इतना न समझ पाकर भी वह खिन्न और उदास था। उसका मन बार-बार चिल्ला रहा था। वह लखना को अपनी वाणी सुनाने के लिये बाध्य कर रहा था कि नगरी की जिस चकाचौंध में—इस दीवाली के अंतःपट में—जैसा पाप हो रहा है, वह क्या किसी अंधकार में हो सका था ! ऐसा कभी इस पुरुष ने देखा अथवा भोगा था !

उसी समय लखना को याद आया कि एक दिन मास्टरजी ने कहा था, यह समाज का गौरव, यह हाहाकार, नया नहीं,सदियों से चला आ रहा है। इसके अंत काल में ही मानव का खून किया गया है। उसी में निरीह और अपंग मानव चीख रहा है—पुरातन से चला आया यह पाप आज भी बोल रहा है।

बरबस, मानो मन में ऐंठन-सी लेकर, लखना के बदन के रोंगटे खड़े हो गए। उसके शरीर में कंपन पैदा हो गया। उसने अपने पैर समेट लिए, और घुटनों पर मुँह रख दूर तक फैले आकाश में नगर के प्रकाश का लाली भरा आवरण देखने लगा। उस अवस्था में ही हृदय से दुर्बल, एकाकी लखना को मा की याद आई, और उसका हृदय एकाएक उमड़ आया। वह चीख पड़ा—"मा !"

सचमुच ही लखना उद्वेग से भर गया। मा की याद में खोते ही उसकी आँखें भर आईं, और वह रो दिया। आँसू गालों पर ढुलक आए, जैसे वे उसके मन की पीड़ा पुकार-पुकारकर बताने लगे। और, उस स्थिति में आते ही लखना ने करुण स्वर में कहा—"पिता गए, मा भी गई ! हे परमात्मा !"

इतना कहते हुए लखना अतिशय कातर हो गया। वह ऐसे निरालंब पक्षी-सदृश हो गया, जिसका कहीं भी बसेरा नहीं, कोई सहायक नहीं, कोई अपना नहीं। बेचारा निरा दुर्भागी ! उसे पिछले दिन की बात याद हो आई,—वह जब घर से चला था, तो मामी ने नमक डालकर रोटी जला दी थी। लखना जब उन रोटियों को खाने लगा था, तभी मामी ने माथे में बल डाल कर और वाणी में रोष भरकर कहा था—"अरे लखना ! मैंने कहा था, पानी भरकर जाना स्कूल, और तू बैठ गया, रोटी ठूँसने ! हूँ, सोचता होगा, नौकरानी बाप की ! कहे देती हूँ, पानी भरकर, तब जाना स्कूल। बड़ा चला है पढ़कर बनने ! बाप तो जन्म-भर हल जोतता रहा, और बेटा चले हैं बाबूजी बनने !"

मामी के कटु वाक्य सुनकर लखना का अंतर तड़प गया, जैसे वह घायल हो गया हो। हाय! वह कितना असहाय था। कितना विपन्न कि आँखों में रोष लाकर भी मौन रह गया।

मामी ने उसकी आँखें देखीं, तो फिर कहा—"घरता क्या है? क्या मुझे खायगा!"

लखना ने रोटी रख दी और पानी भरने के लिये प्रस्तुत हो गया। घड़ा और डोल उठा लिया, और कुएँ पर चला गया। पानी भरने के बाद भी वह फिर रोटी खाने नहीं बैठा, स्कूल चला गया। जब वह वहाँ पहुँचा, तो इतिहास के घंटे में मास्टरजी ने उसकी ओर देखा। उसे पास बुलाकर, उससे पूछा—"तू उदास क्यों है? क्या हुआ?"

उत्तर में लखना फूटकर रो पड़ा।

यह देख मास्टरजी ने, कक्षा के अन्य बालकों के सामने ही, उसके सिर पर हाथ रक्खा—"मैं समझ गया लखना! तू रो मत। समय को पार कर—परिस्थितियों का सामनाकर। तू पुरुष है न—पुंस्त्व का प्रतिनिधि! तू तो हँसकर ही इस कठिन पथ को तय कर। जा, किताब पढ़, इन लड़कों के सामने अपनी दुर्बलता मत प्रकट कर।"

उस पार्क में बैठा लखना जब अतिशय विह्वल हो गया—जैसे उसके लिये वह फ़ुरसत का समय था, वहाँ उसे कोई देखनेवाला भी न था—तब वह खुलकर रोया, मानो देर से उसकी रोने की इच्छा थी। इसकी आवश्यकता भी थी, क्योंकि जब वह खूब रो लिया, तो स्वतः ही हल्का मस्तिष्क लेकर, आँखें पोंछकर, गिरे आयाचित स्वर में, उन वेदनामयी आँखों से काले हो गए अंतरिक्ष को लक्ष कर, बोला—"हे परमात्मा! क्या मैं इतना दुर्भागी हूँ! इतना कमजोर!" उसने अपने आप कहा—"ऐसा न होता, तो मा-बाप का ही सहारा मुझसे क्यों छिनता! अपने गाँव से कैसे दूर होता! मामा और मामी के अधीन क्यों—हाँ, क्यों!"

लखना कहना चाहता था, इस प्रकार रहने से मरना अच्छा है! यह तो अपमान है, भयानकता है! परंतु वह मौन रह गया। उसी स्थिति में उसे याद

आया कि एक दिन मास्टरजी ने कहा था—"लखना, मेरी एक बात गाँठ में बाँध ले। इस समय तुझे जो कुछ सुनना पड़े, सुन ले। जो कष्ट मिले, उन्हें स्वीकार कर ले। बस, तू पढ़ ले। आगे तुझे जिस रास्ते पर जाना है, इस अवस्था में उसकी तैयारी कर ले।"

परिणाम-स्वरूप, लखना मास्टरजी के उस उद्बोधन को अस्वीकार न कर सका। यद्यपि बीच में कई बार उसके मन में आया कि वह कहीं भी चला जाय—भाग जाय। वह मामा-मामी के आश्रय से ऊब चुका था। वह स्पष्ट अनुभव था कि मामी उसके प्रति इतनी हीन हो गई है कि उसे घी-दूध तो देना दूर, रूखी रोटी देना भी पसंद नहीं करती। कदाचित् वह यह भी नहीं चाहती थी कि लखना उसके घर मे रहे—उसकी छाती पर रहे। हालाँकि लखना देखता था कि मामी अपने बच्चों को दूध देती, दाल-रोटी में घी देती, लेकिन लखना के भाग्य में वह सब पाना तो दूर, वह सीधे भाव से उसे रोटी ही दे दे, यही ग़नीमत। मामी की इतनी भावना पाने के लिये वह घर के सभी काम करता था। घर का पानी भरता, गाय की खिदमत करता और बच्चों को खिलाता था। मामी का एक छोटा बच्चा था, लखना उसके पोतरों का पेशाब-पाखाना भी धोता था। इसी कारण-वश प्रायः लखना भूखा रहता था। वह सप्ताह में दो-तीन बार मास्टर-जी के यहाँ भी खाना खाता था। मास्टरजी की पत्नी चाहती थी कि लखना वहीं रहे, उनका बनकर रहे, परंतु स्वयं मास्टरजी को यह संगत नहीं मालूम पड़ता था। उनका विचार था , लखना की जो सहायता करनी अभीष्ट हो, वह दूर से की जाय। उसके मामा को यह विषय भी प्रिय नहीं लगेगा।

ओस में देर तक बैठे रहने के कारण लखना ठिठुरने लगा था। वह बार-बार काँप उठता था। कुरता कमर से फटा हुआ था, जिसमें से छन-छनकर हवा बदन में लग रही थी। जो थोड़े-बहुत व्यक्ति पार्क में घूम रहे थे, वे प्रायः चले गए थे। 'तेल-मालिश' की आवाज़ लगानेवाला लड़का भी चला गया था। इतना देखकर भी लखना का मन घर जाने को नहीं हो रहा था। उस बेंच पर बैठ-कर उसे शांति मिल रही थी। उसे लग रहा था, इस भरी दुनिया में मेरा अपना कोई नहीं। जिस घर में अपना कोई नहीं, वहाँ जाना व्यर्थ है। मामा और

भाभी का रिश्ता झूठा है। मन में यह भावना आते ही लखना ने स्पष्ट स्वर में कहा—"कोई रिश्ता नहीं। लगता है, इस स्वार्थों-भरी दुनिया में कोई अपना नहीं।"

लखना ने इतना कह तो दिया, लेकिन उसके अंतर में माता-पिता का बदला लेने के लिये जो विद्रोहाग्नि बार-बार चीत्कार कर रही थी, उसी की पुकार में वह एकाएक खोता हुआ बोला—"लखना, तूने बदला न लिया, तो तू कायर कहलाएगा—बुज़दिल कहलाएगा!"

तभी लखना को मास्टरजी की बात याद आ गई। उसके माता-पिता के साथ ज़मींदार ने जो कुछ किया था, उसी प्रसंग को लेकर मास्टरजी ने कहा था—"लखना, पशुओं के समान ही यह आदमी भी बदला लेता है—खूँख्वार भेड़िया बनता है; परंतु मैं कहता हूँ, यह सीधी राह नहीं—मनुष्य का औचित्य भी नहीं। मृत्यु के बदले मृत्यु तो पुरानी परिपाटी है। किंतु आज, वैसी मौत नहीं। एहसान की मौत दे—जानवर को इंसानियत की शिक्षा दे।"

मास्टरजी की इस व्याख्या को याद कर, उस समय, निश्चय ही, लखना का अशांत अंतर्मन एक सुख का अनुभव कर पाया—उसे चैन मिला। अशांत और पीड़ित लखना तनिक उत्साहित और भावनावादी बना, किंतु उसकी भावना का रूप इतना परिष्कृत न था कि वह कुछ सोच और समझ पाता। निदान, वह फिर मौन हो गया।

उसी समय उसे एकाएक लक्खी का ध्यान हो आया। उसकी याद आते ही वह अपने आप में धीर-गंभीर हो बुदबुदाया—"लक्खी भी खूब है! मेरा इतना कहा मान गई कि पढ़ने लगी, और इतना पढ़ गई कि पत्र लिखने लगी—लिखकर अपनी बात कहने लगी। पगली! लिखा है—ऐ लखना मैं तुझे रोज़ स्वप्न में देखती हूँ, तेरी याद में खोई-रहती हूँ।"

इस प्रसंग पर आते ही लखना मानो किसी और दिशा में पहुँच गया। उसने अपने बालों में उँगलियाँ दे लीं; और चीखा—"आह, लक्खी!"

लखना कहना चाहता था, यदि लक्खी मेरी विवशता देखती, मेरी दशा

समझती, तो क्या वह बिना रोए रह जाती ! वह टूटते हुए मन में बोला—"लखी फिर भी मेरी ओर देखती है—मुझे याद करती है—क्यों ?"

निःसंदेह इसका जवाब लखना के पास था। उस रहस्य की परिभाषा वह अभी समझ न सका था।

उसी समय एक व्यक्ति लखना के पास आया। कुछ देर पूर्व वह उसके सामने से निकला था, किंतु अब आते ही उसने लखना से पूछा—"ऐ लड़के, तू लखना है—लखनपाल ?"

लखना ने जैसे चौंककर कहा—"जी, मैं लखनपाल !"

"चल, आ तो। मुझे तुझसे कुछ कहना है—तेरी मा का समाचार। तेरी मा कहाँ है, मुझे यह भी तुझे बता देना है।"

लखना ने सुना, और वह चकित तथा आतुर भाव में, मूक उस अपरिचित व्यक्ति के साथ चल दिया। और नगर की गहनतम बस्ती में प्रविष्ट हुआ।

## [ ७ ]

रात के अँधियारे में जिन व्यक्तियों द्वारा रूपा ठगी गई उसके साथ रात में, कई घंटे ऊँट पर चलकर वह एक ऐसे पहाड़ी दुर्ग में पहुँची जिसकी भयंकरता की कल्पना, रूपा-सरीखी नारी नहीं कर सकती थी। बाहर के खुले विश्व में प्रातः हो आया था, किंतु पहाड़ की उस अभेद्य गुफा में अब भी रात का-सा अँधेरा था, मशालें जल रही थीं। वहाँ जाते ही रूपा के हाथ-पैर खोल दिए गए, मुँह पर बँधा हुआ कपड़ा भी हटा दिया गया। उसे एक एकांत स्थान पर बैठने का आदेश दिया गया।

इस बीच रूपा ने उस स्थान की दुरूहता और दुर्गमता का परिचय पाकर इतना अवश्य समझ लिया कि यह डाकुओं का गढ़ है, और वह अब हिंस्र कामियों के पंजे में है। रूपा ने यह भी देखा, उस गुफा की दीवारों तथा कोनों में बंदूकें और भाले रक्खे हैं। वहाँ जितने भी व्यक्ति उसे देखने को मिले, वे सभी मदांध और क्रूर भेड़िए-सदृश लगते थे। जलती हुई मशाल के समान उनकी आँखें जल रही थीं। रात में उन डाकुओं ने खाना खाया था, इसलिये बनाने-खाने के जूठे बर्तन भी दिखाई दिए। यह सब देखकर रूपा को सहज ही भरोसा हो गया कि ये डाकू हैं।—शिकारी कुत्ते तभी रूपा के मन ने चीत्कार किया—ये विलासी...... ये पिशाच...... ये समाज के लुटेरे—

रूपा अभी कुछ ही देर बैठ पाई थी कि एक भीमकाय, काला, लंगूर-सदृश व्यक्ति वहाँ आया। उसने घूरकर उसे देखा। हाथ से मूछ मरोड़कर उसने कहा—"अच्छा, तो यह है वह औरत !" वह हँसा— "यही विक्रमसिंह के विरुद्ध बग़ावत करती है—हो-हो, ही-ही।" और उसने फिर तीक्ष्ण दृष्टि से रूपा की ओर देखा।

बात सुनकर रूपा को लाने वाले व्यक्तियों में से एक बोला—"हाँ, सरदार ! यही है वह औरत।"

इतना सुनते ही उस हिंस्र व्यक्ति ने, तेज़ स्वर में, आँखें निकालते हुए,

कहा—"इसकी आँखें निकाल लो। इसके टुकड़े-टुकड़े कर इसे जंगल में फेंक दो।" इतना कहकर वह बैठ गया, और रूपा को लक्ष कर बोला—"शेर के सामने बिल्ली नहीं गरजा करती—सुना औरत की बच्ची! क्या नाम है तेरा?"

"रूपा!" कहा, रूपा ने और नैराश्य तथा वेदना-भरी दृष्टि से उस नर-पिशाच-सदृश व्यक्ति की ओर देखा।

सरदार ने फिर अपने स्वर में रोष लाकर कहा—"तो मैं पूछता हूँ, तू ज़मींदार के खिलाफ़ क्यों रहती है? उसने तेरा क्या बिगाड़ा है? अक्ल की अंधी, कहाँ राजा भोज, कहाँ कँगला तेली!"

रूपा मौन थी। वह सामने दीवार पर दृष्टि डाले हुए थी। वह समझ रही थी कि इस पथरीली दीवार के सदृश ही यह डाकू-सरदार भी पत्थर है—भारी है! इससे कुछ भी कहना व्यर्थ है।

परंतु सरदार ने फिर टंकोरा—"बोलती नहीं—बोल।"

रूपा ने दृष्टि फेर सरदार की उन नशीली और भयातुर आँखों पर टिका दी—"तुमने एक ओर की बात सुनी, और यह औरत अपने तेज पंजों में जकड़ ली। कुछ रुपया पा गए हो न उस ज़मींदार से; तुम रुपयों के लालची हो! ईमान और धर्म बेच चुके हो। अब ले आए हो, तो मुझे मार दो, मेरी आँखें फोड़ दो, टुकड़े करके जंगल में डाल दो।"

इतना सुनकर सरदार मुस्कराया, वह भयातुर रूप में मुस्कराया, किंतु तभी जैसे उसने रूपा की निस्सहायता को सचमुच ही अनुभव कर लिया। तुरंत ही अपना स्वर सरल बनाकर बोला—"अच्छा, बता, अपनी बात बता।"

रूपा ने कहा—"तुम डाकू तो हो, पर मैं यह नहीं भूल सकती कि तुम भी किसी एक मा के पैदा किए हो। तुम्हारे पास दिल हो, तो समझो, जमींदार ने इस औरत का सभी कुछ छीन लिया। ग़रीबी पाप है न, उसी पाप के कारण जमींदार विक्रम ने इस औरत का पति मार दिया, और आज .....आज....."वह चीख पड़ी—" रे डाकू-सरदार!"

सरदार जैसे चौंक गया। हत-प्रभ भाव में उसने रूपा को लानेवाले साथियों की ओर दृष्टिपात किया। एक ने कहा—"हाँ, सरदार! गाँव में हमने यही सुना।

दस रुपए लगान के थे इस औरत के आदमी पर। जमींदार ने उसे इतना मारा कि जल्दी ही दम तोड़ गया—इसे विधवा बना गया—बेचारी को अकेली छोड़ गया।"

इतना सुना कि सरदार के चौड़े माथे की नसें फैल गईं। भवें तन गईं। अपने हाथों की मुट्ठियाँ बाँधकर वह बोला—"तो यह हुआ—इतना हुआ—रे दुष्टात्मा!"

साथी ने कहा—"कल हम गाँव में कई आदमियों से मिले थे। उन सभी ने यह कहा—"जमींदार ने इस औरत के साथ अच्छा नहीं किया, जिन तीन नौजवानों ने इसकी तरफ़दारी की, उन्हें भी डाके के झूठे अभियोग में दो-दो साल के लिये जेल-ख़ाने भिजवा दिया गया!"

एकाएक सरदार चीख पड़ा—"ओह! सचमुच!"

उसी समय रूपा बोली—"सरदार, आदमी तुम भी हो, समझती हूँ कि पाप और पुण्य को भी मानते होगे। मैं पूछती हूँ, जब तुम मुझे सताओगे, तो मैं आह भी न भरूँगी—मैं आँखों से आँसू भी न निकालूँगी। बस, मेरा यही दोष है कि मैं गाँव के सामने जमींदार के पापों का बखान करती हूँ। जब पति को याद करती हूँ, तो रो भी देती हूँ। तुम डाकू तो हो, पर आदमी-रूप में मेरे भाई हो। बताओ, एक नारी की करुण पुकार तुम्हारे कानों में नहीं समा सकती—वह तुम्हारे हृदय को सुनाई नहीं दे सकती?"

एकाएक गंभीर स्वर में सरदार ने कहा—"बेशक, तुम कहो।"

"तो कहूँ किससे? क्या डाकू से—आदमी-रूप में भेड़िए से? ऐसे आदमी से, जो रुपया लूटता है, औरत की अस्मत लूटता है?" तभी रूपा करुण भाव में चीख पड़ी—"आह! भाग्य मेरा कि मैं आदमियों के रूप में बने हुए भेड़ियों के जाल में फँसी हूँ। मैं अपनी दुनिया लुटा चुकी हूँ। बताओ, तुम्हारे कोई बहन नहीं, मा नहीं! अरे, नराधम! तू भी सुन, क्रूर जमींदार ने मेरी जवानी पर राख डाल दी है। मेरी सुंदर काया पति की चिता में जल चुकी है। मेरा इकलौता बच्चा दूसरों के यहाँ टुकड़ों पर पड़ा है। विक्रम ने मेरी ज़िंदगी पर लात मार दी है। और, तुम भी हो कि उससे कुछ रुपए पा गए हो, तो एक निराश्रित औरत

का जीवन नष्ट करने पर तुल गए हो ! एक बच्चे से उसकी मा छीन रहे हो ! और, कहते हो कि मैं मर्द हूँ—बहादुर हूँ !" रूपा के आँसू गालों पर बह आए। क्षोभ और करुणा उसकी आँखों में आ मिले। उसके क्रोध-पूर्ण गौर-मुँख पर भले ही पीड़ा बनकर फैले, परंतु प्रभावकारी थे। उन आँसुओं को बहाते हुए ही रूपा फिर निःशक्त भाव में बोली—"अच्छा भाई ! तुम भी मेरे दुश्मन निकले। तुम्हारे आदमी बहादुर निकले, जो एक सोती हुई औरत को बाँधकर ले आए—इस प्रकार एक अबला को ले आए।"

उसी समय सरदार के एक साथी ने तेज़ स्वर में कहा—"औरत !"

सरदार ने उसे रोका—"नहीं-नहीं, इसे कहने दो—इसे अपने मन की पीड़ा उगलने दो। इसके आँसू बता रहे हैं, यह दुःखी है। जमींदार की बेरहमी इसके रास्ते में खड़ी है।" और उसने रूपा की ओर देखकर कहा—"हाँ, रूपादेवी, बहन ! तू कह अपनी बात, मैं सुनूँगा। मैं समझूँगा कि दर्द की क़ीमत क्या है।"

रूपा ने कहा—"तुमसे क्या कहूँ !" जब भगवान् नहीं सुनता, तो आदमी से क्या कहूँ ! और, तुम इंसानियत के दुश्मन, तुम अपनी जिह्वा की प्यास बुझाने के लिये जाने क्या से क्या करते हो !" कहते हुए रूपा का स्वर गिर गया—"काश, तुम भी समझ पाते कि तुम्हारे हृदय में भी परमात्मा बोलता है। वह तुम्हें धिक्कारता है, वह तुमसे कहता है, तुम्हें सुनाता है कि निरीह की हत्या करना पाप है—लूट करना गुनाह !" वह बोली—"कितना अच्छा होता कि तुम मेरे सच्चे भाई बन जाते, मैं तुम पर गर्व करती। मैं तुम्हारे ही मुँह से सुन पाती—मैं भी आदमी हूँ, मैं भी इंसान और इंसानियत को मानता हूँ, मैं भी ज़िंदगी का दर्द समझता हूँ।"

इसी बीच में सरदार खड़ा हो गया। उसने अपने दोनो हाथ पीछे बाँध लिए, माथे में बल पड़े थे, भवें चढ़ी थीं। वह घूमने लगा। रूपा के पास ही चलने लगा।

रूपा कहती जा रही थी—"सरदार, कौन-सी ऐसी मा होगी, जो अपने सलोने बच्चे को छाती से दूर रक्खे ! मेरी ग़रीबी ने ही मुझे विवश किया, और मैंने अपने बच्चे को उसके मामा के साथ भेज दिया। मैं जानती हूँ कि मेरा

बच्चा वहाँ सुखी नहीं, परंतु क्या करूँ, जमींदार मेरे पीछे हाथ धोकर पड़ा है। मैं जानती हूँ, एक दिन वह मेरे बच्चे को भी समाप्त कर सकता है। और, आज तो मैं साफ़ ही समझ गई हूँ कि जब वह तुम-सरीखे बलवान् डाकू से मिलकर मुझे अपने रास्ते से दूर कर देने की बात सोच सकता है, मेरा ख़ून पीने के लिये तरस सकता है, तो वह···वह···"

एकाएक सरदार ने अपना सिर थामकर कहा—"ओह ! उफ़ !"

रूपा बोली—"भाई ! मैं तुम्हारे मन को कष्ट देने नहीं आई। तुमने बाँधकर मुझे बुला लिया है, तो मुझे मार दो। तुम्हें कुछ रुपए मिलेंगे, उनसे तुम्हारी शराब आएगी, गोश्त आएगा। हाँ, तुम मुझे मार दो।"

बरबस ही सरदार ने उसके सामने खड़े होकर कहा—"रूपा, मेरी बहन !"

रूपा मुस्किराई—"तुम्हारी बहन !" वह बोली—"और बहन को ही तुम मार देने की बात सोचते हो—उफ़ !" रूपा की आँखों में बल पड़ गए। वे आँखें फैल गईं—"हाँ, तुम सभी कुछ कर सकते हो, भाई ! तुम डाकू हो न, अपनी मा और बहन भी मार सकते हो; तुम मुफ़्त की दौलत पाकर जाने कब से इस ज़िंदगी को भूल चुके हो। तुम अकस्मात् ही अपने हृदय से निकाल चुके हो कि भावना पर ही इस ज़िंदगी का कारवाँ चलता है। जिस नाव में तुम बैठे हो, वह तो कभी डूब सकती है। तुम्हें मार सकती है। ज़िंदगी-रूपी यह नदी बहुत गहरी है। यह न तुम पर दया करती है, न मुझ पर। मैं कहती हूँ, तुम्हारे ये हथियार, ये हाथी-सरीखे शरीर अगर निर्बल, ग़रीबों की सहायता में लग जाते, तो जाने कितनों का आशीष पा गए होते; पर तुमने और तुम्हारे साथियों ने इंसान बनकर भी जानवर का काम किया—ख़ूँख़्वार जानवर से अधिक अपने को सिद्ध कर दिया। इंसानियत की डगर को भुला दिया। हाय ! यह तुमने क्या किया ! निर्बलों की बद्दुआ लेकर इस इंसान की ज़िंदगी को कलंकित कर लिया। किसी मा ने पैदा किया था सुगंध देने के लिये, पर तुमने तो बदबू फैला दी। कलंक की स्याही से अपना मुंह पोत लिया।"

सरदार चिल्लाया—"रूपा !"

रूपा ने फिर भी अपने स्वर में धीरता लाकर कहा—"मैं रूपा हूँ, तुम्हारी

बहन हूँ। मैं नारी हूँ। मैं पवित्र हूँ। मैं मौत को अपने सामने देखती हूँ, तुम मुझे मार दो, परंतु तुम मुझे बहन कहते हो, तो मैं अपना कर्तव्य समझती हूँ, मैं तुम्हें प्रेरणा देती हूँ, इंसान बने हो, तो इंसानों की दुआ पाओ। तुम अपनी ज़िंदगी को ग़रीबों की झोली में डाल दो, सरदार भैया!"

सरदार ने रूपा की ओर देखा, वह धीरे-धीरे पैर बढ़ाकर वहाँ से चला गया। जब गया, तो एक साथी से कह गया—"इस रूपा को आराम देना। इसे शांति देना।"

सरदार चला गया। साथी ने रूपा के पास आकर कहा—"वह दूसरी कोठरी है, वहाँ आराम कर। तू शांत बन।" और, तभी वह रूपा को सुनाता हुआ दूसरे साथी को लक्ष करके बोला—"सच, इस रूपा ने सरदार को परेशान कर दिया। वह तो घोड़े पर चढ़ा, और चला गया।"

साथी ने कहा—"सरदार अभी लौट आएगा। रात के डाके का माल बाँटेगा।"

रूपा वहाँ से उठी, और कोठरी में चली गई। वह पड़ गई। वह रात-भर की जगी थी, आँखों में नींद थी, परंतु जिस स्थान पर थी, उसके चारो ओर जिस प्रकार की आशंकाएँ डोल रही थीं, वे क्या उसे सोने दे सकती थीं? निदान, रूपा ज़मीन पर बिछी हुई चटाई पर पड़कर भी जाग रही थी। उसकी आँखें खुली थीं। वह डाकुओं का जीवन-दर्शन पाकर बरबस ही काँप-काँप जाती। उसके मन में बार-बार हिलोर उठती, जैसे आत्मा से चीख़ उठती कि हाय! यह भी एक जीवन है! बिलकुल अकेला! बिलकुल अज्ञात! वह कह रही थी—"इन डाकुओं की यह भी कैसी अज्ञानता है कि जहाँ भी, जब भी, मन में आए डाका जा डालें, जागते और सोते हुए आदमियों की छाती पर जा चढ़ें, उनकी ज़िंदगी की कमाई कुछ ही क्षणों में लूट लाएँ, सामाजिक प्राणी का वध कर दें। ऐ नराधम! ऐ शिकारी कुत्ते!"

उसी समय रूपा के कान खड़े हो गए। बाहर बैठे हुए डाकू आपस में बात कर रहे थे। वे जैसे रात में डाले गए डाके का उल्लेख कर रहे थे, और कह रहे थे—"वह लाला इतना गिड़गिड़ाया-चीखा, मगर सरदार ने कुछ भी ध्यान नहीं

दिया। सरदार ने फेंटे से छुरा निकाला, और उसके पेट में घुसेड़ दिया!" डाकू बोला—"उस जवान औरत के कानों में जो बुंदे पड़े थे, उनमें क़ीमती हीरे लगे थे। मैं उस औरत की ख़ूबसूरती और कम-उम्र देखकर झिझका था कि सरदार ने तड़ से मेरे मुँह पर तमाचा मार दिया, और उसी ग़ुस्से में उस औरत की गर्दन दबोचकर उन बुंदों को खींच लिया। औरत चीख़ी-चिल्लाई, परंतु क्या मजाल कि सरदार तनिक भी टस-से-मस हुआ हो।"

उनमें से दूसरा बोला—"लाला का जवान लड़का भी ख़ूबसूरत था। शायद वह सुंदरी उसी की औरत थी। कम-उम्र—कमसिन।"

तभी एक डाकू ने ज़ोर से कहा—"सब बदमाश हैं—इंसान का ख़ून चूसते हैं। डाकू का संसकार ही वे करते हैं।"

सुनकर क्षण-भर उस मंडली में सन्नाटा रहा, फिर एक ने कहा—"रात का छापा अच्छा रहा। बड़ा माल मिला। दो ऊँटों पर लादा गया।"

दूसरा बोला—"पुराना घर था। पुश्तैनी पैसा जमा था।"

तभी तीसरे ने कहा—"हरामज़ादे! जनता को लूटते हैं, और अपना घर भरते हैं। ये लाला लोग अपना ही पेट मोटा करना जानते हैं।"

एक ने कहा—"ज़हरीले साँप हैं।"

पानी के मगर! खायँ और डकार न लें।"

"इंसान के दुश्मन! इस ज़मीन के नर-कीट!"

"नर-कीट!" एक खिलखिला उठा—"वाह पट्ठे!" वह बोला—"अरे, ये पैसेवाले ऐसे हैं कि डंक मारें, और पानी न पीने दें!"

दूसरे ने कहा—"सचमुच! तभी ग़रीबी है, लोग मुहताज हैं।"

तीसरा—"तब चोर और डाकू क्यों बनते हैं लोग?"

उसी समय दूर बैठे हुए एक व्यक्ति ने कहा—"हम सभी जन्म से डाकू नहीं थे। रोटी मिलती, तो भले बने रहते; दुनिया का न्याय पाते, तो इस रास्ते पर आकर अन्याय न करते।"

"बेशक! बेशक!" उनमें से एक बोला—"यह डाका डालना भी क्या कम परेशानी है। मौत सिर पर खेलती है। सिर पर क़फ़न बाँधकर इस रास्ते पर

चलना पड़ता है। कहने को डाकू बुरा है, पर रोज ही यह मौत से दो-दो हाथ करता है।"

दूसरे डाकू ने कहा—"रात सरदार अधिक गुस्से में था। बेरहमी हर बोल में गूँजती थी। हम सभी को कई-कई बार फटकार दिया था।"

तीसरे ने कहा—"भाई, वह वक्त ही ऐसा था। पास में थाना था, देर करने का मतलब ही यह कि मौत को निमंत्रण दे दिया जाता।"

पहले व्यक्ति ने कहा—"पर आज वह औरत आई है—रूपा, बहुत बेवकूफ दीखती है। टेठोक-ठोक सरदार से जाने क्या-क्या कह गई।"

उससे कहा गया—"यह औरत तनिक भी गुनहगार नहीं। सरदार के मन में भी यह बात आ गई है। कल इस काम के लिये भी चार आदमी तैनात किए थे। दो ऊँट गए थे। रास्ता खराब था, मंज़िल दूर। मुझसे कहा था, जब मैं नहीं गया, तो सरदार ने मेरी जगह चेता को भेज दिया था।"

पहले ने कहा—"सुनता हूं, जमींदार विक्रम ने इस काम के लिये सरदार को बुलाया था। पाँच हज़ार रुपए भी दिए थे।"

तभी वे एकाएक मौन हो गए। वहाँ सरदार के आने की आहट सुन पड़ी। सरदार ने उन्हें लक्ष्य कर कहा—"रात का धन बाँट लो।

एक व्यक्ति ने कहा—"तुम्हीं दे दो, सरदार!"

सरदार बोला—"मेरा काम तुम भी किया करो। जितना जिसके मन आए, ले ले। मेरा हिस्सा अलग रख दो।" कहते हुए सरदार उस बड़े हॉल में घूमने लगा। उसी अवस्था में बोला—"आज तुमने भी उस औरत की बात सुनी—रूपा की?"

"सुनी, सरदार!" एक डाकू ने कहा—"औरत बहादुर है, सच्ची है!"

सरदार ने एक जगह खड़े होकर कहा—"मेरे घर में आकर भी उसने मेरे मुँह पर तमाचा मारा। उसने मुझे ललकारा—मैं पापी हूँ, मैं लुटेरा हूँ, मैं इंसानों की बस्ती में ज़हरीला कीड़ा हूँ।"

वहीं बैठे हुए एक दूसरे डाकू ने कहा—"सरदार, बात तो ठीक थी। हम मानें या नहीं, औरत ने हमारी असलियत की पोल खोल दी।"

सरदार बोला—"आज इस रूपा की बात सुनकर मुझे अपनी बहन की याद आ गई। वह भी जमींदार के द्वारा सताई गई थी। फिर मार दी गई थी।"

एक व्यक्ति ने कहा—"तुम्हारी बहन......!"

सरदार कठोर स्वर में बोला—"हाँ, मेरी बहन! फिर मा! मैं अकेला दुनिया के समुद्र में जाने कहाँ-से-कहाँ बहता रहा। कभी डूबने लगा, कभी तैरने। मैं खुद नहीं जानता कि किस तरह ख़ूँख़्वार डाकू बन गया।"

एक डाकू ने अपने हाथ मलते हुए कहा—"इस इंसान की जिंदगी का रहस्य नहीं समझा जाता। आसानी से इंसान का मर्म देखा भी नहीं जाता।"

और तभी सरदार ने ऊपर छत की ओर देखते हुए कहा—"आज समझा हूँ कि इस पृथ्वी पर खड़ा हुआ बोझीला हूँ। इंसानों के लिये पाप हूँ।" इतना कहा, और वह वहाँ से चलकर उस कोठरी के द्वार पर जा पहुँचा, जहाँ रूपा थी। वह बैठी थी। सरदार को देख, बरबस, उसकी आँखों में दया और होंठों पर मधुर मुस्कान छलछला आई थी।

सरदार ने कहा—"बहन!"

गद्‌गद भाव में रूपा बोल पड़ी—"भैया!"

# [ सात ]

पहाड़ की चट्टान के नीचे उस कोठरी के दरवाजे पर खड़े होकर डाकू-सरदार ने कहा—"रूपादेवी, मैं झूठ नहीं बोलूंगा, जमींदार ने तुझे मार देने के लिये मुझे पांच हजार रुपए दिए, लेकिन अब तेरी बात सुनकर मैं, सोचता हूँ, सचमुच ही मैंने अच्छा नहीं किया।"

रूपा ने सुना। आज वह एक डाकू की बातें सुन रही थी, उसके सामने बैठी। और, वह डाकू उसकी दृष्टि में कितना भयानक कितना पाषाण-हृदय है, इसका परिचय भी कुछ देर पूर्व बाहर बैठे हुए उसके साथियों से पा गई थी, किंतु अपनी इच्छा और वासना का दास बना वह डाकू-सरदार अब जाने किस भावना में बह गया। जाने उसके हृदय का कौन-सा कंगूरा गिर गया कि वह स्वतः ही विचलित हो उठा—रूपा की सुनी हुई कहानी की वेदना से भर गया।

उसी समय सरदार ने फिर कहा—"रूपादेवी ! आज से बीस वर्ष पूर्व मेरे साथ भी ऐसा ही हुआ था। मेरी मा और बहन को जमींदार ने मरवा दिया था। मैं जब डाकू-दल में मिला था, तब मेरे सामने प्रश्न था, मन में उत्साह था कि जमींदार और सरमाएदारी के जुल्मों का अंत करूँगा—मैं उस पथरीली चट्टान में टक्कर मारूँगा—मैं उसे तोड़ दूंगा।"

रूपा ने कहा—"लेकिन तुमने उस बात को भुला दिया। एक अच्छा उद्देश्य तुम्हारे मन में आया था, वह मुफ़्त में पाए गए धन की चकाचौंध में दबा दिया गया।

सरदार ने कहा—"हाँ, यही हो गया। मैंने यही किया।"

रूपा ने कहा—"और, अब तुम इतने विलासी हो कि धन पाते हो—तुम पराई औरत...."

एकाएक चंचल बनकर, बीच में ही, रूपा की बात रोकते हुए, सरदार बोला—"लोग अँधेरे में खोते हैं, मैं प्रकाश में खो गया, रूपादेवी !"

रूपा ने कहा—"तुम्हें प्रकाश नहीं मिला। वह तुमने नहीं देखा।"

सरदार बोला—"धन का प्रकाश—यह उजेला…"

रूपा मुस्किरा दी—"धन तो अँधेरा है सरदार भैया ! आदमी को धोखा देता है—रास्ते से हटाता है।"

इतना सुन सरदार मौन हो गया, जैसे वह किसी समस्या में फँस गया हो। वह अपने आप में खो गया।

उसी समय एक स्त्री वहाँ आई। कुछ घंटे पूर्व, जब रूपा वहाँ आई थी, वह औरत सोते से जगकर अँगड़ाई ले रही थी, किंतु इस समय वह अपना शृंगार करके आई थी। उसके बाल कढ़े थे, लाली लगे होठ मुस्किरा रहे थे। परंपरागत अपने स्वभाव के अनुरूप उसने आते ही सरदार का हाथ पकड़ा, और कहा—"वे रात के बुंदे—वे हीरे-जड़े…"

सुनते ही सरदार बरबस झुँझला गया—"मैं नहीं जानता। मुझे नहीं पता। तू जा।"

किंतु उस स्त्री ने फिर थिरकन-सी लेते हुए कहा—"हूँ ! मैं कहे देती हूँ, वे बुंदे लें लूँगी। उन्हें मैं देख और पसंद कर चुकी हूँ।"

सरदार ने सुना उत्तर नहीं दिया। फिर रूपा की ओर अपनी दृष्टि डाली।

रूपा ने कहा— "मैंने सुना है, वे बुंदे तुमने जिस औरत के कानों को चीरकर लिए, वह बेचारी अभी नई उम्र की थी। वह कितना ही चीखी-चिल्लाई। तुमने उसका युवक पति भी मार दिया--हाय ! तुमने कितना बड़ा पाप किया रे, सरदार भैया !" कहते हुए रूपा का स्वर अवरुद्ध हो गया, आँखें भर आईं। जिस पीड़ा का भाव सरदार को उन आँखों में दीख पड़ा, वह क्या पहले कभी देखने को मिला था ? रूपा ने फिर कहा—"हाय रे, मनुष्य ! अपने स्वार्थ के लिये जाने कितने पाप करता है, क़साई बनता हैं। राम-राम ! सुनती हूँ, तो मन काँपता है।" कहते हुए उसने सरदार को घूरकर देखा—"मुझे तो तुम्हें देखकर डर लगता है। मैं तुम्हारे काले रूप से नहीं डरती। इस लंबे-चौड़े शरीर को देखकर भी अचरज नहीं करती, बल्कि यह देख-सुनकर दुःखी हूँ कि परमात्मा की इस लीला में, अपने इस सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक शरीर-रूपी

खोल में, तुमने कितनी दुर्गंध भर ली है, दया की जगह क्रूरता पा ली है, पालक की जगह घातक वृत्ति अपनाई है। जाने कितने निरीह तुमने मार दिए, और लूट लिए। लो, पाओ मुझे, मार दो ! परमात्मा ने तुम्हें हाथ मजबूत दिए हैं न; तो मेरा गला घोट दो। तुम मुझे भी बता दो, मुझसे भी कह दो कि आदमी अपने स्वार्थ के लिये क्या कुछ नहीं कर सकता, कितना बड़ा अन्याय संपादित नहीं कर सकता !" इतना कहते ही रूपा की आँखें भर आईं, और गालों पर दो अश्रु ढुलक आए। उसी अवस्था में, तड़ित् भाव से, उसने फिर कहा—"अब तक सुनती आई थी कि साँप क्रोध-वश आदमी को काटता है, उस पर अपना विष आरोपित करता है; परंतु तुम्हें देखकर तो मैं समझी हूँ कि आदमी स्वभाव-वश दूसरे का खून करता है। जैसे बिल्ली चूहे पर झपटती है—शेर अपने शिकार पर ! ओह ! आदमी इतना भयानक है कि अपनी इच्छा का पेट भरने के लिये आदमी का ही भोजन करता है, उसे खाता है, उसकी हड्डियाँ चबाता है, रुधिर पीता है। ज़मींदार ने मेरा पति खाया, तुमने रुपया लेकर अपने आदमियों से यहाँ तक उठवा मँगाया—भला, क्यों ? किसलिये ? केवल स्वार्थ का पेट भरने के लिये न ? और, फिर भी कहते हो तुम कि मैं हूँ इंसान—भगवान् का प्रतिनिधि। हाय री तुम्हारी विडंबना !"

सरदार को मौन देखकर वह पास खड़ी हुई स्त्री जैसे अचंभित हो गई। वह कभी रूपा को देखती, कभी सरदार को। वह जैसे कुछ समझ नहीं सकी थी, उस रहस्य की गहराई में उतर रही थी।

किंतु रूपा ने जब उसकी ओर देखा, तो अपने होठों पर रूखी और विषैली भावना लाकर बोली—"अरी औरत, तू ! तू !" वह बोली—"एक का सोहाग छिना, और तूने अपना बनाना पसंद किया। जिस औरत के कान फाड़कर बुंदे लाए गए हैं, तू उन्हीं से अपना शृंगार करेगी—इस काले, लंगूर-सदृश, इंसान की शक्ल में भेड़िए को रिझाना पसंद करेगी। थू है तुझ पर, लानत है तेरी इस औरत-जात पर ! तू भी इस आदमी के साथ बह चली है—कलमुँही ! तू भी आदमी की दीनता में खो गई है। भाग यहाँ से चुड़ैल !"

सरदार ने कहा—"मोती, तू जाकर बैठ।"

मोती ने कहा—"सरदार, यह कौन है ? क्या पगली है ? इसका दिमाग़ सही है ?"

सरदार ने कठोर स्वर में फिर कहा—"तू जा ! जा !"

किंतु रूपा बोली—"हाँ री ! मैं पगली हूँ। भगवान् ने मुझे पगली बना दिया है, इसीलिये तो मैं इस सरदार के हाथों में मरने के लिये आ गई हूँ।" कहते हुए रूपा ने अपना मुँह घुटनों पर रख लिया, और फूटकर रोना आरंभ कर दिया।

यह देख सरदार बरबस ही चंचल बन गया। वह कोठरी के अंदर हो गया। ठीक रूपा के सामने बैठ उसने उसका हाथ पकड़ लिया, और कहा—"रूपा बहन ! मेरी बात सुन, सुन।"

रूपा ने अपनी लाल आँखें ऊपर उठाईं। उनमें वेदना और ज्वाला का विचित्र सम्मिश्रण था। सहसा सरदार के मुँह पर तड़ से तमाचा मारती हुई बोली—"रे जानवर ! तू भी मुझे खा ले ! मार दे !"

अपार अचरज की बात थी कि वह सरदार, जिसने अपने हाथों से पचासों इंसानों का खून कर दिया—जिसके लिये मानव तिनका-सदृश ही था, उस दुर्बल, निस्सहाय नारी के हाथों अपने मुँह पर तमाचा खाकर भी मौन ही रहा—निरा जड़ ! तमाचा खाकर वह तनिक चौंका तो, भवों पर बल भी आए, अप्रत्याशित रूप से रूपा का हाथ पकड़कर बोला—"बहन, तू दूसरे गाल पर भी मार दे। मार !"

रूपा क्रोध में आकर उस खूँख्वार डाकू के मुँह पर तमाचा मार तो बैठी, परंतु तुरंत ही वह जैसे आसमान से पृथ्वी पर गिर पड़ी। वह सहम गई, कातर बन गई। जब सरदार ने तमाचा खाकर भी प्रतिरोध नहीं किया—तनिक भी रोष नहीं दिखाया, अपितु मार खाने के लिये दूसरा गाल कर दिया, रूपा का मानस खंड-खंड होकर आग में पड़ते हुए मोम के समान पिघल गया। उसने स्वतः ही सरदार का हाथ पकड़ लिया—"भैया !"

"बहन !"

रूपा ने कहा—"मैंने अच्छा नहीं किया, भैया ! मैंने यह कैसा

भयानक खेल खेला। जैसे अपने जीवन के साथ ही उपहास किया—अपने आपको आग की भट्ठी में झोंक दिया।"

सुनकर सरदार मुस्किराया। उसने रूपा का हाथ सहलाया, और कहा—"न, रूपा बहन! सच, तुझे यही करना था। तुझे यही शोभता था। बनावट क्या निभने वाली थी!" और उसने कोठरी के द्वार की ओर देखते हुए कहा—"परमात्मा को यही मंजर था। मेरा भला इसी प्रकार होना था। अच्छा ही हुआ, इस समय मेरा कोई साथी यहाँ नहीं था, मोती भी नहीं थी।"

रूपा ने पूछा—"यह मोती कौन है? क्या यहीं रहती है?"

सरदार ने कहा—"मोती वेश्या है—बाजार की औरत। कभी-कभी यहाँ आती है। दस-पाँच दिन रह जाती है, कुछ ले जाती है।"

रूपा ने मर्माहत स्वर में कहा—"कुछ लेकर यह औरत जो कुछ दे जाती है, वह बड़ी चीज है। अपनी लाज बेच जाती है, बेहया बनकर जाती है—निर्लज्ज औरत!"

"औरत बाजार में तभी जाकर बैठती है, जब अपनी आँखों की लाज उतार फेंकती है।"

"और, तुम भी यही पसंद करते हो! औरत से यही चाहते हो!"

सरदार ने सुना, और सिर झुकाए बैठा रहा।

"तुम मुझे बहन कह चुके हो, अब में अकेला रह मुझसे क्या चाहते हो? मुझे क़द क्यों किए हो?"

आतुरता से सरदार बोला—"न, बहन! तुम क़ैद में नहीं हो। अब तो तुम इस सरदार को ही अपनी क़द में ले चुकी हो। इसकी बहन बन चुकी हो। मेरी भी एक बहन थी, किंतु अब मैं अकेला रह गया, और इस रास्ते पर आ गया।"

रूपा ने कहा—"बहन और भाई का संबंध बहुत बड़ा है, सरदार! इसे समझ लो। तुम मुझे अपनाते हो, तो यह समझ लो, इस बहन के जितने काम हैं, वे सभी तुम्हें करने हैं। कल जरूरत पड़ी, तो इस बहन के लिये अपने प्राण…"

सरदार बोला—"मैं तेरे लिये अपने प्राण दे दूँगा। रूपा! बहन-भाई बना हूँ,

तो सहायक भी बनूँगा। सुबह तू आई, तेरी बात सुनी, तो मैं परेशान हुआ था। तुरंत ही बाहर चला गया था। मैं यहाँ से दूर गया था। एक पुराने देवी के मंदिर में पहुँच गया था। देवी के सामने मैं प्रतिज्ञा कर आया हूँ कि रूपा को बहन बनाऊँगा। मैं अपने जिस कर्तव्य को भूल गया था, यों दूसरी हवा में बह गया था, तुझे पाकर मैं आज उसी को तो याद कर सका हूँ। मैं जीवन में फिर एक बार देख सका हूँ कि मा मर रही है, तड़प रही है, चिल्ला रही है, मुझे बुला रही है—'अरे, इधर आ, मेरे बच्चे·········मेरे प्राण!' और, जब उसका प्राण निकलने लगा, तो कहा उसने—'मेरा बदला लेना। ज़मींदार को बताना कि दुर्बल को सताना भी पाप है—अपने लिए नरक का द्वार खोलना।" कहते-कहते सचमुच ही, सरदार काँप उठा। अब वह डाकू नहीं, एक साधारण व्यक्ति रह गया था। उसका स्वर अवरुद्ध हो गया। और, उसने रूपा की उन करुणामयी आँखों के किनारे पर टिककर कहा—"रूपा देवी, सच कहता हूँ, मा की तरह ही मेरी बहन मालती का भी अंत हुआ था। ज़मींदार के लोग उसे उठा ले गए थे। वह जवान जो थी। उसे भ्रष्ट किया, और मारकर खेत में डाल गए! ······मेरी बहन!" सरदार की आँखें भर आईं। उसने घुटनों में मुँह रख लिया, और फूट-फूटकर रो दिया।

कातर स्वर में रूपा ने कहा—"भैया!"

सरदार बोला—"मुझे रोने दो, बहन! मैं आज से बीस वर्ष पूर्व ही रोया था, तब से आज रोया हूँ। उस समय बहन की लाश देखकर मैंने प्रतिज्ञा की थी कि मैं बदला लूँगा, ज़ुल्म से लड़ूँगा।"

रूपा मुस्किरा दी—"पर तुम भूल गए, भैया! तुम रास्ते से दूर हो गए, ग़लत साथियों में बैठ गए।"

सरदार ने कहा—"हाँ, यही बात थी। मैं चोर और डाकुओं में मिल गया। इस जगह का सरदार पहले एक और डाकू था। वह बहुत बहादुर और ख़ूँख़्वार था। वह जब बूढ़ा हुआ, तो मुझे यह जगह सौंप दी। तब से मैं हूँ। अभी तक पुलिस से बचा हूँ। वह मेरे पीछे है। इनाम निकले हैं। पर यह पहाड़ी गुफा क्या किसी को आने देती है! यहाँ का रास्ता दुर्गम है। मेरे आदमी सभी ओर रहते हैं।"

रूपा ने कहा—"आदमी बदलता है, पर साधना करनी पड़ती है। बहाव में तो सभी बहते हैं, उल्टे बहने में शक्ति लगानी पड़ती है।"

प्रस्थान करते हुए सरदार ने हँस कर कहा—"अच्छा, अच्छा, यही होगा। तेरा कहना ही होगा।"

जब लखना पार्क में बैठा था, एक आदमी उसे मा से मिला देने को कहकर ले गया, वह यही डाकू-सरदार था। वह रूप बदलकर, लखना को खोज कर उस पार्क से दो मास बाद मा के पास ले गया। लखना को देखते ही विह्वल होकर रूपा बोली—"बेटा!"

एकाएक रोकर, मानो तड़पकर लखना बोला—"मा।"

मा ने बेटे को छाती से लगाया। सरदार खड़ा मुस्किराता रहा।

---

# आठ

रामपुर गाँव का ज़मींदार विक्रमसिंह केवल इसी बात से संतुष्ट नहीं था कि उसने रूपा और उसके पति को अपने रास्ते से हटा दिया, अपितु वह इस बात के लिये भी प्रयत्नशील था कि रामपुर के समस्त निवासी आदि काल से जिस प्रकार उसके पुरखों के सामने झुकते आए थे, उसी प्रकार आज भी झुकें। ज़मींदार विक्रम की यह एक बड़ी समस्या थी कि प्रभुत्व उठ रहा था—अपनी दृष्टि के सामने ही सम्मान जा रहा था। विश्व के साथ चलते हुए देश का जिस प्रकार काया-पलट हो रहा था, उसका प्रभाव नगर से दूर, नितांत जंगल में बसे हुए, उस रामपुर गाँव पर भी पड़ रहा था। विक्रमसिंह एक बड़ी जमींदारी का मालिक था। कई गाँव उसके संरक्षण में थे। अपने प्रांत के बड़े जमींदारों में उसका विशिष्ट स्थान था। प्रांत के ज़मींदारों की सभा का विक्रमसिंह सभापति था। वह स्वयं इस बात का रचयिता था कि किस प्रकार वर्तमान परिस्थिति में ज़मींदारों के अधिकार और प्रभुत्व को स्थायी रक्खा जाय, अतएव वह चेष्टित था, सतर्क था कि गाँवों में जो बात ज़मींदारों के विरुद्ध उठे, उसे तुरंत दबा दिया जाय। उसने ज़मींदारों की सभा में अनेक बार घोषित किया था कि इस प्रकार का विषैला वातावरण जो व्यक्ति फैलाएगा, उसे भी नष्ट कर दिया जायगा—वहहामी था कि उस व्यक्ति को मार दिया जाय।

निदान अपने इलाक़े में विक्रम इसी नीति का पोषण कर रहा था। उसके पिता ने अपने जीवन-काल में कई व्यक्तियों को मरवा दिया था। समाज और व्यक्ति का शोषण कैसी बर्बरता और अमानुषिक ढंग से किया जा सकता है, इसका उदाहरण विक्रम के पिता ने पूर्ण रूप से दिया था। उस नर-पशु के जीवन-काल में जनता सदा भयभीत और त्रस्त रही। वह पग-पग पर अपने मालिक ज़मींदार बहादुर से जीवन और वाणी की भीख माँगती थी। उसी पिता का प्रतिरूप था विक्रम। वह अब प्रौढ़ था—चार बच्चों का बाप। बड़ा पुत्र

शहर जाकर कॉलेज में पढ़ रहा था। वह जब गाँव में आता, नाना प्रकार के उपद्रव, और ज़ोर बेचारी रिआया पर डाले जाते थे। विक्रम के पुत्र ने एक बार जंगल में चमार की युवा लड़की को छेड़ा। उसके पिता ने जब ज़मींदार से इस बात की शिकायत की, तो उल्टा वह स्वयं ही इतना पीटा और अपमानित किया गया कि उस गाँव के जीवन में उस घटना को नहीं भुलाया जा सकता। विक्रम के पुत्र ने उस चमार का मकान जलवा दिया। निदान, वह अपने परिवार लेकर उस गाँव से भाग जाने के लिये भी विवश कर दिया गया। फल-स्वरूप वह बेचारा, असहाय, पुरखों की ज़मीन छोड़ उस गाँव से चला गया। अपनी पुत्री की लाज रखने के लिये उसने सभी कुछ सहन कर लिया।

स्वयं अपने जीवन-काल में विक्रम ने जितने अत्याचार और अनाचार प्रदर्शित किए, वे अपने पिता के कारनामों से किसी प्रकार भी कम न थे, अपितु अनुपाततः बढ़ गए थे। विक्रम चाहता था, उसके जीवन का अर्थ-उपार्जन ही लक्ष हो। उसने अपने जीवन में आँख खोलकर जिस प्रभुत्व को प्राप्त किया, उसकी रक्षा के लिये पशु-बल और बाहु-बल को छोड़ उसे और कोई अवलंब नहीं दिख रहा था। वह समझता था, जनता मूर्ख है। एक गड़रिया जिस प्रकार हज़ारों भेड़ों का नियंत्रण करता है, एक राजा हजारों-करोड़ों व्यक्तियों पर राज्य करता है, उसी प्रकार मुझे भी अपनी ज़मींदारी में रहनेवाले प्रत्येक व्यक्ति पर आधिपत्य रखने का अधिकार है। ज़मींदारी मेरी है—मेरे पुरखों की। यह मेरी संपत्ति है। जो मेरी ज़मीन पर बसेगा, मेरी ज़मीन को जोतकर अन्न प्राप्त करेगा, मैं उससे लगान लूँगा, मैं उसे बाध्य करूँगा कि वह मेरा अस्तित्व पहचाने—प्रभुत्व माने। ज़मींदार विक्रम का यह भी एक मत था कि यदि राजा के शासन में भय नहीं रहा, बल का अस्तित्व नहीं रहा, तो वह शासन नहीं चलेगा। जनता विद्रोह करेगी। वह राज्य भ्रष्ट हो जायगा। कोई और राजा बन जायगा। इसी प्रकार, आदि काल से चली आई परंपरा के अनुरूप, समाज का संपन्न और विशिष्ट व्यक्ति बना हुआ वह विक्रम, जीवन के एकांत में, एक बार ही, इस विश्वास को प्राप्त कर चुका था कि मेरी ज़मींदारी का अस्तित्व तभी तक है, जब तक मैं भय का राज्य रक्खूँ, लोगों को त्रस्त रक्खूँ, इन्हें अभावमय

रक्खूँ। उसने देखा, जनता—यह जन-समाज—यह व्यक्ति—जब तक अपने पास किसी अभाव और भय का अनुभव करता है, तभी तक किसी विशेष अस्तित्व के समक्ष सिर झुकाता है, अन्यथा नहीं, अतएव वह आज भी इस बात के लिये चेष्टित था, चिंतित था।

किंतु ज़मींदार विक्रम के समक्ष यह समस्या जैसे पहाड़ बनकर खड़ी हो गई थी कि जब जनता का राज्य देश में बना तो, तो ज़मींदारी क़ानूनन् नष्ट की जा रही थी। जनता में सुधार-कार्य चल पड़े थे। गाँव, नगर और देश संस्थाओं द्वारा निर्देशित किया जा रहा था, जैसे व्यक्ति जाग रहा था। समाज करवट ले रहा था। विक्रम के कानों में बार-बार आता था—'अपना अधिकार लो, दूसरे का अधिकार दो।'

ज़मींदार विक्रम मूर्ख नहीं, शिक्षित व्यक्ति था। देश में जब ब्रिटिश नौकर-शाही का राज्य था, तब विक्रम और उसके पिता का बड़े-बड़े अँगरेज़ों से मेल-जोल था। विक्रम का इलाक़ा शिकारगाह के लिये भी प्रसिद्ध था। वहाँ जंगल के हिंस्र जानवरों का शिकार होता और एक बड़ी झील में मछली तथा अन्य जल-जंतुओं का भी, अतएव विक्रम का घर चिरकाल से राज-दरबार में सम्मान पाता आया था। वह सम्मान आज भी था। सरमाएदारी और ज़मींदारी का बोलबाला अभी नहीं दबाया जा सका था, किंतु देश में जिस प्रकार की तेज़ हवा चल रही थी, जैसी आँधी उठ रही थी, उससे विक्रम तथा अन्य ज़मींदार चिंतित थे कि हमारा अस्तित्व अब नहीं टिका रहेगा। ज़मींदारी जा रही है, तो हमें भूखों मरना पड़ेगा। हम साधारण किसान बनेंगे, और बैलों के साथ हल जोतेंगे।

हल जोतना और ऐसा साधारण व्यक्ति बनना भले ही कोई बड़ा दोष न हो, किंतु उन ज़मींदारों के सामने तो प्रश्न यह था कि जिस जनता को अपने पैरों-तले रक्खा—अपने शासन में रक्खा—अब उसी के सामने झुकना, एक ऐसी रोटी का ग्रास था, जिसके अंदर ज़हर भर दिया गया हो। उस ग्रास को खाना मानो मौत को निमंत्रण देना—अपने अस्तित्व को नष्ट करना था। उनकी जिह्वा ने जिस ज़ायक़े को एक बार चख लिया था, उसी खाद्य पदार्थ को

अपने सामने से उठता हुआ देख, सचमुच ही, उनका मानस तड़प उठा। उस ज़मींदारी-वर्ग में कोलाहल था—हाहाकार था। उस कोलाहल में ज़मींदारों का वैभव बोल रहा था। जैसे उनकी आँखों के सामने ही उस वैभव की हत्या की जा रही थी। उसकी लाश पर खड़े होकर देश का तरुण और प्रगतिशील समाज चिल्ला रहा था—यह है वह लाश, जिसने देश का शोषण किया—किसानों का ख़ून किया! अब इसे जला देंगे, अब इसे नदी के गहनतम जल में फेंक देंगे—इस लाश को अब जल-जंतुओं की भेंट कर देंगे।

ज़मींदार-समूह के नेता के रूप में विक्रम एक चतुर और निपुण खिलाड़ी के सदृश इस खोज में था कि इस आँधी में उड़ने का अर्थ क्या है? मौत! और उस मौत का अभिप्राय ही है हमारे अस्तित्व का नाश, इसलिये प्रजातंत्र के युग की पुकार के साथ अपनी वाणी का पूरा ज़ोर लगाने का संकल्प जहाँ उन ज़मींदारों ने किया, वहाँ यह भी निश्चय किया गया कि जनतंत्र को असफल करने का एक ही उपाय है कि धारा-सभाओं पर अधिकार किया जाय। फ़ौज, पुलिस और क़ानून पर हमारा प्रभुत्व होगा, तो देश का प्राण भी हमारी मुट्ठी में होगा। फल-स्वरूप, ज़मींदारों ने धारा-सभाओं में जाने के लिये चुनाव लड़ने का विचार किया। इस कार्य के लिये कई लाख रुपया एकत्र किया गया। चतुर ज़मींदारों ने इस बात का भी प्रयत्न किया कि धन-बल द्वारा समाज की वाणी ख़रीदी जाय, वोट ख़रीदा जाय; इसलिये विक्रम और उनके साथियों ने देश की अनेक संस्थाओं के व्यक्ति तोड़ लिए—उनकी आत्मा ख़रीद ली।

लेकिन, इस प्रयत्न के बाद भी, प्रांत की सरकार का डंडा ज़मींदारों के सिर पर था। ज़मींदारी-उन्मूलन का प्रस्ताव धारा-सभा में पास हो चुका था। सरकार ने उसे क्रियान्वित करना भी आरंभ कर दिया था। किसान सरकारी कोष में अपने लगान का दसगुना रुपया जमा करने लगे थे। पटवारी के काग़ज़ों में वास्तविक किसानों के नाम लिखे जाने लगे थे। विक्रमसिंह और उनके साथियों ने प्रांतीय सरकार के उस निश्चय के विरुद्ध देश के बड़े कोर्ट में मुकद्दमा लड़ा। उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि ज़मींदारी-प्रथा का अंत करने और ज़मींदारों के अधिकार छीनने का कोई अधिकार प्रांतीय की सरकार को नहीं। ज़मीन

ज़मींदारों की है—उनके पुरखों की है। दुर्भाग्य की बात, ज़मींदार यह मुक़द्दमा हार गए।

जजों ने उनके विरुद्ध निर्णय करते हुए यह स्पष्ट कर दिया—यह उत्तर-दायित्व सरकार पर है कि वह निर्णय करे, देश की प्रत्येक वस्तु का बँटवारा ठीक प्रकार से हो रहा है, या नहीं। ज़मीन उनकी है, जो जोतते हैं। ज़मींदारों को अब तक लगान के रूप में जो कुछ मिला, वह कम नहीं है। फिर भी सरकार उनको मुआवज़ा देगी। जब देश सभी का है, तो मानवीय और शासकीय न्याय का तक़ाज़ा है कि प्रत्येक नागरिक का अधिकार समान हो। सभी को रोटी, कपड़ा और मकान मिलने की सुविधा प्राप्त हो।

परंतु रामपुर गाँव का ज़मींदार विक्रमसिंह सरकार की बड़ी अदालत के निर्णय को सुनकर और भी उत्तेजित हो उठा। वह सरकार की नीति का उपहास करने लगा। वह स्पष्ट शब्दों में लोगों को सुनाने लगा—"सरकार मूर्ख है—स्वार्थियों के हाथ में देश के शासन की बागडोर है। ये लोग देश को नष्ट कर देंगे,—पुरानी परंपरा नष्ट कर देंगे।"

उत्तर में पूछा जाता—"न्याय क्या है? दास-प्रथा?"

सुनते ही विक्रम के स्वर में कठोरता आती—"मूर्ख लोग देश का शासन नहीं कर सकते। उदारता और शासन-भरे नारे इस विशाल देश को जीवन नहीं दे सकते।"

लोग सुनते, और मानो साँस रोककर विक्रम की ओर देखते रह जाते। पर यह भी अनुभव करते, अनुमान लगाते कि ज़मींदार बदल रहा है। अब हैट-नकटाई लगाकर शहर नहीं जाता। मलमल का चुन्नटदार कुर्ता भी नहीं पहनता। खद्दर पहनता है। गांधी टोपी लगाता है। नगर से जो भी सुधारवादी व्यक्ति आते हैं, उनका स्वागत करता और उन्हें दावतें देता है। जब वे लौटते हैं, चंदे के रूप में हज़ारों रुपया भी भेंट करता है। समाज देखता, विक्रमसिंह के द्वार पर कम्युनिस्ट आते, जन-संघ के अधिकारी आते, काँग्रेसी आते। वह सभी का समान रूप से स्वागत करता। यथोचित रूप में सभी की इच्छा-पूर्ति करने का प्रयत्न करता। उसकी ज़मींदारी में डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की ओर से जितने स्कूल

खोले गए थे, विक्रम ने पहले कभी उनकी ओर लक्ष नहीं किया था, परंतु अब उन्हें सहायता भी देता। और उनको सुधार करने का प्रयत्न करता था। पहले जिन अछूतों को कुओं पर जाने की आज्ञा नहीं थी, अब वे ज़मींदार की आज्ञा पाकर जाने लगे। विक्रम द्वारा उनके लिये पृथक् रूप से कुएँ निर्मित करा दिए गए थे। परंतु हाय! कितनी विवशता थी उस मनुष्य की। समाज स्पष्ट शब्दों में कहता, शेर शिकार पाने के लिये आँखें मूंदकर पड़ा है—जानवरों को अपने ऊपर तक चढ़ने दे रहा है—झपटकर खा जाने की शक्ति तो रही नहीं, इसलिये अब मुँह के सामने आते ही खा जाने की ताक लगाए बैठा है।

जमींदार विक्रम इन बातों को सुनता, और दाँत पीसकर रह जाता। वह अब शोर तो मचाता नहीं; परंतु मार्ग में आए हुए काँटे को हटाकर तोड़ देने में सदा तत्पर रहता। वह इसी कूट-नीति पर अब चल भी रहा था। भले ही ज़मींदारी का पतन हो रहा था, किंतु उसके पास अब भी बल था, अतः समाज का शोषण करने में तनिक भी पीछे नहीं था। अंतर इतना था कि अब उसे विशेष चतुराई के साथ उद्देश्य की पूर्ति करनी पड़ती थी। इलाके का थानेदार, तहसीलदार और ज़िले का कलक्टर तथा नगरों के शासकीय विभागों के उच्च पदस्थ अधिकारी—इन सभी की दृष्टि में ज़मींदार विक्रम अपना विशेष महत्त्व बनाने में समर्थ हो चुका था, क्योंकि उसके पास पैसा था, बल था। वह अब भी समाज का सिरमौर था। पुराने युग के समान वह अब भी चमकीले पैसे पर आदमी और उसके विचारों को ठगने तथा उछाल देने में समर्थ था।

कदाचित् यही कारण था कि गाँव की जनता अब भी त्रस्त, दुःखी और पीड़ित थी। उसकी आवाज कहीं भी नहीं पहुँचती थी। आएदिन चोरी-डाके पड़ने लगे थे। लोगों की पीड़ाएँ घटने के स्थान पर उत्तरोत्तर वृद्धि पर ही थीं, इसलिये वे उदास आँखें फिर भी ज़मींदार का वैभव निहारती—उस ओर कुछ अभिलाषा से देखतीं, क्योंकि शासन की कुर्सियों पर बैठे हुए व्यक्ति जनता के करुण नाद से दूर थे। अपने जिन व्यक्तियों पर जनता को भरोसा करना चाहिए था, और जिनके मुँह से जन-कल्याण का नारा अब भी सुनाई देता था, उन्हीं द्वारा जनता उपहास और उपेक्षा का पात्र बनती थी! वह खोई और

लुटी हुई जनता सोचती, ऐसा होना था, तो फिर हमें क्यों पथ-भ्रष्ट किया गया ? क्यों हमसे ख़ून माँगा गया ? जब शासन हमारा है, तो यह दुराव क्यों ? यह विषमता क्यों ? सदियों की पीड़ित, अपमानित और भूखी जनता सोचती—हाय ! यह भी हमारी कैसी विपत्ति है कि स्वतंत्र होकर, इस स्वतंत्रता-प्राप्ति के हेतु अपना बलिदान देकर भी, हम शांत नहीं—हमारा उद्देश्य सफल नहीं—रोटी नहीं, कपड़ा नहीं, और रहने को स्थान नहीं !

देश के समूचे जन-समाज के समान वह रामपुर गाँव, वहाँ का समाज, विशेषतया वे लोग, जो ज़मींदार विक्रम द्वारा अब तक सताए गए थे, जिनकी ज़मीनें छिन गई थीं, जीवन के अधिकार छिन गए थे, सोचते—आज भी पुलिस हमारी नहीं, शासन के अधिकारी हमारे अपने नहीं ! वे सहृदय नहीं, विश्वसनीय नहीं, देश की आत्मा के प्रतीक नहीं ! गोरे गए, तो काली चमड़ीवाले गोरे आ गए—वैसे ही शोषक, वैसे ही शासक ! क्योंकि रूपा के पति और स्वयं रूपा के उस भयंकर कांड की रिपोर्ट होने पर भी पुलिस कुछ न कर सकी। थानेदार गाँव में आया। ज़मींदार के यहाँ खा-पी गया, और गाँव की बात एक कान से सुन दूसरे से निकाल गया। अन्य गाँवों के समान रामपुर के नागरिक भी अपनी साँस रोककर सोचते — देश स्वतंत्र तो हुआ, शासन भी जनता का हुआ, देश का अधिकार जनता को मिला, परंतु यह सब तो कान तक ही सीमित रह गया। उच्च वर्ग का हृदय नहीं बदला। शोषितों का दृष्टिकोण अक्षुण्ण बना रहा। भारत का भाग्य जैसे देश की सरकार की फ़ाइलों में बंद हो गया। यों जनता को क्या मिला ? क्या भूखे को रोटी मिली ? नंगे को कपड़ा मिला ? निराश्रित को आश्रय मिला ? नागरिक अपनी व्यथा किसे सुनाए, सुनने वाला शासक सच्चा और ईमानदार है ?

जनता सोचती, अभी निःसंदेह कुछ नहीं मिला। जब विदेशी अँगरेज़ इस देश के शासक थे, क्रूर और मदांध बनकर देश की असहाय जनता को लूट रहे थे, वैसी लूट और बर्बरता आज भी है। अंतर केवल इतना है, तब लूटनेवाले विदेशी थे, अब अपने हैं। और, ये अपने ही ख़तरनाक हैं—घर के भेदी हैं। इनकी पाशविकता अधिक सफल हो सकती है। ये वे ही लोग तो हैं, जो विदेशी

लुटेरों के साथ मिलकर देश का शोषण करा रहे थे—उनके दलाल बने हुए देश की संपत्ति का मोल करा सके थे! भारत-माता का खून-मांस ये दूसरों को खिला रहे थे, और स्वयं भी खा रहे थे। आज अपनी सरकार है, शासन की बागडोर देश के आदमियों के हाथों में है, पुलिस अपनी है, फ़ौज अपनी; तो ये ही प्रभुता-संपन्न व्यक्ति कलाबाज़ी खाकर उन शासकों के विश्वास-पात्र बन गए हैं। कदाचित् ये लोग उनको भली भाँति समझा चुके हैं कि समाज मूर्ख है, उसको चलाने के लिये, शासन करने के लिये, हमारा विश्वास और सहयोग आवश्यक है। और, जब देश अपना है, शासन अपना, तो राष्ट्र-धर्म का पालन करने के लिये हमारा विवेक, जीवन और सर्वस्व—सभी कुछ—देश का है, दरिद्र-नारायण का है। भारत-माता की झोली में ज़मींदार और सरमाएदार का जीवन भी अर्पित हो गया है।

ज़मींदार विक्रम जहाँ बाहरी प्रयत्न में संलग्न था, घरू चेष्टाओं में भी सतर्क था। वह देख रहा था, दूर उठी हुई आँधी मानव को उड़ा रही है—संपत्ति और चिर परंपराएँ नष्ट हो रही हैं। उस आँधी के अपने पास आने से पूर्व ही वह सतर्क रहना चाहता था—अपनी सुरक्षा करना पसंद करता था, इसलिये विक्रम ने अपने क्षेत्र की बहुत-सी ज़मीन बेच दी थी, और बहुत-सी कारखानों तथा अन्य कार्यों में लगाने के लिये वह प्रयत्नशील था। एक लिमिटेड कंपनी का काम उसने आरंभ कर दिया था। लगभग एक करोड़ की लागत से वह अपने क्षेत्र में कपड़े की मील खोलने का निश्चय कर चुका था। उसके लिये ज़मीन नाप ली गई थी। जिन किसानों ने उसके विरुद्ध आवाज़ उठाई, उनका ज़मीन से अधिकार छीन लिया गया। अवस्था यह हो गई थी कि जिस व्यक्ति को उसने अपने विपरीत पाया, उसके पेट पर चोट दी, और जब वह तड़पा-चिल्लाया, तो विक्रम ने मानो खूँखार भेड़िए के सदृश ठहाका मारकर कहा—"रोओ मत, हँसो। देश स्वतंत्र है; तुम्हारा है, इसकी मदद करो—आत्म-त्याग करो।"

और, यह भीषण उपहास सुनकर वह गाँव का व्यक्ति जैसे बरबस तिलमिला उठता था। वह सच निहीं पाकता था इसका उपाय क्या है—इस रोग का

निदान क्या है? उस मानव की एक यह भी तो विवशता थी कि देखता वह, रोग तो घटा नहीं, बढ़ गया है—शासक के मस्तिष्क और हृदय पर प्रभुत्व अब भी पूँजीपतियों का है। वह नागरिक सोचता, अँगरेज़ गए, तो क्या? दीन और अयाचित मानव अब भी तड़प रहा है—वह वेदना से कसक रहा है। जाते समय अँगरेज़ अपने पाप के कीड़े यहीं छोड़ गए। वे समस्त देश में फैले हुए हैं, और अनेक विधि से देश का शोषण कर रहे हैं। इसीका परिणाम है, आत्मबलहीन मानव—पंगु और कायर समाज—आज भी ऊँचाई की ओर देखता है, ऊँचे महलों की ओर ताकता है वहीं से पेट के लिये टुकड़ा पाना चाहता है—वहीं से उसको ललचाया जा रहा है—तड़पाया जा रहा है। हाय! बेचारा समाज इतनी दीनता के बदले में भी पत्थर के ढेले पा रहा है।

---

# नौ

किसी राष्ट्र का इससे बड़ा दुर्भाग्य और क्या हो सकता है कि उसी के नागरिक अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिये जनता का शोषण करें, और राष्ट्र को ठगें? सदियों से देश दासता की बेड़ियों को काटने के लिये कृत-संकल्प था। बलिदान दिए गए—कदाचित् इसका एकमात्र कारण ही यह था कि देश संपन्न हो, देश का नागरिक सुखी एवं समृद्ध हो—परंतु जब स्वतंत्रता आई, नागरिक को अपने अधिकार का उपयोग करने की छूट दी गई, तो देखा, कि वह नागरिक—वह स्वतंत्र देश का वासी—राष्ट्र की जड़ खोदने के लिये इस प्रकार तुल गया, मानो वह इसी दिन की प्रतीक्षा में था—यही चाहता था—उसका यही मात्र उद्देश्य था।

रूपा को अपने मार्ग से हटाकर, उसे डाकुओं द्वारा मारे जाने की सूचना पाकर ज़मींदार विक्रम को संतोष तो हुआ, परंतु किंतु उसे आत्मिक संतोष प्राप्त न हुआ रूपा और उसके पति को मारकर उसने अनेक रूपा के पतियों और रूपा-सरीखी नारियों को अपने संमुख चीत्कार करते देखा। विक्रम को यह प्रत्यक्ष लगा, और उसने अनुभव किया कि जनता की वाणी को जीता जा सकता है, उसके शरीर और मस्तिष्क को भी ख़रीदा जा सकता है, परंतु उस जनता के पास जो आत्मा है, हृदय है, उसकी टीस; उसकी वेदना का प्रलाप किसी प्रकार भी नहीं दबाया जा सकता। उस पर बंदूक़ की गोली भी असर नहीं कर सकती। तलवार उसे काट नहीं सकती। जोर और ज़ुल्म दबा नहीं सकते। जेल और फ़ाँसी का भय भी उसके मार्ग में बाधक नहीं बन सकता। उस आत्मा का सत्य अमर है। उसका चीत्कार अक्षुण्ण है।

फल-स्वरूप, ऐसी स्थिति में, अपने प्रभुत्व की रक्षा के लिये विक्रमसिंह किन उपायों का आश्रय ले? यह एक प्रश्न था, जिस पर प्रत्येक क्षण उसका ध्यान रहता था। रामपुर गाँव के जिन तीन युवकों को उसने जालसाज़ी से सज़ा दिलवाई थी, उनकी अवधि भी तेजी से घटती जा रही थी। वे तीनों शत्रु भी बाहर

आनेवाले थे। घर-बाहर सभी जगह अपने पराए बन रहे थे। उस व्यक्ति के मानस में डोलती हुई स्वार्थपरता की भूख बार-बार कसकती, किलकारी मारती और उसे कँपा देने में समर्थ होती थी। विक्रम दिन-दिन चिड़चिड़ा होता जा रहा था। वह पहले से ही स्वभाव का क्रोधी था, परंतु अब अधिक हो गया था। घर और बाहर, सभी जगह उसका आतंक फुफकारें मारता था। उससे घर के बच्चे भी डरते थे। पत्नी काँपती थी। नौकर सामने आने का साहस नहीं करते थे। वह लंबा-चौड़ा शरीर, जिसके मुँह पर बड़ी-बड़ी मूछें, चमकती आँखें, ऊँचा ललाट—इस रूप में—एकाएक ही देखनेवाला आतंकित हो उठता था। विक्रमसिंह शराब पीकर संध्या के समय अपने द्वार पर बैठता तो क्या मजाल कि कोई उसके सामने से निकले, और बिना मुजरा किए चला जाय। वर्षों से चली आई यह परंपरा इतनी क्लिष्ट और भारी बन गई थी कि बरबस जनता को खटकती थी। गाँव में किसी छोटी जाति की स्त्री कोई आभूषण धारण कर विक्रम के सामने से नहीं निकल सकती थी। यदि कोई भूल से निकलती, तो वह सजा पाती थी। ज़मींदार का यह भी एकांत मत था कि निम्न वर्ग समानता का अधिकारी नहीं। छोटी जाति की स्त्रियों को आभूषण धारण करने का भी अधिकार नहीं।

किंतु समय के साथ, अपने इन दक़ियानूसी विचारों में परिवर्तन लाकर भी, विक्रम हृदय से नहीं बदला था। वह बगुले के समान आँख बंद किए नदी-तट पर बैठा हुआ था कि कोई मछली आए, और वह मुँह में रख ले। उसने तो केवल तनिक बहती हवा के साथ ? स्थापित किया था।

उन्हीं दिनों की बात है, एक दिन संध्या-समय ज़मींदार विक्रम ने लक्खी के पिता को अपने पास बुलाया। यद्यपि, कुछ दिन पूर्व, उस गाँव में यह बात प्रचलित थी कि ज़मींदार जिस किसान को बुलाए, तो समझा जाता, ज़रूर आज उसके साथ कुछ होने वाला है—उसका ख़राब समय आया है, किंतु धीरे-धीरे लोगों का यह भय निकल रहा था। उनकी दृष्टि में ज़मींदार स्वतः ही साधारण व्यक्ति बनता जा रहा था। जब लक्खी का पिता वहाँ पहुँचा, ज़मींदार अपने बँगले के सामने लॉन पर घूम रहा था। दोनों हाथ पीछे की ओर किए विचार-मग्न।

लक्खी के पिता ने आते ही जुहार दी—"सरकार !"

देख-सुनकर ज़मींदार तनिक चौंका ?—"ओह, चौधरी लालमन तुम ! आओ, बैठो।"

लॉन पर पड़ी एक कुर्सी पर ज़मींदार बैठा, और दूसरी पर लालमन से बैठने के लिये कहा।

तभी जमींदार विक्रम ने पुनः लालमन की ओर देखा, और कहा—"देखो, चौधरी लालमन, देश स्वतंत्र हुआ है, हमें स्वतंत्रता मिली है, सभी के अधिकार समान हैं—मेरे भी, तुम्हारे भी। अब सभी एक हैं, भाई हैं। आज न कोई छोटा है, न बड़ा।"

लालमन ने बात का रहस्य न समझ पाकर भी कहा—"जी, सरकार !"

"तुम हमारे गाँव के समझदार व्यक्ति हो, लालमन चौधरी ! निकट भविष्य में ही यहाँ एक बड़ी कॉन्फ्रेंस होगी। प्रांत के सभी ज़मींदार आएँगे। किसान भी एकत्र होंगे।

तटस्थ भाव से लालमन ने कह दिया—"अच्छा, सरकार !"

विक्रम ने कहा—"इस कॉन्फ्रेंन्स का एक ध्येय यह भी होगा कि हम सरकार को बता दें, ज़मींदारी समाप्त करना किसानों के हक़ में भी लाभप्रद नहीं है।" उसने कहा—"लालमनजी, अब तक तुम जमींदार से संबंध रखते थे, अब सरकार से रक्खोगे। ज़मींदार के पास आकर तो तुम कुछ भी कह सकते थे, परंतु सरकार के पास जाकर क्या कहोगे ? वहाँ किससे कहोगे ? जब तक तुम्हारी बात ऊँचे अधिकारियों के कानों तक पहुँचेगी, उसकी सुनवाई आरंभ होगी, तब तक तो तुम्हारे बच्चे भूख से तड़पकर मर जायँगे। सरकार का घर तो बड़ा घर है, लालमन चौधरी ! वहाँ बड़े आदमियों की ही पहुँच है। ऊँची बातें ही सुनी जाती है। वहाँ तक पहुँचने के लिए बड़ी रक़मों की रिश्वतें चलती हैं।"

लालमन सीधा व्यक्ति था। विक्रम ने जो कुछ कहा, उसे उसने ब्रह्म-वाक्य मान लिया।

तभी विक्रम ने फिर कहा—"उस होनेवाली कॉन्फ्रेंस के लिये रसद चाहिए। प्रबंध करने के लिये आदमी चाहिए। मैंने कारिंदे से कह दिया है कि प्रत्येक

किसान से दो मन अन्न वसूल किया जाय। और कॉन्फ़्रेंस के दिनों में हर घर से प्रबंध के लिए एक आदमी लिया जाय।"

अन्न की बात सुनते ही लालमन काँप गया—"सरकार, इस फ़सल में मेरे यहाँ तो सूखा पड़ गया। अन्न का दाना नहीं हुआ।"

विक्रम ने सुना, उसे अच्छा नहीं लगा, किंतु वह चतुर व्यक्ति अपने मन की बात दाब गया। तत्क्षण ही बोला—"चौधरी, यह तो सभी घरों की बात है। आदत-सी बन गई है। तुम्हारे यहाँ कुछ नहीं हुआ, तो रुपया दे देना।" उसने समझाकर कहा—"यह तो पुण्य की बात है, लालमन! टैक्स नहीं। तुमको इसीलिये बुलाया है कि अन्न वसूल करने में मदद करना। कोई बात उठाए, तो उसे दबा देने का प्रयत्न करना।"

लालमन ने सब सुना, और मौन रह गया। रुपए की बात भी अभी तक उसके गले में अटकी थी। वह बात न नीचे पेट में जाती थी, न बाहर उगली जाती थी।

उसी समय विक्रम ने फिर कहा—"लालमन चौधरी, सुनता हूँ, रूपा से तुम्हारा अच्छा संबंध था। तुम्हारे समान मुझे भी उसके जाने का दुःख हुआ। देखता हूँ, उसका आज तक कोई पता नहीं चला।" पुनः अपनी मूछों पर हाथ फेर कर बोला—"अरे, भोले चौधरी! औरत का और आदमी के भाग्य का क्या भरोसा। जरूर वह किसी के साथ भाग गई होगी, वह काफ़ी चालाक थी। मै तो समझता हूँ, वह चरित्र-हीन थी।"

विक्रम का अंतिम शब्द लालमन को चुभ गया—"सरकार, वह तो देवी थी। निष्ठावान औरत थी।"

विक्रम चिढ़ गया—"और तुम देवता थे—सर्वदर्शी!" वह बोला—"मै कहता हूँ, ज़रूर वह अच्छी औरत नहीं थी।"

सुनकर लालमन अपनी साँस रोककर रह गया।

उसी समय विक्रम ने प्रश्न किया—"तो क्या रूपा का नाम अब भी लिया जाता है? गाँव अब भी उसकी याद करता है!"

लालमन ने कह दिया—'मैं नहीं जानता, सरकार।"

विक्रमसिंह उपहास के साथ हँस दिया—"यह भी क्या बताने की बात है !" तुरंत ही उसने माथे पर बल डालकर कहा—"इस बात से मेरा संबंध नहीं। तुम सबसे कह देना, गाँव में जो मेरे विरुद्ध प्रचार करेगा, क़ानून का सहारा ले मैं उसे किनारे लगा दूँगा।"

लालमन सुनकर बरबस कह उठा—"जी, सरकार !"

विक्रम ने फिर कहा—"मेरे पास अब भी बल है, आदमी को कुचलने की शक्ति है।" वह रुका, और बोला—"लालमन चोधरी, मैं अब तुम लोगों की सेवा करना चाहता हूँ, समूचे देश के काम आना चाहता हूँ। छोटे-बड़े जब तक देश के लिये अपना कंधा न लगाएँगे, तो क्या देश उठेगा ? आगे बढ़ेगा ?"

मानो अप्रत्यक्ष भाव से मुग्ध होकर लालमन बोला—"जी, सरकार !"

विक्रम ने अपनी आँखों में रहस्यमय कुटिल हास्य लिए हुए कहा—"हम सभी की इस देश को आवश्यकता है। तुम लोगों की ग़रीबी दूर करने के लिये मैंने यहाँ बड़े-बड़े कारखाने खोलने का विचार किया है। मुझे इस गाँव की काया बदल देना है। आज तो यहाँ अँधेरा है। पर, कुछ ही महीनों में सब ओर प्रकाश प्रसारित करना है। तब सभी के पास पैसा होगा, गांव का प्रत्येक व्यक्ति सुखी होगा।" तभी मानो चौंककर विक्रम ने प्रश्न किया—"हाँ, तो ज़मीन नापी गई है। जिस-जिसकी ज़मीन ली गई है, उनमें कौन-कौन आपत्ति करते हैं--आवाज़ उठाते हैं ?"

लालमन ने मानो काँपते हुए कहा—"सरकार, ऐसे तो सभी हैं। पेट की रोटी सभी माँगते हैं।"

विक्रम ने अपने स्वर पर जोर देकर कहा—"वह ज़मीन मेरी है, किसी के बाप की नहीं। मेरा उस पर अधिकार है, मैं उसका मालिक हूँ।"

लालमन ने दबे स्वर में कहा—"लेकिन सरकार…"

विक्रम ने एकाएक क्रोध से भरकर, चीख़ कर, कहा—"बको मत ! कह दो, उन हरामज़ादों से, गाँव में नहीं रहना है, तो भाग जायँ। निकल जायँ यहाँ से। सरकार जमींदारी समाप्त कर रही है, तो क्या ज़मींदार भूखे मरेंगे ? ये बदमाश किसान गुलछर्रे उड़ाएँगे, और ज़मींदार…………"

लालमन ने मानो आत्मश्लाघा से पीड़ित होकर कहा—"पर सरकार, वह क़ानून…………"

यह कहना था कि विक्रम अतिशय चिढ़ गया—आग में घी का छींटा पड़ गया। उछलकर तड़ाक से लालमन के मुँह पर तमाचा मारा, और कहा—"क़ानून तुम्हारे मुँह पर थकेगा—क़ानून तुम्हारे लिये क़फ़न का काम देगा। बदमाश ! मैं क्या जानता नहीं कि तू भी उन लोगों में है जो मेरे खिलाफ़ बग़ावत करते हैं—लोगों के कान भरते हैं। तू सोचता है, मैं कुछ नहीं जानता ? गाँव से बाहर रहता हूँ, अतः कुछ नहीं समझता ? कुछ नही सुनता ? मैं अच्छी तरह सुन चुका हूँ कि तू ही है उन लोगों का मुखिया, जो गाँव में ग़लत प्रचार करते हैं, लोगों से कहते हैं—'जमींदार कुछ नहीं…हमारे सामने कोई ताकत नहीं!" वह बोला—"मेरा ही खाओ, और मुझी से गुर्राओ ! हरामी, कुत्ते !"

तमाचा खाकर लालमन कुरसी से खड़ा हो गया था। उसकी आँखों में ख़ून उतर आया था। अपने स्वभाव के विपरीत वह तीखे स्वर में बोला—"पाप का घड़ा अभी भरा नहीं ? दिए का तेल तो जल चुका है, देखता हूँ, अभी बत्ती टिमटिमा रही है।"

विक्रम चीख़ पड़ा—"लालमन के बच्चे !"

लालमन ने भी उसी स्वर में कहा—"रे दुष्ट ! तेरा समय आ गया है। जा, बँधवा दे इस लालमन को, अपनी पशुता का प्रमाण देले।"

विक्रम अतिशय क्रोध में था। वह लालमन से कुछ भी सुनने के लिये प्रस्तुत नहीं था। हाथों की दोनो मुट्ठिया बाँधे दाँतों से होंठ काट रहा था। विवेक भ्रष्ट हो गया था उसका।

लालमन ने फिर कहा—"जमींदार विक्रमसिंह ! तुमने और तुम्हारे पुरखों ने जिनके साथ दुराचार किया, जिनकी हत्याएँ कीं, उनका ख़ून-मांस इस बड़े महल की दीवारों में बोलरहा हैं—चिल्ला रहा है। मुझे उन बलिदानों का स्वर साफ़ सुनाई दे रहा है। आज कहे देता हूँ, तुम्हारा भी समय आ गया है—इस बड़े महल के गिरने का—जला दिए जाने का। जब तक तुम न मरो, यह महल न गिरे, तुम्हारे बच्चे नँ मारे जायँ, अच्छा ही है। तुम कुछ और ज़ुल्म करलो।—पाप का घड़ा पूरी तरह भर लो।

अपनी उस विषम अवस्था में ही विक्रम निश्चल खड़ा रहा और अपनी आँखों में आग लिए लालमन को घूरता रहा। वही आग मानो लालमन की आँखों में भी थी, शायद उससे भी अधिक ज्वजल्यमान। उस आग में अधिक लपटें थीं, कदाचित् यही कारण था कि विक्रम जीवन में पहली बार एक किसान से—अपनी रियाया के एक साधारण व्यक्ति से, अपने मुँह पर ही, अपने घर पर ही, यह सब सुन पा रहा था, जिसका तीखापन और कठोरता कलेजे में चुभी जा रही थी। उसके नौकर-चाकर सुन रहे थे, पत्नी सुन रही थी, और सब सुन रहे थे।

तभी लालमन ने मानो सोते हुए सर्प के समान जागकर, फुफकारते हुए कहा—"अपने जीवन में तुमने मारना सीखा है—दूसरों का खून पीना सीखा है। तुम्हारे पुरखों ने भी यही किया। उसी पाप की पुनरावृत्ति ही तुमने की है, कोई नई बात नहीं की। क्रूर बाप के क्रूर बेटे ने इंसानियत का खून कर अपने स्वार्थ का पेट भरा है। किंतु मैं आज कहे जाता हूँ, अब सावधान रहना, जागते रहना। आज तक जो भी तुम्हारे मुँह पर बोला, तुमने उसे ही मरवा दिया। जानता हूँ, शायद मैं भी तुम्हारा शिकार बनूँ मैं समझूँगा, चलो, एक जानवर ने मुझे खाया, और उसका पेट भर गया।" पुनः लालमन ने ऊपर आकाश की ओर देखकर कहा—"जमींदार विक्रम! सुनता था, पाप स्वयं बोलता है। संभवतः वही आज बोल रहा है—तुम्हारा गला घोट देने के लिये आतुर हो रहा है।"

विक्रम ने पैर पटककर ललकारा—"लालमन……"

लालमन ने कहा—"अरे खूनी भेड़िए! सुन ले कान खोलकर, आज से मेरा द्वार खुला रहेगा। यह लालमन मरने के लिये तैयार रहेगा और अब भी तैयार है। कोई हथियार हो, तो चला ले—मिटा ले भूख।"

किंतु स्वभाव के विपरीत उस समय विक्रम मौन रह गया। वह तब भी घूरकर, मानो निष्प्राण बना हुआ, लालमन की ओर देखता रहा। वह जैसे उस दुर्बल किसान की आत्मा का तेज देखकर सहम गया—जड़ बन गया।

उसी समय लालमन ने अपने पाँव उठाए, और बाहर जाते हुए बोला—"काश,

तुम आदमी होते। इस सफ़ेदपोशी में तुम्हारा अंतर भी साफ़ होता। तुम सोचते हो कि गाँव में कोई नहीं जानता, मैं भी नहीं जानता कि रूपा की हत्या तुम्हारा ही काम है? उस भोली नारी का ख़ून तुम्हारे हाथों में लगा है! अच्छा है, इस पाप का बीज तुमने अपने बच्चों के लिये बो दिया। तुम्हारे अपराधों का दंड उनको भी भोगना पड़ेगा।"

विक्रम कुर्सी पर उठंग गया। धीमा पड़ कर बोला—"मैं ग़ुस्से में आ गया था, लालमन! बैठो।"

लालमन ने कहा—"जो आदमी नहीं, भगवान् का उपासक नहीं, इंसानियत के पास नहीं, मैं जानता हूँ, उस पर मेरी बात का असर नहीं होगा, परंतु एक बार मैं पूछता हूँ। जिस व्यक्ति की वाणी में स्वार्थ बोलता है, पाप ही जिसके मार्ग को प्रशस्त करता है, क्या ऐसा व्यक्ति जीवन को आँख खोलकर देख सकता है? नहीं। तुमने भी यही किया, यह पाप का मार्ग अपनाया। पैसा क्या पाया तुमने, इंसानियत को पैरों-तले पटक कर कुचल दिया! हाय रे मानव! तू पत्थर— जड़ ही बना रहा।"

कहकर लालमन क़दम बढ़ाकर तेज़ी के साथ उस मकान की सीमा के बाहर चला गया।

तभी पत्नी ने सामने आकर विक्रम को ठँकोरा—"तुमने यह क्या किया? क्या अच्छा किया! काम साधने चले थे, और उलटा बिगाड़ दिया! उसके तमाचा मार दिया?"

विक्रम ने सिर पकड़कर कहा—"मेरीभूल······ग़ुस्सा आ गया।" पुनः बोला—"पर यह लालमन तो आग निकला। देखने में भोला व्यक्ति भयंकर साँप निकला।"

पत्नी ने चिढ़कर कहा—"आदमी तो रहस्य से भरा है। सभी के अंतर में आग है। चींटी पर भी जब दबाव पड़ता है, तो उसे भी काटना आता है। आज जब समय बदल रहा है, आदमी बदल रहा है, पुरानी रूढ़ि और रीति-नीति को क्या ज़िंदा रक्खा जा सकता है? आँधी उठ चली है, इस घर का सब कुछ उड़ा कर दूर ले जा सकती है।"

# दस

मा-बाप और पति के प्यार-भरे बोल ने रूपवती को 'रूपा' बना दिया था। यद्यपि आज न उसका पति था, न माता-पिता ही, फिर भी उसे 'रूपा' में ही अपनी सार्थकता का दर्शन मिलता था। वह अब प्रौढ़ता की ओर अग्रसर हो रही थी, फिर भी बचपन की चंचलता का भाव उसमें विद्यमान था। लगता था, जीवन-ज्योति से उसका मानस उल्लसित भाव से जगमगा रहा है।

डाकू-सरदार रूपा के जीवन में इस प्रकार आया, जैसे आँधी। सरदार ने बरबस ही अपने प्रति उसके मन में व्याप्त घृणा को मिटाने का प्रयत्न किया। जब प्रथम बार वह रूपा को नगर में लाया, तो जमींदार से प्राप्त पाँच हज़ार रुपए की निधि उसे भेंट करता हुआ बोला—"रूपा बहन ! मैं चाहता हूँ, तू अपना जीवन सँभाल ले—अपने को सँभाल ले। अभी तेरा पथ लंबा है—संकटों से घिरा है।" और फिर उसने जैसे नितांत वेदना-सिक्त स्वर में कहा—"मैं भी जीवन में अकेला हूँ, रूपा बहन ! तुझसे कैसे कहूँ, इस रास्ते पर मैं बरबस ही आ गया। क्या मैं अपने काम से सुखी हूँ ? इसी से कहता हूँ, मुझे तुम-सरीखी बहन की दरकार थी ! तू अभी यहीं रह। अभी गाँव में जाना बुद्धिमानी नहीं। वह स्थान संकट से खाली भी नहीं। वहाँ गई, तो ज़मींदार इस बार तुझे किसी प्रकार भी जीवित नहीं रहने देगा।"

रूपा ने कहा—"मैं मरने से नहीं डरती, भैया !"

सरदार बोला—"मौत डरने की वस्तु नहीं, न वह डरावनी ही है। किंतु आँख मूँदकर मौत के हाथों अपने को सौंप देना भी बुद्धिमानी नहीं।" वह बोला—"जीवन तो एक मंत्र है रूपा ! सुनता हूँ, साधना भी है, जिसे सिद्धि भी कहा जाता है। अनेक बार सुन चुका हूँ कि उसे हृदय में बैठाया जाता है। समय आता है, तो ऐसा मंत्र भरा जीवन व्यक्त भी किया जा सकता है।"

रूपा ने उस समय डाकू-सरदार का वह रूप देखा, तो सचमुच उसके हृदय में उस भयंकर और क्रूरता-भरे मानव के प्रति सद्‌भावना पैदा हुई। श्रद्धा और अपनत्व की भावना भी उत्पन्न हुई।

सरदार ने कहा—"परिस्थितियों के चक्कर में पड़कर जब तू इस बड़े शहर में आ गई है, तो एक काम कर। तू कुछ पढ़-लिख ले—जीवन और समाज को समझ ले। ज़मींदार को मारना सरल है। वह आज भी मेरे हाथों मारा जा सकता है; परंतु यह न भूल, वह ज़मींदार अकेला नहीं, समूचा देश ही ऐसे जानवरों से भरा है। अतएव इस वर्ग का अंत करना ही तुम्हारा लक्ष्य होना चाहिए। तुम्हें समझना चाहिए कि आज एक रूपा ही नहीं ठगी गई; अकेला उसी का पति नहीं मारा गया, अपितु सैकड़ों का वध इन्हीं हिंस्र वधिकों द्वारा अनायास ही किया जा चुका है।

वेदना-सिक्त साँस भरकर रूपा बोली—"भैया, मुझे पता है।"

"तुम्हें यह भी पता है कि तुम्हारा ज़मींदार विक्रमसिंह अपनी शैतानी तथा बदमाशी में इसलिये सफल होता है कि राजदरबार में भी उसका बोल-बाला है? वह पुलिस को हाथ में रखता है।"

रूपा ने सुना, और खिन्न भाव से ऊपर, आकाश की ओर, देखा। मानों सभी ओर अँधेरा ही अँधेरा छाया हो।

सरदार ने कहा—"दुनिया रहस्यमयी है—भंयकर है।"

इतना सुनते ही रूपा जैसे चिढ़ गई—"और तुम···तुम!" वह बोली—"भैया, तुम भी भयंकर हो। मेरे लिये तुम भी रहस्य पूर्ण हो।"

सुनकर सरदार गंभीर हो गया—"हाँ, मैं भी रहस्य से भरा हूँ। मैं भी भयंकर हूँ।" तुरंत ही वह पुनः बोला—"किंतु रूपा, एक बात कहता हूँ तुझसे मैं भयंकर तनिक भी नहीं—रहस्यपूर्ण भी नहीं।" वह मुस्किराया—"यदि ऐसा होता, तो क्या तेरे दुर्बल हाथों का तमाचा खा लेता? न, मैं तो तुरंत ही तेरे हाथ मरोड़ देता। तुझे मसल कर फेंक देता।" वह बोला—"किंतु सच मान रूपा, तूने तमाचा मारा, तो मुझे लगा कि मेरी मा ने—मेरी बहन ने मुझे मारा। उन दोनो से कितना पिटा हूँ मैं, मेरा बचपन तो इन्हीं दोनो के

हाथों में रहा। तेरे रूप में मैंने उन दोनो को देखा। मैंने तेरा आभार माना।"

रूपा ने कहा—"भैया, मुझे आज भी लज्जा है, दुःख है।"

सरदार हँस दिया—"रूपा बहन, तेरे उस पौरुष ने ही मुझे नया जीवन दिया। अब, तेरा यही घर है। तुझे अब अपना लड़का पढ़ाना है, स्वयं भी पढ़ना है, समाज में आगे बढ़ना है। ज़मींदार का वध हाथों से नहीं, विचारों से करना है। उसने जो कुछ किया, वह उसके स्वार्थ का दोष है। और, यह स्वार्थ सर्वत्र छाया है। तुम उसी स्वार्थ की कमर तोड़ सकीं, तो तुम्हारा यह जीवन सफल हो सकता है।"

रूपा ने कहा—"एक विनय है भैया, तुम्हारी इस बहन की याचना है, तुम भी अपना पथ छोड़ दो—यह पाप ौर बर्बरता त्याग दो।"

सरदार मुस्किरा दिया—"तू ऐसा कहेगी, मैं जानता था। अच्छा, ऐसा ही होगा रूपा !"

रूपा ने कहा—"मुझे तुम्हारे इस रूप से भय लगता है।"

सरदार ठहाका मारकर हँस दिया—"भोली रूपा !"

किंतु रूपा ने आँखें चढ़ाकर कहा—"तुम्हें इस बात का अधिकार किसने दिया कि तुम दूसरे के प्राण हर लो, उसका धन छीन लो।"

इतना सुनकर सरदार फिर गंभीर हो गया—"यह अधिकार तो लिया जाता है रूपा ! छीना जाता है। धन के समान मनुष्य भी सामाजिक है—सभी का है। उसे पाप करने का अधिकार ही कहाँ है !"

रूपा ने चिढ़कर कहा—"फिर भी यह पशुता है—मदांधता है !"

सरदार शांत भाव में बोला—"इस सजी हुई दुनिया में इस मनोवृत्ति को छोड़, क्या कुछ और भी है ? पशुता का राज्य ही सर्वत्र दिखाई देता है।"

इतना सुन रूपा मानो तिलमिला गई। वह अपने आपमें ऐंठ गई। उसे लगा, जैसे उसके मानस में कड़वा और ज़हरीला धुआँ भर गया। उसका रोम-रोम तपने लगा, शरीर ाँपने लगा। उससे बोला नहीं गया

सरदार ने पूर्ववत् ंभीर स्वर में फिर कहा—"बचपन में मैंने

जितना पढ़ा था, इस डाकेज़नी में पड़कर उससे आगे नहीं बढ़ सका, किंतु इतना मैंने भलीभाँति पढ़ लिया कि पैसा पाकर आदमी अंधा बन जाया है। सोने-चांदी की चकाचौंध ने इस मानव को क्या ठीक से देखने दिया है ? धन देकर आदमी की आत्मा छीन ली जाती है, हृदयछीन लिया जाता है। भगवान् और भावना का उपासक था मानव परंतु पैसे ने उसे जानवर बना दिया—निर्विवेक बना दिया।"

रूपा ने कहा—"और, पैसा क्या है, भैया ! सोना-चाँदी—यह मिट्टी का ढेर ! हाय ! इसी ने आदमी को ठगा है !"

सरदार यह सुन कर और अधिक विपाक्त हो उठा—"जिस सोने-चाँदी की बात मैं कहता हूँ, वह तो बिलकुल नगण्य है, रूपा ! मैं उस स्वार्थ की बात लेता हूँ, जो इस दुनिया में फैल रहा है। देखती हो न, पैसा ही आज के इंसान की ज़रूरतों का पिता बना है। सदा से ही—हज़ारों वर्षों से जन-समाज आवश्यकताओं की लौह-ज़ंजीरों से बाँध दिया गया है जिन्हें काटने का एकमात्र अस्त्र है पैसा—वही मध्यस्थ है, वही सर्वसत्ता का आसन ग्रहण कर चुका है। उसी द्वारा मानव ठगा गया है—पराश्रित बनाया गया है।"

रूपा ने पूछा—"किन्तु ऐसा क्यों है, भैया !"

भैया बोला—"स्वार्थ। वह सर्वत्र बोलता है। उसी की कठोर वाणी ने मानव के अंतर में सुलगता चीत्कार, रौरव और हाहाकार दबा दिया है।"

रूपा बोली—"और, इतना होने पर भी, यह इंसान ज़िंदा है—दुनिया चल रही है ?" इतना कहते हुए वह जैसे अत्यंत क्रुद्ध हो गई—"मैं कहती हूँ, प्रलय क्यों नहीं आती—यह दुनियां नष्ट क्यों नहीं हो जाती।"

सरदार व्यंग्य भाव से मुस्किरा दिया—"इससे क्या होगा रूपा बहन ! अनेक बार संसार बना और बिगड़ा है। यहाँ अधर्म है, तो धर्म भी है। न्याय है, तो अन्याय भी है।"

रूपा को इस बात से संतोष नहीं हुआ। उसका मानस उत्तरोत्तर विषैला होता गया। उसके हृदय में जो रोदन, जो चीत्कार परिव्याप्त था, सचमुच ही क्षण-क्षण पर भारी बनता गया। जब सरदार ने धर्म-अधर्म की

बात कही, न्याय-अन्याय की दुहाई दी, तो बरबस उसे अपने जीवन की एक घटना याद हो आई। गाँव के पंडितजी—जो शास्त्रों के ज्ञाता थे, धर्म में निष्ठा रखते थे—एक बार उसके पति के विरुद्ध ज़मींदार की ओर से अदालत में झूठी गवाही देने गए। रूपा को उन पंडितजी पर गहरी श्रद्धा थी—वह उन्हें पुण्य-आत्मा समझती थी, उनके इस अप्रत्याशित कर्म पर उसे दुःख हुआ। रूपा ने सोचा कि मंदिर में बैठकर, प्रतिमा के सामने, पंडितजी घंटों उपासना करते हैं, इस आडंबर का क्या लाभ, जब हृदय में ऐसी कालिमा छाई है—मन में पाप है। उसने कहा—"बड़ी विपत्ति है, धर्म भी हमें कुछ नहीं देता। लगता है, मनुष्यता का पाठ नहीं सिखाता।"

रूपा के मुख से इतनी बात सुनकर सरदार क्षण-भर मौन रहा। तदनंतर ऊपर अंतरिक्ष की ओर देखते हुए बोली—"न, रूपा बहन! धर्म तो है, हमें सब कुछ देता है। हमें जीवन देता है।"

रूपा ने खिन्न स्वर में कहा—"खाक देता है!"

सरदार मुस्किराया—"एक डाकू के मुँह से ऐसा सुनना तुम्हें सचमुच ही अरुचिकर लगेगा—सत्य भी न लगेगा। मैं इस योग्य भी नहीं, पर इतना समझता हूँ कि धर्म न रहेगा, तो मनुष्य जानवर बन जायगा—भेड़िया बन जायगा।"

अपने सूखे होंठों पर जीभ फरकर रूपा बोली—"तो तुम, सोचते हो आज आदमी जानवर नहीं—भेड़िया नहीं?" वह मानो चीख पड़ी—"एक डाकू यह कह रहा है—ओह!"

सुन कर सरदार एकबारगी ही सहम सा गया। मानो रूपा ने उसके मुँह पर तमाचा मार दिया हो। उसकी दृष्टि के सामने यह स्पष्ट हो गया कि रूपा के हृदय में तुझ जैसे नर पिशाच के प्रति अथाह घृणा है। तेरे लिये विषाक्त है रूपा। फल-स्वरूप, सरदार मुँह से कुछ भी न कह सका, परंतु उसका अंतर कोलाहल से भर गया। उसका मानस उद्विग्न हो उठा। उसे अनायास ही इतना आत्मसात् हुआ कि उसके मन का विद्रोह आँखों में आया। जिन आँखों में केवल आग ही आग थी, प्रतिदिन ज्वाला की

चिनगारियाँ फूटती थीं, उनसे आँसुओं की अविरल धारा बह निकली।

रूपा ने सरदार की वे बहती हुई आँखें देखीं, तो वह जैसे पहाड़ से पृथ्वी पर गिर पड़ी हो। वह तड़प गई। यदि वह मूर्च्छित हो जाती, तो कदाचित् चैन पाती। उसकी आँखें तो खुली थीं—उसकी संज्ञा जीवित थी—अतएव उस खूँख्वार और भयानक व्यक्ति को जब निर्बोध बालक के समान अपने सामने रोते हुए रूपा ने देखा, उसका हृदय द्रवीभूत हो उठा—यह बच्चा नादान भोला सरदार। स्नेहमयी बहन रूपा का अंतर अतिशय उद्वेलित हो उठा। उसमें रोमांच पैदा हो आया। उसे उस दारुण क्षण में तनिक भी नहीं सूझ पड़ा कि वह अपने उस भैया से क्या कहे। कैसे कहे कि तुम्हारी भी यह दुर्बलता है। जन्मजात और पुरातन से चली आई ऐसी भावना है, जिसका पक्ष लेकर ही आदमी ने आदमी को ठगा है—आदमी ठगा जाता है। किंतु कहा कुछ नहीं—उससे कुछ भी न कहा गया। रो पड़ी। उसने रोते हुए सरदार का हाथ पकड़ कर कहा—"मेरे भैया!"

"मेरी बहन!"

"मुझे क्षमा कर दो, भैया!"

सरदार ने, कदाचित् इस बात के उत्तर में ही, अपने कोट की जेब से पिस्तौल निकाला, और उसे आगे बढ़ाकर बोला—"रूप! मैं तुझे अधिकार देता हूँ, अभयदान देता हूँ, तू अपने इस भैया पर पिस्तौल में भरी सभी गोलियाँ चला दे—तू इसे समाप्त कर दे और ज़ोर से कह—"ऐ कुत्ते! तू मर यमलोक सिधार! इंसानियत का शाप है तू! कीड़ा है!"

रूपा ने आँसू-भरी आँखों से पिस्तौल देखा। आँसुओं के धुंध में वह काला-काला लोहे का टुकड़ा ही देख पड़ा। वह कितना भयानक था—आदमी की मौत—रूपा ने धीरे से उसे हाथ में ले लिया। उस अवस्था में ही उसने कहा—"तुम्हें केवल इसी शक्ति पर भरोसा है, भैया! यही तुम्हारी धार्मिकता है! क्या तुम्हारा यह कहना है, कि इस पिस्तौल की गोली से आदमी को मार देने से उद्देश्य पूर्ण हो जाता है? आदमी मिट जाय यही हमारा ध्येय है?

"किंतु हृदय को क्षणिक संतोष हो जाता है।" वह बोला—"जानता हूँ, आदमी की आत्मा नहीं मरती, केवल रूप बदलता है, किंतु यही तो मरना कहलाता है।"

"तुम्हीं तो कहते थे, आदमी मरकर भी अपने विचार फैला जाता है। इस ज़मीन में ज़हरीले कीड़े छोड़ जाता है।"

"यह तो मैं अब भी कहता हूँ।"

"और, क्या तुम्हें यह भी कहना है कि जब आदमी कीड़े छोड़ जाता है, तो उनका नाश नहीं हो सकता ? मैं कहती हूँ, हो सकता है।" रूपा ने अपने स्वर पर ज़ोर देकर कहा।

सरदार सहसा कुछ याद करता-सा बोला—"इस नगर से कुछ दूर पर एक मठ है। आज मुझे वहीं जाना है।"

"तुम वहाँ बहुत जाते हो !"

"वह मेरे गुरु का स्थान है। वहीं एक वृद्ध संन्यासी भी रहते है।"

रूपा मुस्किराई—"तो तुम संन्यासी-भक्त हो। और किसके भक्त हो ?"

सरदार ने अपनी आँखों में एक रहस्यमयी पीड़ा लेकर कहा—"मै तो एक ही वस्तु का भक्त हूँ रूपा ! मै मानवता का उपासक हूँ।"

रूपा ने सुना और कड़ुवे ग्रास के समान अपने गले के नीचे उतार लिया।

सरदार उठा, और बोला—"अब मैं देर से मिलूँगा। कई दिनों तक न आ सकूँगा। अगली बार आने पर मैं तुम्हारे पुत्र को अवश्य ही तुमसे मिला दूँगा। तुम्हारे भाई का पता मैं खोज लूँगा।"

"मैंने पढ़ना शुरू कर दिया है। पड़ोस की पाठशाला की अध्यापिका ने मुझे सहयोग का वचन दे दिया है।" रूपा ने जैसे कोई खुश ख़बरी सुनाई हो।

सरदार जाते-जाते रुक गया और हर्षित होकर, बोला—"मेरी अच्छी रूपा !" फिर वह चला गया।

# ग्यारह

एक दिन, जब सरदार फिर नगर में आया, तो वह अतिशय थका और चिंतित-सा था, जब संध्या हुई, सूरज डूब गया, रात के घोर प्रहर में वह रूपा के साथ नगर से बाहर निकल पड़ा। नगर के बाहर नदी थी। नाव पर बैठकर सरदार और रूपा ने उस विशाल नदी को पार किया। वे जब दूसरे किनारे उतरे, तो सरदार ने रूपा का हाथ पकड़ लिया, और बीहड़ वन की ओर बढ़ चला। पथ पर चलते हुए सरदार ने रूपा से कहा—"पथ कठिन है, लक्ष दूर। भय न खाना, रूपा!"

रूपा ने पूछा—"क्या इसी वन में वह मठ है? यहीं तुम्हारे गुरु रहते हैं?"

उस समय चाँद निकल आया था। चारो ओर चाँदनी फैली थी।

सरदार ने कहा—"हाँ, यहीं रहते हैं।" इतना कहना था कि उसने फुर्ती के साथ रूपा को ऊपर उठा लिया। रूपा चौंक पड़ी, और डर गई। बरबस उसके मुख से चीख निकल गई। तभी उसने देखा, एक काला साँप, तेज चाल से लहराता हुआ, रूपा और सरदार के पास से निकल गया। जब वह दूर चला गया, रूपा ने ठंडी साँस ली—"हे परमात्मा!"

सरदार मुस्किराया—"तेरे परमात्मा ने आज तुझे बचा लिया।"

अनुरक्त भाव में रूपा बोली—"तुमने बचा लिया भैया। तुम्हीं ने इस समय परमात्मा का रूप ले लिया।"

सरदार हँस दिया—"तो मैं भी परमात्मा हूँ—भगवान् का अंग हूँ।"

रूपा ने अनुभूति-पूर्ण भाव से खिलते हुए चाँद की ओर अपना मुँह उठाकर कहा—"तुम चाहे न मानो मैं यही मानती हूँ। मैं सबमें भगवान् देखती हूँ—तुममें भी।"

उसी समय, दूर पर, आग जलती हुई दिखाई पड़ी। ऊँची लपटें उठ रही थीं। सरदार ने उसी ओर देखते हुए कहा—"रूपवती, देखती है, वह किसी की चिता जल रही है।" उसने साँस भरी—"अरमानों की होली जल रही है!"

रूपा ने उस ओर देखा। उसका मानस उसी ओर उलझ गया, किंतु वह कुछ बोली नहीं।

सरदार बोला—"इस वन के उस पार ही एक गाँव है, जहाँ बीमारी फैली हुई है। रोज़ ही एक-दो आदमियों की मौत होती है।"

रूपा ने कहा—"तुम्हें कैसे पता ?"

सरदार मुस्किरा दिया—"मुझसे क्या छिपा है। इन गाँवों में तो मेरा रोज़ का आना-जाना है।"

चकित स्वर में रूपा ने पूछा—"तो तुम्हारा सब जगह जाना होता है ?" इतना कहते हुए वह चौंक गई, और एक सियार को निकलते देख ठिठक गई।

सरदार ने कहा—"इस जंगल में शेर-बाघ भी मिलते हैं। रात में सभी जानवर निकलते हैं नदी पर पानी पीने के लिए।"

"बड़ा दुर्गम स्थान है ! अब कितनी दूर और चलना है ?"

"बस, आ ही गए। वह सामने है।"

"क्या मंदिर ?"

सरदार हँस दिया—"अरी, पगली ! खँडहर है वह—किसी पुराने समय की इमारत जिसके कुछ अवशेष खड़े हैं। उसी में वह महापुरुष रहते हैं।"

कहते हुए सरदार एक विशाल किंतु भग्न पथरीले द्वार में प्रविष्ट हुआ। उसी के अंदर चलता हुआ वह बोला—"यह इमारत भी अपने बीते हुए दिनों की याद करती होगी। सुनता हूँ, किसी नवाब की बेगमें रहती थीं इसमें और यहाँ से नदी का आनंद लेती थीं। जो हो, ये खँडहर इस बात के गवाह ज़रूर हैं कि यहाँ किसी दिन निरीह और बेकस जनता के शोषण से प्राप्त की गई संपदा की होली खेली गई होगी और यहीं उन वभव के पुजारियों ने अपने अरमानों अंत्येष्टि क्रिया भी देखी होगी।"

रूपा ने कहा—"कैसी बात है ! दो दिन की जिन्दगी के लिये आदमी सभी कुछ करता है। जाने क्या कुछ भोग लेना चाहता है इतने अल्प समय में।"

"निर्बलों की लाश पर बलवानों ने सदा ही सोने-चाँदी के महल निर्मित

" रदार ो अपने आप से कह रहा हो।

उस खँडहर को चारों ओर देखते हुए रूपा ने कहा—"बहुत बड़ी जगह है। सच, जब कभी यह इमारत रही होगी, बनाई गई होगी, अपूर्व लगती होगी।"

सरदार ने जैसे उसका समर्थन किया—"देखने योग्य होगी।"

तभी वे दोनों एक कोठरी के सामने आ खड़े हुए। कोठरी में हल्का-सा दिया टिमटिमा रहा था। एक वृद्ध व्यक्ति नीचे पृथ्वी पर पड़ा था। आँखें बंद किए ध्यान-मग्न। आहट पाकर, उसने आँखें खोली और उनकी ओर देखने लगा। श्रद्धापूर्वक सरदार ने उसके पैरों में सिर झुकाया। रूपा ने भी हाथ जोड़कर प्रमाण किया। तभी वह साधु, रूपा को लक्ष कर, सरदार से बोला—"तो यह है वह औरत—ज़मींदार विक्रम का शिकार।"

सरदार ने कहा—"महाराज! यही है वह रूपवती!"

"बैठो-बैठो। आसन ले लो।" साधु ने रूपा की ओर देखकर कहा—"तू तो यहाँ तक आने में थक गई होगी, बेटी! परंतु डरी तो न होगी।" वह मुस्किराए—"जब तू डाक-सरदार के मुंह पर उसी के घर में तमाचा मार सकती है, तो ज़रूर हृदय की मज़बूद होगी।"

सरदार हँसा—"महाराज, एक काले नाग ने हमला किया था पर बच गए। पैर के पास से चुपचाप निकल गया।"

साधु ने कहा—"इस जंगल में साँप बहुत हैं, जहरीले भी हैं। इन खँडहरों मे तो निन्य विचरते हैं। काले बिच्छू भी अक्सर दिखाई देते हैं। किसी दिन चीता-बाघ भी आ जाता है। किसी भी कोने में आकर बैठ जाता है, और रात बिता कर चला जाता है।"

रूपा ने पूछा—"बाबा, तुम्हें डर नहीं लगता?"

बाबा हँस दिए—"बेटी, इस बुढ़ापे में अब क्या डर लगेगा? जलता हुआ दिया अब तब बुझने वाला है।"

रूपा ने पूछा—"बाबा, क्या सचमुच ही दिया बुझ जाता है—रोशनी चली जाती है?"

बाबा ने सुना, और किंचित् रूपा की ओर देखकर सरदार को लक्षकर

बोले—"तेरी बहन बुद्धिमती है रे, सरदार!" उन्होंने अपनी वृद्ध आँखों में प्यार और स्नेह का भाव लेकर रूपा से कहा—"बेटी, चिराग़ तो बहुत हैं। सभी जलते हैं, सभी प्रकाश करते हैं। सच कहती हो तुम, दिया बुझता नहीं—

इतना कहकर बाबा क्षण-भर मौन रह गए, और फिर बोले—"परंतु उजाला तो इस अँधेरे में डोलता है। केवल साधना और साधन का सम्मिश्रण ही प्रकाश में मदद देता है।" बाबा ने कहा—"आत्मा के जिस प्रकाश की बात—जीवन-मृत्यु की बात तूने कही—उसके लिये भी मेरा मत है कि मृत्यु अपना कोई अस्तित्व नहीं रखती। जिस मौत की बात तुम कहती हो, वह मनुष्य को एक जीवन में ही जाने कितनी बार झेलती है। वह एक ही जीवन में इतनी अभ्यस्त बन जाती है कि आदमी उसे पहचान नहीं पाता। उसे देख नहीं पाता, समझ नहीं पाता। वह आती और चली जाती है। वह प्राण तो एक काया बदलकर दूसरी काया में चला जाता है। यह तो बहुत ही तुच्छ और छोटा प्रश्न रह जाता है।"

उसी समय सरदार ने हाथ में ली हुई एक पोटली बाबा के सामने रख दी। बाबा ने पोटली खोली। दवाइयों के डिब्बे, शीशियाँ और नोटों की गड्डियाँ थीं उसमें। देखकर बाबा ने कहा—"सरदार, आज भी दो मरे हैं। अभी शाम को जो मरा, वह तो भूख से मरा है। जवान, मा की एक ही संतान।"

सरदार ने साँस भरी—"बाबा, ऐसा तो नित्य हो रहा है। मैंने भी देखा-सुना है।"

बाबा ने कहा—"इन रुपयों से अनाज का काम चल जायगा। कल गाँव के सभी व्यक्तियों को अन्न मिल जायगा। सुनता हूँ, सरकार ने भी कुछ देने का प्रबंध किया है। दवाइयाँ भी भेज दी हैं। आज एक डॉक्टर भी आया है।" बाबा बोले—"तुम्हे कल ही आना था, मैं रास्ता देख रहा था तुम्हारा।"

सरदार ने कहा—"बाबा, कल निशाना खाली गया। अवसर की बात कि जिस जगह गया, कुछ नहीं मिला। मुझे ग़लत समाचार मिला था। लाला नहीं था, उसकी विधवा पत्नी थी। जब उससे धन देने के लिये कहा, अपनी बंदूक़ उसकी छाती पर रक्खी, उसने नितांत सरल भाव में कहा—"इसकी जरूरत

नहीं। घर पड़ा है। वह सामने आलमारी है, वहाँ पाँच रुपए रक्खे हैं। आज ही मैंने सूत कातकर मज़दूरी में प्राप्त किए हैं।"

मैंने धमकाया—"तू झूठ बोलती है। पुराना घर है। इतना बड़ा महल है, तो बाबा······सरदार रुक गया, पुनः बोला—"वह स्त्री खड़ी हो गई, और कहने लगी—"मैं झूठ नहीं बोला करती। मेरा पति गया, पुत्र गया, अब अपनी ज़िंदगी की दुआ नहीं माँगती। चाहो, तो ये रुपए उठा लो। घर भी खोज लो। कल आते, तो वह भी न मिलते। मैं अनाज ले आती। आज नहीं था, दिन-भर से मुँह में दाना भी नहीं गया।" सरदार ने साँस भरी, और कहा—"बाबा, मैं उसकी बात पर रो पड़ा—रोमांच हो आया। जितने रुपए मेरे पास थे, वे भी उसे दे आया। मैं लौट आया।"

बाबा हर्ष से बोले—"शाबाश !"

रूपा ने कहा—"लेकिन बाबा, यह डाका डालना क्या अच्छा है? मानव कल्याण के लिए मानवता का गला घोंटना है यह।"

सुनकर बाबा ने रूपा की ओर देखा, जैसे उसे घूरा।

रूपा पुनः बोली—"यह चोरों का देश—लुटेरों का देश......"

तुरंत ही सदय भाव से बाबा ने कहा—"बेटी, तुम्हारी बात असंगत नहीं, किंतु इतना और समझ लो कि इस परंपरा को अविष्कार किसने किया? कौन है, वह मदांध, जो इस दुराचार को जन्म दे रहा है?" वृद्ध योगी ने जलते हुए दिए की ओर देखकर कहा—"ये रईस और नवाबजादे निर्धनों का खून चूसकर—अमानुषीय बनकर ही, ऊँचे महलों का निर्माण करते हैं। ये खँडहर भी यही पुकारते हैं—चिल्लाते हैं, हमारे इस सूखे हुए चूने-मिट्टी में और इन पत्थरों में मानव का खून—मांस मिला है। वही खून और मांस चिल्ला रहा है—इतिहास बनकर पुकार रहा है। यह हमारे पाप का फल ही है कि जीवन के लिये मौत पाई, और मौत के लिए जीवन।"

रूपा बोली—"पर बाबा, यह सब क्यों? यह समस्या क्यों?"

बाबा के स्वर में तेज़ी थी, आँखों में क्रोध—"यह केवल इसलिए कि इस दुनिया में दुर्बल दबाया जाता है, दास बनाया जाता है। पेट भरने के लिये उसके मांस को भी चबाया जाता है!"

रूपा ने सुना पर सहमत नहीं हो सकी। वह समझ नहीं पा रही थी। अतएव सरदार की ओर अर्थहीन दृष्टि से देखने लगी।

सरदार बोला—"बाबा, रूपा आपसे सहमत नहीं।"

बाबा ने कहा—"यह विषय सुगम नहीं है। एक दिन में समझनेवाला भी नहीं।" फिर बोले—"बेटी, कुछ खाओगी? आले में वे अमरूद रक्खे हैं, उन्हें खा लो। चने भी रक्खे हैं।"

रूपा ने कहा—"हम खाकर आए हैं, बाबा।"

बाबा ने कहा—"बेटी, मुझे सरदार ने तेरे विषय में सभी कुछ बताया है। मैं उस विक्रम को जानता हूँ, और उसकी मदांधता से भी परिचय है। सरदार कहता था, मैं उसे मार डालूँगा, पर मैंने इसे रोक दिया। तनिक सोचो तो, एक विक्रम को मार देने से कुछ होगा। जो अवस्था है, परिस्थिति है, जब तक उसका नाश नहीं होगा, क्या रूपा-सरीखी अनेक अबलाओं का उद्धार हो सकेगा?"

रूपा ने कहा—"फिर इसका क्या उपाय है, बाबा?"

बाबा ने कहा—"वह तुम्हारे पास है। त्याग करो। समाज के लिये काम करो। अपना बलिदान, रूपवती!"

विनीत भाव में रूपवती ने कहा—"मैं प्रस्तुत हूँ, महाराज!"

बाबा ने कहा—"साधना करो।"

रूपा ने कहा—"बाबा, मैं उसके लिए भी प्रयत्नशील हूँ।"

सरदार बीच ही में बोला—"रूपा पढ़ रही है।"

बाबा ने कहा—"यह बड़ा ही अच्छा है।" फिर रूपा की ओर देखा—"यह सरदार केवल डाकू नहीं है रूपवती! यह तो डाके से जो कुछ प्राप्त करता है, उसे जाति और समाज के काम में लगाता है। यह सब मेरे ही आदेश पर होता है।"

रूपा ने फिर कहा—"लेकिन बाबा, मुझे समझाओ, इस परंपरा से क्या समाज का भला होने वाला है? डाका डालना, लूट मार करना क्या सज्जनता है मानवता है?"

बाबा ने कहा—"मुझे तेरा यह कथन प्रिय लगता है। नारी के मुँह से यही शोभता है।" तदनतर ही बाबा अतिशय गंभीर होकर बोले—"लेकिन रूपवती, तूने तो चित्र का अभी एक ही पहलू देखा है। अभी तूने इस मनुष्य-समाज का विस्तृत रूप कहाँ समझा है। मैं कहता हूँ, डाका डालना और चोरी करना ऊँचे महलों की ही गौरव गाथाओं में आता है—समाज को वहीं से सिखाया जाता है कि स्वार्थ सिद्धि की एक मात्र यही प्रणाली है। उन्हीं महलों में बताया जाता है कि तेज़ छुरा किसके पेट में भोंका जाय !" बाबा ने कहा—"आदमी भूखा न हो, नंगा न हो, तो क्या कोई चोर बनता है, डाकू बनता है ? बेटी, आदमी तो गंगा-जल के समान पवित्र बनकर आता है। यह दुनिया का कारख़ाना ही नए-नए रूप में इस मानव को प्रदान करता है—उसे बनाता-बिगाड़ता है।"

चिंतित और खिन्न स्वर में रूपा ने प्रश्न किया—"तो इसका निदान क्या है ? ख़ून ? हत्या ? डाका ? यह लूट ?"

बाबा ने सरदार की ओर देखा और मुस्किरा दिए—"जब शरीर में फ़ोड़ा बढ़ता है, तो शल्य-चिकित्सक उसे काटकर फेंक देता है, रूपवती !"

रूपवती ने कहा—"आप के सिद्धांत से वह मारा भी जा सकता है।"

सरदार ने कहा—"हाँ, ऐसा रोगी मार भी दिया जाता है। जब कोई रोग असाध्य होता है—समाज के लिये अहितकर। मैंने अनेक धनिकों की हत्या की

व्यंग्य भाव से रूपा बोली—"तुम बड़े बहादुर हो। देखती हूँ, अपनी शक्ति पर अभिमान है तुम्हें !"

सरदार हँस दिया—"बाबा, यह तो मुझे ही डाँटती है।"

बाबा ने हँसकर कहा—"रूपा ठीक कहती है। मारना बहादुरी नहीं, मस्तिष्क की कमज़ोरी है। विचार-हीनता भी है।" उन्होंने कहा—"लेकिन एक स्थिति ऐसी भी आती है, जब आदमी लूटा जाता है, मारा भी जाता । "
पुनः बोले—"रूपवती, आज ऐसा ही समय आ गया है। मानव ी त ; , भयभीत है। उसके उद्धार के लिये आज ऐसी भी आज्ञा दी जा सकती

यह समस्या का सुलझाव तो नहीं, किंतु परिस्थिति के साथ समझौता है—मतैक्य है । आज क्रांति का युग है। चारों ओर आँधी उठ रही हैं। समाज की पीड़ा, व्यक्ति की आह स्वतः ही आग बनकर चारों ओर फैल चुकी है। वह आग जन-जन को तपा रही है—जला रही है।" बाबा ने बाहर अंधकार में अपनी दृष्टि फेंकते हुए कहा—"इस मानव की दीनता आज पराकाष्ठा को पहुँच गई । आज मानव की पाशविकता में भी गौरव है। बर्बरता और पाशविकता के चीत्कारों में दुर्बल मानव की आत्मा सिकुड़कर भिंच गई है। यही कारण है कि आज का व्यक्ति बोल नहीं पाता। सदियों की दुर्बलता ने उसे आत्म सम्मान भी भुला दिया है। उसके मुँह में वाणी नहीं रह गई। रूपा बेटी, डाका डालना भी उसी की प्रतिक्रिया-भर है, समस्या का हल नहीं।" उन्होंने कहा—"इस दूसरी कोठरी में ही एक आदमी पड़ा है। वह आज ही यहाँ आया है। वह भी युवक है, तेजोमय है, परंतु अफ़सोस! चिंता और दुराशाओं ने उसकी काया का सौन्दर्य छीन लिया और आत्मा का भी। वह चार दिन का भूखा आज मेरे द्वार पर आया। आते ही मौत की भीख माँगने लगा। मैं बूढ़ा व्यक्ति उसे देखते ही थर्रा गया। कुछ दिन पूर्व जब उसे मैंने देखा था, उसके चेहरे पर कैसा सौन्दर्य, कैसा तेज था।"

रूपा ने कहा—"बाबा, इस दारिद्र का बोझ तो मेरे सिर पर भी रहा है। मुझे इसका पता है। भूख का भी पता है, और धनिक द्वारा पाये गये कष्टों का भी पता है।"

बाबा ने कहा—"तुम मेरे बताए पथ पर चलो, रूपवती! इन धनिकों के लिये काल बनो। जो कुछ मैंने सरदार से कहा है, वही मुझे तुमसे कहना है। तुम भाई-बहन अपना पथ प्रशस्त करो।"

श्रद्धा के साथ आत्मभाव में रूपा ने कहा—"बाबा, मुझे स्वीकार है।"

"और, तुम्हें यह भी स्वीकार है कि इस पथ पर चलते हुए प्राणों की भी चिंता न होगी।" बाबा ने वचन लिया।

रूपा बोली—"प्राण तो मेरे कई बार जाकर लौट आए हैं, बाबा! ऐसा लगता है, वह अजेय है।"

बाबा ने गद्‌गद् कंठ से कहा—"चिरजीवी रहो, बेटी!"

---

## बारह

रूपा नगर लौटी, तो अतिशय गंभीर और अपने आप में डूबी हुई थी। वह एक तपस्वी की कुटिया से लौट रही थी। उस सन्यासी ने जिस रीति से रूपा को जीवन की व्यवस्था और व्याख्या समझाई सचमुच ही उसके लिये अनोखी थी। वह अब तक जिस जीवन को साधारण पहेली तुल्य मानती थी, उसी को वृद्ध संन्यासी ने मानव-मन की ऐसी आस्था बताई, जिसकी संतुष्टि किसी एक जीवन में नहीं हो सकती थी। बाबा का मत था, यह प्राण-जीवन निरंतर ही चलता है जल के समान तरंगित होता है, हवा के परों पर बैठा हुआ सर्वत्र घूमता है।

रात में साधु ने कहा था—"रूपा! साधना का ही नाम जीवन है। इसे छोड़ने, इससे मुँह मोड़ने का अर्थ है, अपने ही हाथों अपने जीवन का नाश! इतनी अलभ्य वस्तु को कौड़ियों के मोल लुटा देना क्या बुद्धिमत्ता है?"

प्रातः की बेला में बाबा जब घूमने निकले, सरदार और रूपा भी साथ थे बातें करते बाबा और रूपा आगे आगे चल रहे थे। बाबा ने रूपा को लक्ष कर कहा—"बेटी, यह डाकू-सरदार, जिसे लोग सरदारसिंह कहते हैं वर्षों से मेरे पास आता है। जानता हूँ, पुलिस इसके पीछे लगी है। यह पकड़ा गया, तो फाँसी भी पा सकता है।" उन्होंने तभी अपना हाथ रूपा के कंधे पर टिका कर कहा—"पुलिस और फ़ौज भी सरमाएदारी की रक्षा करती है। मानो वह उन्हीं के लिये बनाई गई है।" वह बोले—"रूपवती, यदि देश के शासन में नियमितता हो, उदारता हो, न्याय हो, तो देश को न पुलिस की आवश्यकता है, न फ़ौज की। तुम जिन डाकुओं और बदमाशों की बात कहती हो, उनका जन्म ही पूँजीवाद के गढ़ में होता है।" उन्होंने कहा—"समाज निरंतर ठगा जाता है, उदार मानव क्रूर बनाया जाता है। वायदों और विश्वासों की इस दुनिया में, सहस्रों वर्षों से ही, इंसानियत का उपहास किया गया है।"

उसी समय रूपा ने कहा—"फिर धर्म क्या है, महाराज ? क्या यह ढोंग है ? व्यक्ति का प्रमाद अथवा छल है ?"

बाबा ने कहा—"यह भी एक बड़े रहस्य की बात है, रूपा बेटी ! वैसे धर्म तो अपने आप में स्थिर है, दृढ़ है, महान् है, लेकिन चिंता यही है कि उसका उपयोग गलत ढंग से किया जाता है। सोने-चाँदी की चादरों से उसे ढक दिया गया है। जैसे उसका दम घोटा गया है—उसे निष्प्राण बनाया गया है।" कहते हुए बाबा की आँखों में एक चमक आई, और स्वर में तेज़ी—"रूपवती ! यह त्रस्त मानव धर्म के द्वार से भी धक्का मारकर निकाला जाता है। इसका वहाँ भी अपमान किया जाता है। जिस विशाल देश की तुम रहनेवाली हो, वहाँ धर्म की आड़ में भ्रूण-हत्याओं का अंबार लगा हुआ है।"

उसी समय, एकाएक विचलित होकर, रूपा बोली—"पर बाबा, धर्म तो है, उसको माननेवाले तो हैं। जब शरीर है, तो आत्मा भी है। धर्म किसी वर्ग या व्यक्ति विशेष की वस्तु तो है नहीं।"

इतना सुन कड़ुए भाव से बाबा मुस्कराए—"काश, तुम्हारा कथन सत्य होता।" वह बोले—"बेटी, इस विशाल देश में, महान् हिंदू-जाति के अंतःपट में जो स्वार्थ की गंध एक बार समाविष्ट हुई, वह इतनी तीक्ष्ण और विषैली बनकर फैली कि जन-जन की वाणी, और मस्तिष्क शिराएँ बरबस ही संकुचित हो गईं—अपदस्थ हो गईं।" उन्होंने साँस भरी, और कहा—"तुम आज भी देखती हो, बड़ी जातियाँ जिनके पास बल है, धर्म के अमर वाक्य भी उन्हीं के आश्रित हैं—क़ैद हैं।"

मानो फिर चिढ़कर रूपा ने कहा—"किंतु बाबा, ऐसा क्यों ?"

बाबा ने सरल भाव से कहा—"इसलिये कि धर्म के द्वारा ही सदा से इस साम्राज्यवाद और सरमाएदारी ने जन-समाज का खून अपने स्वार्थ के लिये संगृहीत किया है—उन्हें बकरों के समान कटाया गया है। समान रूप में यदि छोटी जातियों को भी धर्म पालने का अधिकार होता, उन्हें उपासना-गृहों में जाने दिया जाता, जलाशयों पर पानी भरने दिया जाता, तो क्या फिर इस विशाल देश का आत्म-सम्मान आज इस प्रकार पद-दलित किया जाता ? न,

बेटी ! फिर तो शूद्र और पतित समाज भी उठा हुआ लगता। उसके आत्मभाव का बोल तुम्हें सुनाई पड़ता। किंतु हाय ! स्वार्थियों ने धर्म छीना, और पेट का दाना भी। दलित-समाज का पेट मसोस दिया, उनका आर्थिक बहिष्कार किया। उच्च वर्ग ने एक तीर से दो निशानों का काम लिया।"

रूपा ने बाधा दी—"बाबा, छोटी जातियों का क्या स्वयं ह्रास नहीं हुआ ? उन्होंने अपना अस्तित्व समझने का प्रयत्न ही कब किया ?"

बाबा ने कहा—"बेटी, यह भी तुम्हारा भ्रम है। इतिहास बताता है, उन्हें इस अवस्था में लाने के लिये सरमाएदारों ने बड़े छल किए—अनेक बार बर्बरता का प्रदर्शन किया और साम्राज्यवाद ने उन्हें साहाय्य प्रदान किया। दास-जाति और दास व्यक्ति का निर्माण ही इसलिये हुआ कि प्रभुत्व की भावना फले-फूले—शक्तिमान् विशिष्ट और तेजोमय दिखाइ देता रहे।" उन्होंने कहा—"यदि व्यक्ति-समाज समान होता, एक रूप बनकर अपने स्वार्थ को लक्ष करता, तो आज यह परिस्थिति न होती—व्यक्ति यों न रौंदा जाता ! यह विभाजन, यह वर्ग-भेद, यह जातियों का पृथक्करण सरमाएदारी की उस नीति का उदर-पोषण करता है, जिसे पालने में इस नर-समाज ने हज़ारों वर्षों का समय व्यतीत कर दिया। बड़ी जातियों ने सदा पैसा अपने हाथों में बटोर लिया। उस पर अपना अधिकार कर लिया। पृथ्वी अपनी बना ली। बरबस अपने आपको समाज और देश का सिरमौर बनाने का सफल और सबल प्रयत्न किया।"

उसी समय, कुछ रुककर, बाबा ने पीछे की ओर देखा। सरदार पीछे रह गया था। बाबा ने पुनः कहा—"यह सरदार सिंह जानता है—यह दर्शक रहा है कि समाज में जो कुछ हो रहा है, अकाल के मुँह में जिस प्रकार मानव-प्राण को झोंका जा रहा है, उसका एकमात्र कारण है यही धनिक वर्ग, जो आज सर्वसत्ता-संपन्न है। यह एक क्षण के लिये भी स्वीकार नहीं करता कि उसकी प्रभुता में कमी हो—उसके विलास-पूर्ण वैभव में किसी प्रकार की बाधा पड़े। और, आज यह प्रमादी व्यक्ति इतना अंधा और अविवेकी बन चुका है,—अदूरदर्शी हो गया है कि यह नहीं सोचता, सभी के पास प्राण है, सभी को अपना

जीवन प्यारा है—ईश्वर की इस सृष्टि में सभी की वाणी में भगवान् बोलता है।" इतना कहकर बाबा ने कुछ ज़ोर से कहा—"अरी, रूपवती! इस मानव ने आज भगवान् को भी पीछे छोड़ देना पसंद किया है। एक ओर जहाँ उसका प्रचार किया जाता है, तो दूसरी ओर इन प्रभुता-संपन्न व्यक्तियों ने उस भगवान् का अस्तित्व मिटाने का भगीरथ प्रयत्न भी किया है। इस धन ने एक ओर भगवान् की प्रतिमा को सुंदर मंदिर में प्रतिष्ठापित किया, तो दूसरी ओर यह भी समझाया कि भगवान् कुछ नहीं, पैसा ही श्रेष्ठ है—'सर्वे गुणाः काञ्चन-माश्रयन्ति।" बाबा ईर्ष्या-भाव में हँस दिए—"यह बहुरूपियापन इस संसार में सदा से चल रहा है—सर्वत्र दिखाई देता है।"

रूपा ने साँस भरी—"हाँ, बाबा! यह तो स्पष्ट ही है।"

"और, यह नहीं दिखाई देता कि धर्म के पुजारियों ने ही इस शास्वत मानव का संहार किया है?"

हाँ, यह भी दिखाई देता है बाबा!

"आओ, चलें। लौट चलो।" वह लौटते हुए बोले—"सरदार तो जाने किस विचार में डूबा चल रहा है। यह भी जाने क्या सोचता रहता है।" तभी उन्होंने कहा—"रूपवती, सरदार बड़ा सरल है। ऊपर से भयंकर है, भारी है, परंतु इसका अंतर मोम के समान कोमल है, हवा के समान हल्का। इसने अपना जीवन जनता-जनार्दन के लिये होम कर दिया है।"

रूपा ने कहा—"पर बाबा, यह डाका डालना मुझे नहीं जँचता। यह मानवीय कर्म नहीं।"

बाबा ने कहा—"सरदार तो स्वयं भी इसके विरुद्ध है। क्या तू अभी भी नहीं समझी कि इसी के द्वारा वह अनेक विधवाओं, और ग़रीब विद्यार्थियों की सहायता कर पाता है। इसे तो मैंने अनेक बार उसे रात में रोता हुआ पाया है। वह सरमाएदारी से लड़ रहा है। पथरीले क़िले की दीवारों से टक्कर मार रहा है, यह सरदारसिंह!"

रूपा ने कहा—"क्या ऐसे सफलता मिलेगी? विजय प्राप्त होगी?" फिर स्वतः ही कहा—"बाबा! वह क़िला अभेद्य है। उसकी दीवारें मज़बूत हैं। देश की पुलिस और फ़ौज का सरंक्षण उसे प्राप्त है।"

उसी समय सरदार पास आ गया। उसने रूपा की बात सुन ली। विषय समझ लिया। तुरंत ही बोला—"क्यों नहीं ?"

किंतु रूपा ने कहा—"मुझे संदेह है, भैया !"

बाबा ने कहा—"यह स्वाभाविक है। तुमने अभी यह पथ कहाँ देखा—समस्या को कहाँ समझा है !"

रूपा ने विनीत स्वर में कहा—"किंतु मैं समझना चाहती हूँ। बाबा, मैं अब इसी पथ पर बढ़ना चाहती हूँ।"

बाबा ने कहा—"पथ खुला है।"

"परंतु बाबा,"—रूपा ने कहा—"मैं अजान हूँ। बच्ची हूँ।"

बाबा ने कहा—"इच्छा होगी, तो सरदार मदद करेगा—राह दिखाएगा।" तभी बाबा ने सरदार के उन्नत ललाट को लक्ष किया और उससे कहा—"तुम पीछे रह गए, तो मैंने रूपा से जाने क्या-क्या कहा; और इसने भी जाने कैसे कैसे प्रश्न किए।"

सरदार रूपा की ओर देखकर मुस्किरा दिया—"मैं इसीलिये पीछे चल रहा था। मैं यही चाहता भी था।"

बाबा समझ न सके—"अर्थात् ?"

सरदार मुस्किराया—"बाबा, यह रूपा मुझसे लड़ती है। कहती है, मैं अच्छा काम नहीं करता और, मैं, मेरी यह दुर्बलता है इसे अपने मन की बात समझा नहीं पाता।"

यह सुनते ही रूपा ने श्रद्धायुक्त स्वर में कहा—"भैया, मुझे बाबा ने आज सभी कुछ बता दिया है—समझा दिया है।"

"तो तू अब भी मुझे डाका डालने से रोकेगी ? मुझ पर संदेह करेगी ?"

तब रूपा ने दूर अंतरिक्ष की ओर देखते हुए कहा—"मैं नारी हूँ, दुर्बल भी हूँ, कदाचित् इसीलिये मैं खून और डाके के प्रति सहमत होने से कतराती हूँ। मैं आज भी इसे तुम्हारा दुस्साहस मानती हूँ—पाप और प्रतिहिंसा समझती हूँ। मैं सोचती हूँ, क्या यह हिंसा प्रतिहिंसा रोग का उपचार है ? यह केवल समस्या का विरोध है, इलाज नहीं।"

बाबा ने कहा—"समय आ रहा है। प्रकृति के इस विराट् रूप में अपने आप ही सब कुछ बन-बिगड़ रहा है।"

सरदार ने कहा—"मुझे अभी शहर चल देना होगा। तुम्हें शहर के बाहर छोड़ दूँगा। सुना है, मुझे पकड़ने के लिये सरकार ने अधिक प्रतिरोध और सतर्कता का आश्रय लिया है। इनाम भी बढ़ा दिया है।"

सुनकर दोनों मौन रह गए। लगा कि बाबा और रूपा, दोनों ही सरदार के जीवन की ममता में डूब गए। वे खँडहरों की ओर लौट चले वहाँ आकर बाबा ने कहा—"सूर्य निकल आया है। मुझे भी गाँव गाँव में जाना है। दवा बाँटनी है। अनाज के लिये रुपया देना है।"

सरदार ने कहा—"हम चलते हैं।"

दोनों चलने को उद्यत हो गए। रूपा ने बाबा के चरण स्पर्श किए। बाबा ने कहा—"बेटी,कभी कभी आया कर। अब अपने जीवन का लक्ष निर्धारित करले।"

रूपा ने कहा—"आपका आशीष चाहिए बाबा। मैं दुर्बल हूँ, बल चाहिए।" और दोनो ने वह स्थान छोड़ दिया।

जब रूपा फिर नगर में प्रविष्ट हुई, तो काफी थक गई थी। सरदार ने कहा—"आज लखना अवश्य आएगा। शाम को वह मास्टर के यहाँ जाता है। वहीं मुझे मिल जायगा।"

किंतु संध्या समय लखना मास्टर के यहाँ नहीं मिला। सरदार देर तक परेशान रहा। अंत में वह उसे पार्क में बैठा मिला। उसे साथ लेकर वह रूपा के घर पहुँचा, अपने बच्चे की दुर्बल काया देखकर रूपा का हृदय रो उठा। जैसे किसी ने उसके हृदय पर घूँसा मार दिया हो।

सरदार बोला—"इस स्वार्थी दुनिया में सभी मतलबी होते हैं। देखता हूँ, मामी ने लखना को अपनाकर नहीं रक्खा।"

सुनकर रूपा कुछ न बोली, किंतु लखना की आँखों से निकलते आँसुओं ने अवश्य ही सरदार की शंका का समाधान कर दिया।

सरदार ने कहा—"मास्टर ने मुझसे स्वयं कहा था, लखना मुसीबत में है। पेट भर भोजन भी नहीं मिलता।"

रूपा गंभीर थी। जैसे वह जीवन की गहराई में उतर गई हो।

सरदार ने फिर कहा—"मैं आज जल्दी न आ सकूँगा। लखना यहीं रहेगा। इसके मामा को बुलाकर कह देना, हम मा-बेटों ने कुछ दिन यहीं रहने का विचार किया है।"

रूपा ने पूछा—"तो तुम कब आओगे, भैया ?

सरदार जाते जाते द्वार पर रुक गया। "मैं कभी भी आ जाऊँगा। जब बहन के हाथों की रोटियाँ याद आएँगी, तभी आ जाऊँगा।" वह हँसकर बोला।

सरदार चला गया। और रात के अँधेरे में नगर के कोलाहलपूर्ण प्रकाश में पहुँच गया। इधर रूपा ने लखना को मामा के यहाँ यह कह देने के लिये भेज दिया कि मा आ गई है, वह मा के पास ही रहेगा। अपनी किताबें और कपड़े भी ले जाएगा।

रूपा सोच रही थी—आह! यह जीवन·········जैसे पहाड़- सरीखा बोझ मेरे सिर पर आ गया! यह सरदार······बाबा······ओह!" रूपा को अपना जीवन नितांत रूखा और भयानक जान पड़ा। उसी समय पड़ोस की एक स्त्री आई। बोली—"तुम कहाँ गई थीं बहन ?"

रूपा ने कहा—"अपने भाई के यहाँ गई थी। पिताजी से मिलने।"

पड़ोसिन बोली—"रात यहाँ एक कांड हो गया। पड़ोसी लाला हैं न, उन्होंने किराएदार का सामान सड़क पर फिकवा दिया और उसकी जवान लड़की का अपमान किया!"

रूपा ने इतनी बात सुनी, पर अपना कोई मत नहीं दिया। उसकी साँस एक-सी गई—मन में ऐंठन होने लगी। उसे लगा कि उसके अंतर में ज़हरीला धुँआ चारों ओर फैल गया है!

# तेरह

ज़मींदार विक्रम ने लक्खी के पिता लालमन चौधरी को अपने घर बुलाकर अपमानित करने का प्रयत्न किया और लालमन द्वारा स्वयं अपमानित हुआ, इस बात की चर्चा गाँव में जन-जन के मुँह पर आ गई थी। गाँव के जिस स्कूल में विक्रम का छोटा लड़का पढ़ रहा था, वहीं लालमन का लड़का भी पढ़ने जाता था। बड़ों की बात उन बच्चों में भी चल रही थी। स्वभावतः गाँव के बच्चे ज़मींदार के लड़के से चिढ़ने लगे। उसे सुनाकर ताने मारने लगे। परिणाम यह हुआ कि ज़मींदार-पुत्र ने सब कुछ पिता से जाकर कहा। पिता ने स्कूल के मास्टर को बुलाकर समझाया। अगले दिन मास्टर ने लालमन के लड़के को इतना पीटा कि अगले दिन वह स्कूल न जा सका। लालमन ग़रीब होते हुए भी आत्माभिमानी था, वह स्कूल पहुँचा, मास्टर को बुरा-भला कहा और उसके विरुद्ध शिकायती पत्र लिखकर ज़िला बोर्ड भेज दिया। परिणाम यह हुआ कि मास्टर का तबादला हो गया।

इस घटना का यहीं अंत हो जाता, तो भी ठीक था, परंतु स्कूल के बच्चों ने भी इस अत्याचार का प्रतिकार किया, उन्होंने ज़मींदार के लड़के का बहिष्कार कर दिया। फल-स्वरूप आएदिन उसका उपहास किया जाने लगा। अवस्था यहाँ तक पहुँची कि उसे नित्य-प्रति बुरा-भला कहने के साथ यदा-कदा पीटा भी जाने लगा।

ज़मींदार के लड़के ने स्कूल जाना बंद कर दिया। बाद में यह भी सुना गया कि विक्रम ने स्कूल को अपनी ओर से दी जानेवाली सहायता का रुपया भी रोक दिया।

गाँव के अन्य बच्चे पढ़ रहे थे। मा-बाप विद्याध्यन का महत्त्व समझने लगे थे, अतः उन्होंने आर्थिक संकट उठा कर भी स्कूल का काम नहीं रुकने दिया। वह पूर्ववत् चलता रहा। इस प्रकार ज़मींदार विक्रम के विरोध का सामना

करने के लिए गाँव का समाज एकमत हो रहा था, मानो वह उसे बता देना चाहता था—हम जाग गए हैं, और अपना अधिकार समझने लगे हैं।

जो हो, यह निश्चित बात थी कि रामपुर गाँव की स्थिति तेजी से बदल रही थी। यद्यपि आर्थिक स्थिति दिन-पर-दिन विषम बन रही थी, किंतु जीवन को देखने और समझने की परिपाटी बदल गई थी। विक्रम ने बहुत दिनों से गाँव में फूट डाल रक्खी थी। दो प्रतिद्वंद्वी पार्टियाँ सदैव तैयार रहतीं। उन पार्टियों में से एक ज़मींदार का पक्ष लेती और दूसरी जन-साधारण का। यह सत्य ही था कि ज़मींदार-पक्ष के लोग सुखी थे, और विरोधी आए दिन किसी-न-किसी मुसीबत का शिकार बनते थे, किंतु इसका कोई उपचार न था। यह अपने आत्मसम्मान का प्रश्न था। ज़मींदार-पक्षवालों को भी ज़मीन का किराया देना ही पड़ता था, परंतु चाटुकारिता और दास-वृत्ति की आदत के कारण अपने संपन्न आक़ा से बैर लेना उन्हें अभीष्ट न था; किंतु जब लालमन-सरीखे उदार और भले व्यक्ति के साथ भी ज़मींदार ने कुटिलता का व्यवहार किया, तो उसके समर्थकों में से भी अधिकांश विरोधी बन गए। यह सब देख कर ज़मींदार के बड़े लड़के और लड़की ने भी पिता का विरोध किया, लेकिन विक्रम अपनी बात का धनी था—हठी भी। जिस-जिसने लालमन का पक्ष लिया, उसने उसी को ललकारा। लालमन को ज़मीन से बेदख़ल कर दिया गया।

भूखे और पराश्रित कृषक यह देखकर दंग रह गए। वे नहीं समझ सके कि जब लालमन-सरीखे सरल और भले आदमी ने ज़मींदार को अच्छा नहीं कहा, फिर दूसरा कौन उसे नेक आदमी कहेगा। लोग समझ रहे थे कि ज़मींदार का प्रभुत्व घट रहा है। परंतु, लालमन की घटना देखकर उन्होंने समझा कि नहीं; ज़मींदार-रूपी साँप अभी फुँफकार रहा है—अभी भी उसके दाँतों में ज़हर है।

लालमन के साथ घटित घटना की ख़बर लक्खी ने अपने एक पत्र द्वारा लखना को भेजी। उसने लिखा—पिता की हालत ख़राब है। ज़मीन चली गई है, इसलिये रोटियों का सवाल भी सामने आ गया है। वही पत्र लखना ने मा को दिखाया। मा ने उसका उल्लेख सरदार से किया। रूपा ने यह भी कहा कि अब मुझे गाँव जाना चाहिए। मेरे काम करने का समय आ गया है।

सरदार ने इस बात को स्वीकार नहीं किया। पर उसने वचन दिया कि वह लड़की के पिता की मदद करेगा। उसे भूखा नहीं मरने देगा। उसके आत्मसम्मान को भी नहीं झुकने देगा।

उसी सप्ताह सरदार रामपुर पहुँच गया। वह लालमन से जाकर मिला और उसे इस बात के लिये उत्साहित किया कि विक्रम के विरुद्ध अदालत में मामला ले जाय। उसने लालमन को आर्थिक सहायता भी दी और वचन दिया कि वह आगे भी मदद देगा। लालमन को यह जैसे दैवी वरदान मिल गया। उसने तुरंत ही अदालत में मामला चला दिया,। मुक़दमे की तारीख पड़ गई। ज़मींदार और पटवारी के पास सम्मन आ गए।

इतने दिनों में रूपा ने हिंदी की कई किताबें पढ़ ली थीं। वह शिक्षित-वर्ग में जाकर बैठना-बोलना समझने लगी थी, अतः वह स्वयं भी लालमन का मामला नगर के उच्च अधिकारियों के पास ले गई। सरदार ने भी प्रयत्न किया। विधाता का विधान, उस गाँव के इतिहास में यह नई बात हुई थी। ज़मींदार मुक़दमा हार गया और किसान लालमन जीत गया। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह हुई, कि गाँव का पटवारी सरकारी काग़ज़ों में हेरा-फेरी करने के जुर्म में बर्ख़ास्त कर दिया गया।

उस मुक़दमे के दौरान में कई ऐसे अवसर आए, जब रूपा और लालमन का साक्षात्कार होते-होते बचा। उनके बीच में जो शक का पर्दा था, हटते-हटते रह गया। यद्यपि रूपा अपने को प्रकाश में लाना चाहती थी, परंतु सरदार और बाबा का मत इसके विरुद्ध था। उन दोनों ने कहा—"साक्षात् होते ही विक्रम तुम्हें जीवित नहीं रहने देगा। और, तुम्हें जीवित इसलिये रहना है, गाँव और अपने समाज का भला करने के लिए। सरदार ने यह भी कहा कि मेरी शक्ति का चमत्कार तुम्हारी प्रेरणा पर आधारित है। तदनुसार रूपा ने अपने को प्रकाश में नहीं आने दिया। जब-जब ऐसी परिस्थिति आई, तभी उसने अपने को छिपा लिया। लालमन पर यह प्रकट करने का अर्थ था, रूपा की बात गाँव में फैल जाय—वह ज़मींदार विक्रम की दृष्टि में जीवित हो उठती। अतः यह सब बात सरदार को उचित नहीं लगी।

लालमन की जीत गाँव के दुर्बल किसानों की जीत थी—उनके अधिकारों की जीत थी। जमींदार को एक साधारण किसान ने मात दी, यह बात दूसरे ग्रामों में भी पहुँच गई थी। बरबस ही लोगों ने समझ लिया, विक्रम का पतन आरंभ हो गया है। युग बदल गया है। हवा का रुख बदल गया है।

किंतु स्वयं विक्रम साधारण धातु से बना व्यक्ति न था। लालमन की जीतने उसे केवल चौकन्ना बना दिया। वह परंपरागत रूढ़ियों का दास न बनकर परिस्थिति को देखकर अपने को ढाल लेता था। वह अपनी जमीन बेंचकर कारखाने के निर्माण में लग गया। काम आरंभ हो गया। वह कल्पना करने लगा, यदि आज किसान जमींदार का प्रभुत्व नहीं मानता, तो मिल का मजदूर बनकर तो उसे मशीनों का प्रभुत्व तो मानना पड़ेगा। मिल मालिक का अनायास ही क्रीत दास बनेगा। जीवन की ऐसी घिनौनी, अमानुषीय और उद्दंड कल्पना करके वह प्रत्यक्ष देखने लगा—रुपया उसके पास पहले से अधिक आ रहा है, वह करोड़पति और अरबपति बन रहा है। जीवन की ऐसी ही चिंताओं में डूबा हुआ, जमींदार विक्रम जमींदार-कॉन्फ्रेंस का स्वागताध्यक्ष निर्वाचित हुआ। अपने गाँव से दस कोस के अंतर पर, रेलवे-स्टेशन के समीप, कॉन्फ्रेंस का आयोजन किया। नगर से जितने अभ्यागत निमंत्रित किए गए, सभी देश के विशिष्ट नेता थे।

कॉन्फ्रेंस आरंभ होने से पूर्व, स्वागत के समय, जब प्रतिनिधि और अभ्यागत सभा-मंडप में प्रविष्ट हुए, जमींदार विक्रम सभी के गले में फूल-मालाएँ डाल रहा था। एक महिला जब उसके समक्ष पहुँची, और उसके गले में फूल-माला डालने के लिये विक्रम ने हाथ बढ़ाए, तो वह काँप उठा। माला हाथ से छूट गई, और वह एकाएक विक्षिप्त-सा पसीने-पसीने हो गया। सहायक न सँभालते, तो निश्चय ही विक्रम गिर पड़ता—बेहोश हो जाता। निदान, सभा-मंडप से उसे दूसरी जगह ले जाया गया।

कहना न होगा कि उस महिला के रूप में विक्रम ने रूपा को देखा था। वह भी एक नेता के साथ उस कॉन्फ्रेंस में सम्मिलित हुई थी। प्रांत की एक रानी की प्रेरणा भी उसे वहाँ तक ले आई थी। यद्यपि सरदार की अब भी इच्छा

थी कि रूपा अपने आप को प्रकट न करे, परंतु रूपा न रुकी, वह अधिक देर तक छिपने के लिये तैयार नहीं थी। निदान, सरदार ने अपनी अनुमति दे दी थी। विक्रम की यह अवस्था देखकर, रूपा तनिक भी चकित नहीं हुई। सभा आरंभ हुई। स्वागताध्यक्ष का भाषण दूसरे व्यक्ति ने पढ़ा। उस भाषण में कोई नई बात नहीं थी। केवल यह बताने की चेष्टा की गई थी कि सरकार ज़मींदारों के प्रति जिस अन्याय का प्रदर्शन कर रही है, वह न न्याय-संगत है, न भारतीय परंपरा के अनुकूल ही। उस भाषण में यह भी बताया गया था कि ज़मींदार भारतीय परंपरा के प्रतीक हैं, वे समाज और शासन के कामों में सदा अग्रसर, चेष्टित और भागीदार रहे हैं आदि आदि।

स्वागताध्यक्ष और सभापति के भाषण के पश्चात प्रथम दिन की कार्यवाही समाप्त हो गई। प्रतिनिधि और दर्शक कैंपों में चले गए। रात हो गई। जाड़ों की अँधेरी रात थी। चारो ओर सन्नाटा छाया था। तभी एकाएक एक डेरे में आग लग गई और डेरे का आधा भाग जल गया। चारो ओर शोर मच गया। प्रतिनिधिगण बाहर आ गए। आग कई अन्य तंबुओं में भी फैल गई, किंतु स्वयंसेवकों की तत्परता और बुद्धि से शीघ्र ही शांत हो गई। एक तंबू पूर्ण रूप से जल गया था। प्रातः होने पर पता चला कि नगर से आई हुई महिलाओं में रूपवतीदेवी भी थीं। उनका प्रातःकाल कोई पता न चल सका।

फलस्वरूप, उस कॉन्फ़्रेंस में शोक और चिंता के साथ यह एक व्याघात उत्पन्न हो गया। रूपवतीदेवी का क्या हुआ, इसका किसी को पता न चला। जब जला हुआ शरीर भी नहीं मिला, तो दर्शकों और प्रतिनिधियों के अतिरिक्त पुलिस के अधिकारियों को भी नाना प्रकार की दुराशाओं में से निकलना पड़ गया। निःसंदेह, तंबू का जलना रहस्य की बात थी, परंतु उसमें सोती हुई रूपवती का न मिलना और भी कौतुक और चिंता का विषय बन गया था।

इस प्रकार शंकाओं-आशंकाओं के मध्य कॉन्फ़्रेंस का प्रोग्राम संपन्न तो हुआ, परंतु इस घटना ने सभी प्रतिनिधियों को जैसे न समझने योग्य समस्या में उलझा दिया। कॉन्फ़्रेंस में अनेक प्रस्ताव पास हुए।

कॉन्फ्रेंस समाप्त हो गई थी, ज़मींदार विक्रम की कोठी पर अपेक्षाकृत शांति थी। संध्या हो चली थी। विक्रम चिंतित मुद्रा में कोठी के बाहर लॉन पर घूम रहा था। यद्यपि ठंड थी, परंतु वह बार-बार अपने मुँह पर आए हुए पसीने को पोंछ रहा था। उसी समय एक व्यक्ति उसके पास आया। आहट पाकर विक्रम ने उस ओर देखा—"कौन ? मदन !"

"जी, सरकार !"

"क्या किया तुमने ? सब प्रबंध कर दिया ?" ज़मींदार ने रहस्य पूर्ण ढंग से मदन को देखकर प्रश्न किया।

मदन ने कहा—"जी सरकार, सब प्रबंध कर दिया। रूपा आज रात में समाप्त कर दी जायगी। उसका शरीर नदी में फेंक दिया जायगा।"

इतना सुनकर भी ज़मींदार विक्रम प्रसन्न नहीं हुआ। वह अतिशय चिंतित होकर बोला—"मैं एक बार धोखा खा चुका हूँ, मदन ! डाकू-सरदार ने पूरी रक़म ली, फिर भी काम नहीं किया। मक्कार, मुझे धोखा दिया।"

मदन ने कहा—"सरदार को भी किनारे लगा दिया जायगा। वह जिस गाँव में जाता है जिन आदमियों से मिलता है। मुझे मालूम है।"

आतुर होकर विक्रम ने कहा—"आज इस औरतको मिटा दो। यह मेरी सबसे बड़ी चिंता है। मेरी प्रतिष्ठा के रास्ते में यह एक पत्थर बनकर खड़ी हो गई है। कमीनी औरत! इतनी जल्दी पूरी शहरातिन बन गई। पढ़ लिख गई, लोगों से बात करने योग्य हो गई।"

मदन ने कहा—"रूपवती नगर की स्त्रियों में भाषण भी देती है। सुना है, सरमाएदारों के विरुद्ध बोलती है।"

ज़मींदार ने हाथ की मुट्ठियाँ बाँध लीं, और दाँत पीसकर बोला—"मैं जल्दी ही उसकी लाश देखना चाहता हूँ। जाओ, लाश दिखाओ और रुपया लो।"

मदन ने कहा—"पास के जंगल में ही वह ठिकाना है। आप चलेंगे ?"

ज़मींदार विक्रम ने कहा—"मैं तैयार हूँ। नौकर से कहो, घोड़ा लाए। मेरी बंदूक़ भी।"

मदन आदेश पाकर दूसरी ओर चला गया।

पंद्रह मिनट बाद ही जमींदार मदन के साथ चल दिया।

मदन ने कहा—"नदी के मुहाने पर ही वह जगह है। पुराने खँडहर के नीचे ही बड़ा तहख़ाना है।"

उन दोनो ने नहीं देखा कि जब वह चले, तो रास्ते पर ही एक व्यक्ति उनकी बात सुनकर तेज़ी से आगे बढ़ गया था। जब विक्रम और मदन नदी के मुहाने पर खड़े खँडहर पर पहुँचे, तो वह तीसरा व्यक्ति पहले ही एक पत्थर की ओट में छिपा खड़ा था। मदन आगे बढ़ा, और विक्रम को पीछे-पीछे आने का संकेत कर एक ऐसे स्थान पर पहुँचा, जहाँ से नीचे जाने को सीढ़ियाँ थीं। वहीं एक और व्यक्ति मिला। मदन गरजा—"कौन ?"

उत्तर मिला—"सेवक।"

"अच्छा, रामधन ! हम आ गए हैं। सरकार भी आए हैं।" वे तीनों चल दिए, घोर रात्रि थी। निस्तब्ध ! कड़ाके की ठंड पड़ रही थी। उन तीनो के पीछे ही वह चौथा अपरिचित व्यक्ति भी चला। चारो तहखाने में पहुँच गए। दूर से ही चौथे व्यक्ति ने देखा कि रूपवती के हाथ बँधे है। वह एक कोने में बैठी है। जाते ही विक्रम ने व्यंग्य से कहा—"ओ हो ! आप……"

विक्रम को देखते ही रूपवती चीख़ पड़ी—"नराधम !"

विक्रम ठहाका मारकर हँस दिया—"डाकू-सरदार से धोखा खा गया, इसलिये अब मैं अपने सामने तेरी मृत्यु देखूँगा—तुझे तड़पते देखूँगा।" वह पास आया, और रूपवती के बाल पकड़कर बोला—"कंबख़्त, जानती नहीं, विक्रम का क्रोध किसी को नहीं बख़्शता।" वह एकाएक पागल-सदृश चिल्लाया—"मदन, तलवार उठाओ, और इस मग़रूर औरत की गर्दन काट दो। देर मत करो। इस खँडहर के नीचे ही नदी में इसकी लाश फेंक दो।"

आदेश पाते ही मदन, जो जाति का मेहतर, स्वभाव का क्रूर और देखने में भयानक लगता था, तुरंत ही एक तलवार लेकर रूपवती की ओर बढ़ा। उसी क्षण ठाँय-ठाँय कई गोलियाँ छूटीं, और मदन के हाथ से तलवार छूटकर फ़र्श के पत्थर पर झनझना गई।

एकाएक चौंककर रूपवती चिल्लाई—"भैया !"

"हाँ, बहन ! अब न घबरा। मैं आ गया हूँ। मैं इन तीनो को ही तेरी जगह नदी में फेंके देता हूँ।" नवागंतुक ने कहा।

काँपते हुए स्वर में विक्रम बोला—"डाकू सरदार !"

सरदार ने पास जाकर विक्रम के हाथ से बंदूक़ छीनते हुए कहा—"हाँ, मैं ! देख ले ! समझ ले !" कहते हुए सरदार ने एक तमाचा मदन के मुँह पर मारा, और कहा—"मेरी बिल्ली, मुझी से म्याऊँ ! हरामज़ादे !" और तभी उसने रूपवती के हाथ खोल दिए। वह आगे बढ़ा और कड़क कर बोला—"कोई आगे बढ़ा, तो ठंडा कर दूँगा।" जब वह गुफा से बाहर होने लगा, तो चिल्लाकर विक्रम को लक्ष करके बोला—"तुम आज़मा चुके अपनी शक्ति, अब मेरी देखना। मदन के बच्चे, मुझे पकड़वाने का फिर इरादा किया, तो जल्दी ही तेरा भी नाम मिटा दूँगा।" और तुरंत बाहर निकल गया। विक्रम के घोड़े पर रूपा को बैठा कर स्वयं भी उसी पर बैठ गया। वह शीघ्रता के साथ उस क्षेत्र से बाहर हो गया।

उस गुफा से बाहर निकलने पर विक्रम में कदाचित् इतना दम नहीं रह गया था कि वह उस भयंकर शीत का सामना कर सकता दोनों व्यक्ति उसके साथ थे। सभी मौन थे। विक्रम सोच रहा था, मैंने जीवन में कितने ही भयंकर खेल खेले, परंतु इस खेल में मैं हार गया······यह हार······।

बरबस ही ज़मींदार विक्रम का प्राण छटपटाता हुआ उसकी आँखों के द्वार पर आ गया। उसके चारो ओर अँधेरा छाया था, मानो संपूर्ण जीवन में अँधेरा छा गया हो······।

---

# चौदह

सरदार द्वारा मुक्ति पाकर रूपवती अपेक्षाकृत गंभीर और चिंतनशील बन गई। यद्यपि उसके द्वारा ज़मींदार विक्रम का कोई अहित होना संभव न था, लेकिन आत्मप्रतिष्ठा के हेतु वह कितना बड़ा जघन्य कर्म संपादित करने पर तुल गया, यह देखकर, बरबस ही रूपवती का मन आंदोलित हो उठा। उसका संतुलन मिट गया। रूपवती के लिये सबसे अधिक असहनीय बात यह थी कि स्वयं विक्रम का जीवन भी अब सुरक्षित न था। वह देखती थी, उस मूर्ख ज़मींदार ने धन-बल पाकर मानसिक संतुलन खो दिया। वह पशु बन गया। उसका नैतिक धरातल क्षीण हो गया। रूपवती की दृष्टि में वह विक्रम इतना पतित हो गया, जिसकी तुलना वह किसी से नहीं कर पा रही थी। वह नहीं समझ सकी कि विक्रम-जैसा कोई और व्यक्ति भी है, जो इतना क्षुद्र हो, मानवीय स्तर से गिर चुका हो।

इतना सोचने और देखने के बाद भी, रूपवती मानो छटपटाकर, ज़हरीले धुएँ के समान अपने आपमें घुटकर, एकाएक कहती—"तो फिर हो क्या······सच, क्या!" मानो रूपवती खोज लेना चाहती थी कि मानव की इस समस्या का हल क्या है, उपाय क्या है, जिससे यह इंसान—यह इंसानी दुनिया—अपने आप में संतुष्ट हो, पूर्ण हो?

शहर में इतने दिन से रहते हुए, और वहाँ की अनेक संस्थाओं में काम करते हुए, रूपवती ने भली भाँति देख लिया कि सभी जगह हाहाकार—रोदन है। मानव की पीड़ा हर स्थान पर बोलती और कसकती है। नारी के जिस शास्वत जीवन को पाकर, रूपवती गाँव के अंधकार से निकलकर, परिस्थितियों के सैलाब में बहती हुई, शहर के प्रकाश में आ गई, डाकू सरदारसिंह-सरीखा वीर और गंभीर भाई पा गई, बाबा के रूप में एक महान् आत्मा से परिचय पाने में सफल हो गई, अशिक्षित से शिक्षित बन गई, तो सोचती रूपवती, हाय! मैं तो उस अँधेरे में ही सुखी थी। गाँव में रहकर पीड़ाओं का

अधिक मोल तो न आँक पाती थी, ज़िंदगी की व्याख्या और व्यवस्था तो नहीं कर सकती थी, परंतु इस नगर में आकर, चारो ओर प्रकाश पाकर, धन-वैभव के अकल्पित करिश्मे देखकर क्या मैं सुखी हो सकी ? मैं तो अतिशय दुखी हूँ। मानव यहाँ अधिक ठगा जाता है। इस प्रकाश-स्तंभ के नीचे मानव की आत्मा को अधिक दुर्बल और निस्तेज बनाया जाता है। रूपवती, कहती नियति भी जाने क्या सोचती है, वह पाषाण-हृदय विधाता जाने क्या देखता है। यहाँ इंसान का इंसान द्वारा कलेवा किया जाता है .................. मारा जाता है ! घुट-घुटकर और रिस-रिसकर इस इंसान का प्राण निकलता है। मारा जाता है, और उसे चीखने.पुकारने भी नहीं दिया जाता है।

'नगर के कोलाहल से दूर, छोटे-से गाँव में जीवन बिताने वाली रूपवती प्रत्यक्ष देखती कि इस शिक्षित, उदार और अनुभूति का विश्लेषण करनेवाली दुनिया में मानव अधिक सताया जाता है—मानव की क्रूरता का शिकार सुगमता से बनाया जाता है ! बड़ा नगर, लाखों की बस्ती, इंसानी दुनिया का एक बड़ा कुटुंब एक ही स्थान पर एकत्र हो गया है। परंतु यह भी कैसी विवशता है इस इंसान की कि पास-पास रहकर भी पृथक् है—एक दूसरे से मानो हज़ारों कोस दूर ! धन और वैभव को पास से देखकर भी अयाचित ! पुलिस और फ़ौज का आश्रय पाकर भी अरक्षित !

यह देख मानो रूपवती का अंतर तड़प उठता—हाय रे, दुर्भागी मानव !

आरंभ में रूपवती का परिचय नगर की एक महिला-संस्था से हुआ था। उस संस्था की अध्यक्षा एक रियासत की रानी थी। वह यौवनमयी मदांध रानी उस संस्था की प्राण थी, किंतु स्वयं उसके अपने प्राणों में कितना बल था, नारी की पराधीनता के लिये कितना दर्द उन प्राणों में समाविष्ट था, इसका परिचय रूपवती एक दिन भी न पा सकी। नहीं समझी कि इस प्रकार की संस्थाओं द्वारा नारी का उद्धार कैसे किया जा सकता हैं, उसके दुर्बल प्राणों में बल नहीं डाला जा सकता। रूपवती ने देखा कि पुरुषों के समान नारी भी आदर्शों का ढोल पीटती है। पुरुष के जिन पापों, दुराचारों की नारी द्वारा भर्त्सना की जाती है, स्वयं उन्हीं पापों का सृजन करते नारी नहीं

लजाती। यह सब देख कर रूपवती की आत्मा सुकड़कर रह जाती। नारी-दीनता की उस पराकाष्ठा को देख, सचमुच ही, रूपवती के मन में हाहाकार उठता, मानस में रोमांच पैदा होता, और उसे लगता, दुर्बल मनुष्य के समान नारी भी दुर्बल है, हेय है, कायर है! उसका मन चीख उठता—"आखिर ऐसा क्यों!.........क्यों?"

तब, स्वतः ही, उद्वेलित स्वर में रूपवती कहती—"नारी को इस अवस्था में लाने का दोष भी पुरुष का है। वह अँधेरे में रक्खी गई—वासना की वस्तु बनाई गई। मनुष्य की क्रूरता, बर्बरता और वासना-सिक्त मदांधता का शिकार नारी ही बनती है। यह नारी—मा!"

रूपवती जिस महिला-सभा की सदस्या थी, उसी की ओर से नगर के अनेक भागों में घूमती। यह भी जैसे उसके जीवन के लिये एक वरदान था। जीवन की पाठशाला में उसे कुछ पढ़ने-सीखने का एक अवसर प्राप्त हुआ था। उसने प्रत्यक्ष रूप से समझा, और देखा, नारी कितनी दयनीय है—प्रताड़ित है, अयाचित है! नगर के उस बृहत् धूम्राकाश में, उस प्रकाश-ज्योति के नीचे, नारी सिसक रही है, रोदन से प्लावित हो रही है। उसकी कराह जैसे अपने आपमें भिची हुई, सुकड़ी हुई अपने भाग्य को कोस रही है।

रूपवती सोचती गाँव में यदि जमींदार की नंगी तलवार किसानों का वध करती है, तो यह नगर में इस सरमाएदारी द्वारा मज़दूर और निर्धन इंसान की आत्मा पैरों तले रौंदी जाती है, कुचली जाती है। नगर में रहते हुए उसने यह भी यह प्रत्यक्ष रूप से देखा कि सचमुच ही आदि सृष्टि से ही इंसान विभाजित रहा है — एक दूसरे से दूर रहा है। कहने को विश्व एक कुटुंब है, परस्पर की आवश्यकताओं इच्छाओं से बँधा है; किंतु इस की आड़ में ही किस प्रकार इंसान का हृदय-हीनता के साथ वध किया जाता है—इंसान का खून बहाया जाता है? यह सब सोचकर रूपवती के मन का हाहाकार बरबस ही डोल जाता। उसे लगता, विश्व की विभिन्न संस्कृतियाँ, धर्म, नेता, जगद्गुरु, ये सभी अपना-अपना मिशन लेकर आए, और चले गए। वे सभी एकता का प्रचार कर गए, लोगों को शांति का पाठ दे गए, और जब जाने लगे, तो जैसे

इंसान को अपने ही परंपरागत रीति पर चलता हुआ छोड़ गए। वह सोचती, तब यह इंसान अनुभूतिपूर्ण क्यों ? भगवान् का उपासक क्यों ? जगत् का हंता और विनाशक, विश्व का पालक कैसे ?"

इधर कुछ समय से रूपवती के सामने एक और भी समस्या थी। पुलिस सरदार की खोज में अधिक दत्तचित्त थी। वह चप्पे-चप्पे में उसकी खोज कर रही थी। यद्यपि रूपवती की दृष्टि में अब भी सरदार का काम न्याय युक्त न था, किंतु वह डाके के धन से जिस सेवा-कार्य में निरत था, उसे देख कर, बरबस ही, रूपवती को मौन रह जाना पड़ता। एक दिन, नित्य के अनुरूप, जब रूपवती लखना को स्कूल भेज चुकी थी, घर के कामों से निवृत्त हो कहीं जाने को तैयार थी, सरदार का एक विश्वस्त आदमी उसके पास आया। आते ही उसने रूपवती को प्रणाम किया। इधर कई दिनों से सरदार नहीं आया था। रूपवती को इस बात का भी ध्यान था। सरदार के सहचर को देखते ही रूपवती ने तुरंत पूछा—"कहो, सरदार तो ठीक है ? कहाँ है ?"

सहचर ने बताया, सरदार ठीक हैं, पर आजकल व्यस्त अधिक हैं। और, तब उसने कहा—"मैं तुम्हें यह सूचना देने आया हूँ कि ज़मींदार विक्रम का आज अंत कर दिया जायगा। कल वह पकड़ लिया गया है। उससे सरदार ने पचास हज़ार रुपया भी प्राप्त किया है। जो रामपुर गाँव के किसानों में बाँट दिया गया।"

सुनते ही, आश्चर्य चकित भाव में, रूपवती बोली—"तो ज़मींदार पकड़ा गया। सरदार के पंजे में आ गया। उसको मार देने का भी निश्चय कर लिया गया। हे राम !"

सरदार के साथी ने कहा—"हाँ बहन ! यह निश्चय कर लिया गया है।" वह बोला—"मुझे यहाँ सरदार ने भेजा है। उसने कहलाया है, रूपवती चाहे, तो ज़मींदार को देख ले। क्रूर व्यक्ति भी किस प्रकार मौत से डरता है, यह प्रत्यक्ष देखकर समझ ले।"

सुनकर रूपवती ने साँस भरी—"उफ़ !"

साथी ने कहा—"सरदार उसी दिन से ज़मींदार की टोह में था, जिस दिन

उसने तुम्हें तंबू में ही जलाकर मार देना चाहा था।" वह बोला—"उस रात मैं भी सरदार के साथ था, किंतु हम जिस नाव पर जा रहे थे, बढ़ी नदी में वह किनारा न पकड़ सकी। नाव बहुत दूर जाकर रुकी। हमें मीलों की मंज़िल तय करनी पड़ी। जब वहाँ पहुँचे, तो डेरा जल चुका था। कुछ आदमियों को सरदार नें दूर जाते हुए देख लिया था, किंतु जब वह खँडहरों के पास पहुँचा, तो वहाँ उन आदमियों को नहीं देख पाया। रात उजाली थी, फिर भी हमारा उन आदमियों से काफ़ी फ़ासला था।"

रूपवती ने कहा—"तो सरदार को पहले ही संदेह था?"

साथी ने कहा—"सरदार को पूर्ण विश्वास था कि विक्रम तुम्हें जीवित देख-कर मारने का प्रयत्न करेगा। वह अपना छूटा हुआ तीर वापस लौटता नहीं देख सकेगा। ज़हरीला साँप एक बार चूककर फिर काटता है—वह अपने लक्ष को नहीं भूलता।"

एकाएक हर्षित भाव से रूपवती बोली—"मेरा भैया!"

साथी ने कहा—"आजकल सरदार ने एक समय ही अपना आहार कर दिया है। जब से तुम मिली हो, उसने मोती नाम की उस वेश्या को भी छोड़ दिया जो अपने यहाँ आनेवाले रईसों का पता देती थी, और डाके के काम में सरदार का हाथ बँटाती थी।"

चकित हो रूपवती ने पूछा—"वह भी साथ देती थी?"

साथी बोला—"हाँ, वह भी साथ देती थी। हिस्सा लेती थी। वैसे सरदार को उससे अतिशय घृणा थी। सरदार के प्रत्येक साथी को यह मालूम है कि किसी स्त्री को बुरी निगाह से देखना सरदार इंसानी ज़िंदगी का बड़ा पतन मानता है। वह नारी को लूटता है, मारता है, परंतु उसके सतीत्व पर प्रहार करना घोर अपराध समझता है।"

रूपवती अतिशय गंभीर थी। जैसे उसकी चेतना मौनभाव में उसके अंतः प्रदेश में समाविष्ट—किसी गहरे काम में लग गई थी।

साथी ने जैसे याद दिलाते हुए कहा—"मुझे अभी लौटना है। दो घंटे में ही वापस पहुँचना है। आज सरदार का बड़ा प्रोग्राम है।"

"क्या डाका डालना है ?" रूपवती ने जैसे चौंककर कहा ।

"और हमें क्या करना है !" साथी मुस्किराया ।

"तुम्हें यह अच्छा लगता है ?"

"हाँ, बहन ! अच्छा न लगकर भी, अब तो रुचिकर लगता है ।"

"और पकड़े गए कहीं मारे गए तो ?"

"तुमने बहुत छोटी सी बात सोची यह तो कभी भी हो सकता है। आज हो सकता ।" वह बोला—"बहन, मरना तो सभी को है । जब हम डाका डालते हैं, तो सरकारी जेलर सदा ही हमारी ओर देखता रहता है ।"

रूपवती झल्लाई—"तो तुम्हें यह डाका क्यों पसंद आता है ? क्या यह उचित है ? यह तो सरासर समाज के साथ अन्याय है ।"

उपेक्षा भाव से साथी ने कह दिया—"अपराध तो सभी करते हैं ।"

रूपवती खिन्न स्वर में बोली—"यह कोई दलील नहीं—अपराध करने का कारण नहीं ।"

गंभीर होकर साथी बोला—"बहन, सरदार ने इतने दिन बाद भी तुम्हें नहीं बताया कि हम सबका पैसा दूसरों के काम आता है । अनाथ के काम आता है । हम में एक-दो ही ऐसे हैं, जिनका परिवार है, अन्यथा सभी अकेले हैं । सभी जीवन के मोह से परे हैं ।"

रूपवती ने व्यंग्य से कहा—"ओह ! सभी पत्थर हैं—जड़ ।"

साथी हँस दिया—"तुमसे कैसे कहूँ कि बाबा की प्रेरणा से हमारा डाकू-दल जनता की सेवा करने के निमित्त यह सब करता है । जो दलित हैं पीड़ित हैं, उन्हें सहायता देता है—मानवीय अधिकार दिलता है ।"

रूपवती ने कहा—"मैं इससे सहमत नहीं । मैं तो तुम्हें खूंख्वार भेड़िया मानती हूँ ।"

साथी बोला—"बहन, डाकू-चोर और कुछ नहीं केवल समाज के पापों की प्रतिक्रिया हैं—मानव के हठ और उसके दंभ का जवाब हैं । चलो, उठो, कपड़े बदल लो । शहर के बाहर मोटर प्रतीक्षा में खड़ी है ।"

रूपवती उठी, और कपड़े बदलने अंदर चली गई। तैयार होकर वह आ गई और चल पड़ी। कई घुमावदार रास्तों को पार कर दोनो नगर के बाहर पहुँचे। उनके बैठते ही मोटर चल पड़ी और लंबा रास्ता पाकर एक बीहड़ वन में प्रविष्ट हुई। वहीं एक स्थान पर उतर कर पैदल चल पड़े। चारो ओर पहाड़, वृक्षों और झाड़-झंखाड़ों के झुरमुट थे। एक स्थान पर पहुँचकर साथी ने एक गुफा के अंदर प्रवेश किया। उसने रूपवती का हाथ पकड़ लिया। गुफा का लंबा रास्ता पाकर दोनो एक बड़े हाल में प्रविष्ट हुए। फिर एक चौड़े चौक को पार कर ऐसी जगह पहुँचे, जहाँ क़रीब पचास व्यक्ति बैठे हुए थे। सभी बंदूक़ों और भालों से लैस। यह देखकर रूपवती और भी चकराई कि एक ऊँचे सिंहासन पर बाबा विराजमान थे। वहीं सरदार भी था, और एक खंभे से बँधा हुआ ज़मींदार विक्रम। एक ओर आग सुलग रही थी, और उसमें दो सलाख़ें लगी थीं। जाते ही रूपवती ने बाबा की चरण-रज ली।

बाबा ने कहा—"यह सब तेरी प्रतीक्षा में है, बेटी! देख, यह ज़मींदार विक्रम सामने खड़ा है। अब यह जमीदार के अतिरिक्त कारखानेदार भी बनने चला है। रामपुर गाँव के पास एक बड़ी कपड़े की मिल बन रही है। कहता है, देश का उत्पादन बढ़ाने के लिये मैने यह सब किया है।" बाबा मुस्किराए—"इस देश में पहले से ही बहुत-से साँप थे, अब एक और बढ़नेवाला है।"

सरदार ने विक्रम को संबोधित कर कहा—"तुमने मनुष्यता का अर्थ नहीं समझा विक्रम, मनुष्य बनकर भी जानवर का रूप स्वीकार किया!"

तभी बाबा ने फिर रूपवती को लक्ष किया—"इस विक्रम ने जाने कितने मनुष्यों का बलिदान कर दिया—तुम्हारा पति.....तुम..."

मानो अपनी साँस रोककर रूपवती ने प्रश्न किया—"तो अब क्या करना है? क्या सोचा है, बाबा? यह विक्रम......" उसकी वाणी अटक गई।

बाबा ने कहा—"ये आग में दबी हुई सलाख़ें देखती हो, उनसे इस विक्रम की आँखें फोड़ दी जायेंगी और फिर तलवार के एक ही हाथ से गर्दन......"

एकाएक मानो चीख पड़ी रूपवती—"ओह!"

बाबा ने कहा—"हाँ, रूपवती ! इस पापी को उसके पापों का यही दंड मिलना चाहिए। क्रूर को क्रूरता की अनुभूति होनी चाहिए।"

रूपवती ने जैसे अपने को किसी गहरे खड्ड में डबते पाया—"तो बाबा, मुझे क्यों बुलाया? मुझे यह सुनने का अवसर क्यों दिया कि अपने सरल और सहृदय बाबा के मुँह से यह सुनूँ—क्रूर का अंत क्रूरता से होता है, ईंट का जवाब पत्थर दिया जाता है, पाप का बदला पाप का प्रसार करके लिया जाता है—यह आपका मत है ?"

बाबा ने तीखी दृष्टि से रूपवती को घूरा—"तो तेरे कहने का अर्थ क्या है ? तू क्या चाहती है ?"

इतना सुना, और रूपवती ने चारो ओर दृष्टिपात किया। वह पहाड़ की पथरीली गुफा, भीमकाय डाकुओं के हाथों में वे बंदूकें, उनका विकराल रूप और कठोर दृष्टि, खंभे से बँधा विक्रम, आग में लगी लाल-लाल लोहे की सलाखें—अपने चारो ओर उस हृदय-भेदी दृश्य को देख, रूपवती ने बाबा के धीर-गंभीर चेहरे को लक्ष किया, और कहा—"बाबा, सरदार ओर साथियो ! मैं आपके काम में अवरोध बनने का विचार नहीं करती। मैं यह भी नहीं कहती कि आपका यह कृत्य पापमय है, अन्यायपूर्ण है, परंतु मैं इतना अवश्य कहती हूँ कि रोग का निदान—उपचार यह नहीं है। आप चतुर डॉक्टर के समान समाज के सड़ाँद-भरे अंगों को काट देना उचित समझते है, परंतु मेरा यह सुझाव है कि उपचार की क्रियाएँ और भी हैं। आप जिस संस्कृति, सभ्यता और मानवीय अनुभूति के समर्थक हैं—मानते है, उसी का आश्रय लेकर मैं निवेदन करती हूँ कि आपका यह पथ अनुचित है, कठोर है। आप मानव का सुधार करना चाहते हैं, उसे बरबाद करना नहीं। आप अपने त्याग-बल से इस विक्रम को बताइए कि मानवता का अर्थ जो उसके हृदय में प्रतिष्ठापित है, उसे समझे, और देखे। मानव कुटुंब का वह भी एक अंग है, फिर उस का नाश क्यों करे ? अपने स्वार्थ में अंधा क्यों बने। आप बताइए कि पैसा, जमीन समाज के हैं, देश के हैं। स्वयं विक्रम राष्ट्र का एक अंग है। इसे मार देने का अधिकार हमें नहीं यह तो समाज का

संहार है।" कहते हुए रूपवती ने बाबा की ओर देखा और कहा—"बाबा, मैंने आज तक तुमसे कुछ नहीं माँगा। तुम्हारी इस पुत्री ने तुमसे एक दिन भी यह नहीं कहा कि यह पुत्री भूखी है, इसे कुछ दो। मैंने तुम्हारे पास बैठे हुए अपने भैया सरदार से भी नहीं कहा कि मुझे कुछ चाहिए। आज मैं तुम दोनो से माँगती हूँ, बहन और पुत्री के रूप में माँगती हूँ कि इस विक्रम का प्राण न लीजिए इसे प्राण-दान दीजिए। मैं चाहती हूँ कि आप इसे क्षमा कर दें। आपने जो कुछ बताया, उससे भी अगर नहीं सीखा, तो मैं आपको बताती हूँ, पाप के पथ पर बढ़नेवाले इस मानव कलंक को उन्हीं हाथों से मरने का अवसर दें, जिनकी आहें पाकर यह आज इस स्थिति में आ गया है। सुंदर मनुष्य कलंकित बन गया है।" वह बोली—"बाबा, आपने अपना कर्तव्य पूरा किया। आपने बता दिया, विक्रम की शक्ति से ऊपर भी कोई और शक्ति है, ईश्वर की शक्ति; 'आप लोगों की शक्ति है। देखा विक्रम ने, यहाँ उसकी मौत को छोड़ और कुछ नहीं। कोई साथी नहीं। इस खँडहर में चारों ओर मौत का चीत्कार है, बदले का घोष है!" कहते हुए रूपवती का स्वर भर आया। वह अवरुद्ध बन गई। आँखों में आँसू आ गए, और उसने अपना सिर बाबा के चरणों में झुका दिया।

उसी समय बाबा ने सरदार की ओर देखा। विक्रम को देखा। और, तब एक व्यक्ति को लक्ष कर कहा—"इस विक्रम को खोल दो। गरम सलाखें ठंडी कर दो। नारी की ममता आज तक ऊँची रही, उसे आगे भी विजयी रहने दो।"

मानो हर्षित भाव में रूपवती ने बाबा को पकड़कर कहा—"मेरे बाबा!"

बाबा ने उसके सिर पर हाथ रखकर कहा—"मेरी बेटी!"

"तुमने बहुत अच्छा किया, बाबा!"

बाबा ने कहा—"बिच्छू का बच्चा डंक मारना नहीं भूलता, बेटी! विक्रम अपना काम करेगा।"

सुनकर, रूपवती ने कठोर स्वर में कहा—"तो रामपुर गाँव के लोग इस नर-पशु के टुकड़े कर देंगे। वे इस मदांध जमींदार को बता देंगे कि प्राण उनके भी पास हैं—जीने का अधिकार उनको भी है।"

सरदार पूर्ववत् मौन बैठा था। पास जाकर रूपवती ने उसके कंधे पर स्नेह से हाथ रखकर कहा—"मेरे भैया !"

"बहना !"

"मुझसे रुष्ट न होना। मैं नारी हूँ। मेरा यही कर्तव्य था।"

बाबा के आदेश पर विक्रम की आँखों पर पट्टी बाँधी गई, और गुफा से बाहर ले जाया गया।

---

## पंद्रह

परिस्थितियों के झंझावात में पड़कर रूपवती कहीं-से-कहीं पहुँच गई। वह एक अकल्पित संसार में भटक गई, और जीवन के दरिया में बहती हुई एक दूरस्थ किनारे पर जा लगी। रामपुर गाँव की स्त्री—एक साधारण किसान की पत्नी—भला किस प्रकार यह सोच सकती थी कि जीवन मूल्यवान है—विधाता का एक अमूल्य वरदान ! निःसंदेह रूपवती को गर्व था—उसे संतोष था, उसने कुछ खोया, तो कुछ पाया भी है।

कदाचित् यही कारण था कि रूपवती अब असाधारण रूप से जीवन की समस्याओं को देखती थी। वह यह समझ लेने के लिये चेष्टित थी कि जीवन की में कितनी गहराई है ?

लखना हाई स्कूल की पढ़ाई समाप्त कर कॉलेज पहुँच गया था। वह अतिशय गंभीर और धीर स्वभाव का युवक था। अपने पुत्र पर रूपवती को गर्व था। लखना के हाई स्कूल के इतिहास-अध्यापक से रूपवती का अच्छा परिचय हो गया था, जो अब आत्मीयता में परिणत हो चुका था। इतिहास के उस अध्यापक ने न केवल पुत्र को, अपितु रूपवती को भी बताया कि इस देश की संस्कृति सहस्रों वर्षों से धार्मिक वृत्ति पर आधारित रही है। मानवता के पोषक उस धर्म ने ही इस देश को जीवन दिया—जागरण का मंत्र प्रदान किया। उस वृद्ध अध्यापक ने उन मा-बेटे को यह भी बताया कि हमारे धर्म का पतन तभी आरंभ हो गया, जब यहाँ मानवता का मोल सोने-चाँदी से किया जाने लगा। राजप्रासादों में धर्म-गुरुओं को निमंत्रित किया गया। रत्न-जटित आसनों पर उन्हें बैठाया गया, और उन्हें यह स्वीकार करने के लिये बाध्य किया गया कि पैसा ही विश्व का जनक है, प्रणेता है। बरबस उन धर्म-शास्त्रियों ने—समाज के कर्णधारों ने—राजप्रासादों के इस आदेश का समर्थन किया। इतिहास के मास्टरजी बताते—रूपवती ! समय बीतता गया, और दंभी मानव ने विजयोत्साह की उमंग में यह संकल्प कर लिया कि वह शक्ति का ही प्रणेता या

जनक नहीं, अपितु अपनी इच्छानुरूप एक नए मानव-समाज का निर्माण कर उसका अगुआ बनेगा। कालांतर में वह अपनी कामना में सफल हुआ। वह आकांक्षित शूर-वीर समाज और भव्य सृष्टि का अगुआ बना। एक नए संसार का निर्माण किया गया। कलाकारों और शिल्पकारों को अपनी कलाएँ प्रदर्शित करने का अवसर मिला। मानव समाज में प्रतिस्पर्धा का प्रादुर्भाव हुआ।

एक बार ऐसा ही विषय चल रहा था। रूपवती ने जिज्ञासु के रूप में प्रश्न किया—"मास्टरजी, यह तो आप भी स्वीकार करते हैं कि धन से ही मनुष्य का विकास संभव है, फिर धन को दोष क्यों ?"

रूपवती की बात सुनकर मास्टरजी एकाएक गंभीर हो गए—"हाँ, रूपवती ! यह प्रश्न विचार-योग्य है। ऐसे उपयोगी और सार्थक धन को दोष क्यों ?" वह बोले—"दोष सोने चाँदी के ठीकरों का नहीं है, वरन् उसमें निहित स्पर्धा की भावना का है।" उन्होंने कहा—"रूपवतीदेवी, यह धन तो सृजक और संहारक, दोनो है। भेद दृष्टि-कोण का है। उसके उपयोग का है। मानव की मन:स्थिति का है।" वह बोले—"व्यक्ति-समाज की यह स्वाभाविक प्रक्रिया है, जीवन की गति है, पौरुष की माँग है कि व्यक्ति आगे बढ़े—अपने भविष्य का निर्माण करे। समाज में विशिष्ट और अग्रेयत्तर स्थान प्राप्त करे।" मास्टर जी कहने लगे—"जीवन-जागृति का यह पाठ बड़ा अमूल्य है। जिस हिंसा की हम प्राय: निंदा करते हैं, उपहास और उपेक्षा करते हैं, उसी के अंत:पट में मानव का विकास सन्निहित है। जन-जागरण के लिये युद्ध-घोष आवश्यक है।"

रूपवती ने प्रश्न किया—"तो क्या युद्ध वर्जित नहीं ? धर्म ने भी इसका समर्थन किया है ?"

मास्टरजी की मुख-मुद्रा कठोर हो गई—"हाँ, धर्म-ग्रंथों ने भी इसका समर्थन किया है। जहाँ युद्ध हिंसा और अराजकता का सृजन करता है, वहीं न्याय और निर्माण का साधक भी रहा है। उसने पुरुष को नया दृष्टिकोण देकर विकसित किया है।

सुनकर रूपवती असमंजस में पड़ गई। वह मास्टरजी की ओर देखने

लगी। मास्टरजी मुस्किराकर बोले—"विप भी कभी-कभी औषध का काम देता है। युद्ध, धर्म और त्याग, ये तीनो ही मानव-समाज की आधार-शिला हैं।

अनायास ही रूपवती को बाबा की बात याद हो आई, और उसने कहा—"परंतु आज धर्म पंगु हो गया है—अंधा बन गया है।"

मास्टरजी रूपा के मुख से ऐसी बात सुनकर चकित रह गए। बोले—"यह तुमसे किसने कहा ? क्या धर्म अंधा बन सकता है ? नहीं रूपवती ! उसकी ओर से स्वतः मनुष्य ने ही मुँह फेर लिया है। धर्म के ऊपर स्वार्थी मनुष्य ने पर्दा डाल दिया है।"

अपनी बात पर ज़ोर देकर रूपवती बोली—"मेरे कहने का तात्पर्य है, अर्थ, काम और मोक्ष की कल्पना करनेवाले धर्म की दुहाई तो देते हैं, परंतु उनके मन में तो एक ऐसा सर्प फन फैलाए बैठा रहता है, जो अवसर पाकर, अपना स्वार्थ-लक्ष सिद्ध करता है। बरबस ही मनुष्यता को भूल जाता है। वह दयावान् और अनुभूति-पूर्ण व्यक्ति पल-भर में ही क्रूरता और बर्बरता का जामा पहन लेता है।" वह बोली—"मनुष्य जीवन के हर क्षण में विविध नाटकों का पात्र बनता है, अपनी कला का प्रदर्शन करता है और दर्शकों को प्रसन्न कर वह एक ही आकांक्षा करता है—वह श्रेष्ठ कहलाए, महान् माना जाय, विजेता माना जाय।"

रूपवती ने हँसकर कहा—"तो इसमें आपत्ति क्या है मास्टरजी ?"

दुर्बल मास्टरजी के स्वर में तेजी आ गई—"वह विजेता यह भूल जाता है कि उसके पास जो कुछ है, वह समाज की देन है, समूचे विश्व के परिश्रम का फल है। यही बात धनिक के लिये, विजयी सम्राट् के लिये है। सभी—कलाकार, धनिक और विजेता—समूचे समाज को मूर्ख मानकर, दुर्बल समझकर, अपना ही अस्तित्व स्थापित करना चाहते हैं। वे बरबस मनुष्यों के मस्तिष्क पर यह भाव लाद देना चाहते हैं कि मेरा प्रभुत्व स्वीकार करो—मेरा अस्तित्व पहचानो। वे यह भूल जाते हैं कि यदि समाज न हो तो व्यक्ति के श्रेष्ठत्त्व का कोई महत्व नहीं।"

रूपवती मुस्किराई—"किंतु व्यक्ति ही समाज का प्रेरक है—जनक है। आपके कथनानुसार यदि व्यक्ति अस्तित्व-हीन है तो समाज कैसे बनेगा? उसकी शक्ति का माप-दंड क्या होगा? व्यक्ति की शक्ति पर ही समाज की शक्ति निर्भर है।"

मास्टरजी मानो झुँझला गए—"यही स्पर्धा का मूल है। व्यक्ति जब अपनी विजय का झंडा गाड़ना चाहता है, तो समाज की चेतना जागती है। कुछ आँखें उसे घूरती हैं। प्रश्न उठता है, क्या व्यक्ति की विजय केवल उसी की विजय है? उसने समाज से कुछ प्राप्त नहीं किया? आखिर वह किन साधनों से सफल हुआ? मेरे कहने का तात्पर्य है, व्यक्ति की शक्ति का पतन कोई अर्थ नहीं रखता। जिस व्यक्ति ने लिया ही है, दिया कुछ नहीं, आखिर उसके अस्तित्व का अर्थ क्या?" वह बोले—"तुम जिस धर्म की, जिस संस्कृति और सभ्यता का नारा लगाती हो, मेरा मत है, उसने भी जन-मन को पराधीन बनाया है। ऋषियों के सूत्र, वेदों की ऋचाएँ, आदर्श-वाक्य और सम्मानीय नेताओं के बलिदानों की पुकार, जिन व्यक्तियों द्वारा, जिस वर्ग द्वारा राजप्रासादों, मठाधीशों के मठों और नेताओं के कंठ-स्वरों से उच्चारित हुई, हाय! उन सबने उसे क्रियात्मक रूप से स्वयं एक दिन भी स्वीकार नहीं किया। वह तो जनता को केवल सुना गए। दुर्बल प्राणी-समाज, भूखा-नंगा समाज उन आदर्शों की वेदी पर बलिदान होने के लिये प्रेरित किया गया—समर्पित हो जाने के लिये बाध्य किया गया।" वह बोले—"यदि कहनेवाले स्वयं भी उस पर चलते, समाज की संपत्ति को समाज का आशीर्वाद मानते, तो आज विश्व की स्थिति ही दूसरी होती। तुम्हारी आँखों के सामने दुर्बल प्राणियों के हृदय से निकली आहों की आँधी न उठी होती? बाल-आबाल, युवा-वृद्ध, नर-नारियों की हत्या के अंबार न लगे होते! वर्ग-भेद की दीवारें न खड़ीं होतीं। विद्वेष और कलह न दिखाई देते। मानव-समूह अशांति से भरा न होता।" उन्होंने कहा—"रूपवती! जागरण और जनता-जनार्दन की सेवा का प्रदर्शन कर हमने स्वेच्छा का पेट भरा — मानव की लाश पर सोने-चाँदी के महल निर्माण किए, दूसरे के आँसू देखकर हम हँसे। भूखे बच्चों की तड़प देखकर निश्चिंत और उदासीन रहे।" कहते हुए मास्टरजी

गंभीर हो गए, उनका कंठ अवरुद्ध हो गया। उनके मानस में लगी हुई आग भड़क उठीं। उससे शोले उठने लगे। वह विक्षिप्त-से हो उठे।

मास्टरजी को विक्षिप्त देखकर रूपवती ने प्रसंग रोक दिया। उसके सभी तर्क मास्टरजी की उस कातरता और वेदना में तिरोहित हो गए। तदनंतर आदर भाव से उसने मास्टरजी को बिदा किया।

मास्टरजी को गए काफ़ी समय हो गया था। रूपवती रसोई से निवृत होकर, अपने नियम के अनुसार, पूजा पर बैठ गई। वह स्वयं संध्या-समय भोजन नहीं करती थी। लखना के लिये ही बनाती थी। लखना बाहर गया हुआ था। अपनी नित्य की दिनचर्या के अनुसार रूपवती हाथ में गीता लेकर पढ़ने बैठी, तो उसका मन गीता में न लग कर, कभी गाँव पहुँच जाता, कभी नगर की उन अँधेरी और गंदी गलियों में जाता, जहाँ मनुष्य रहते अवश्य थे, परंतु उसकी दृष्टि में वे स्थान मनुष्यों के रहने योग्य कदापि न थे, वहाँ तो कीड़े-मकोड़े ही रह सकते थे। कुछ देर पूर्व मास्टरजी धर्म और धन की जो व्याख्या कर गए थे, वह अभी तक रूपवती के मन पर छाई थी। वह बरबस ही उसके हृदय में एक कसक पैदा कर रही थी। वह अनुभव कर रही थी कि दुर्बल-काय मास्टर की आत्मा में आग सुलग रही है।

रूपवती भजन न कर सकी, गीता का पाठ भी ना कर सकी। अपने अंतर में वेदना छुपाए आसमान की छाती पर हँसते हुए तारों को देखने लगी। उसे लगा कि तारों का वह हास्य-परिहास है, जग के लिये उपेक्षा का भाव है। रूपवती की आँखें भर आईं। उसने घुटनों पर अपना मुँह रख लिया, और कातर भाव से मन-ही-मन कहा—"तो क्या यह मनुष्य ऐसे ही रोता रहेगा। यह जग इसी प्रकार वेदना से भरा रहेगा!"

रूपवती ने पुनः अपना मुँह ऊपर उठाया, और नितांत आत्म-ग्लानि से पूर्ण स्वर में कहा—"ऐसे रहेगा, तो यह विश्व नष्ट हो जायगा—अनुभूति और सद्भावना का अंत हो जायगा।"

"और तब......तब......?" हठात् रूपवती के मन ने पुनः प्रश्न किया।

तभी मानो उसके विवेक ने उत्तर दिया—"तब संघर्ष, अशांति और कलह सर्वत्र फैल जायगी। यह देश क्या, समूचा विश्व ही आग की लपटों में जलकर ख़ाक हो जायगा। चारों ओर हाहाकार मचेगा। स्वेच्छा का नग्न तांडव होगा। मानव पीड़ा से सिसक रहा होगा। मारनेवाला हँसेगा, और मरनेवाला पीड़ा से दम तोड़ेगा"

उसी समय पड़ोस की एक वृद्धा आई। वह आते ही बोली—"लखना की मा! सुना तुमने? कल पास के मुहल्ले में एक बारात आई थी। सुनती हूँ, वर ने दो लाख की दौलत लड़की वाले को दी है।"

रूपवती के मन में पहले ही आँधी उठ रही थी। यह सुनकर वह तड़प-सी उठी—"हराम की दौलत ऐसे ही लुटाई जाती है। पैसे का भूखा पैसेवाले को अपनी लड़की बेच देता है। ऐसे लोगों का समाज ही अलग है।"

वृद्धा ने कहा—"सुना है, लड़के की आयु भी अधिक है, और लड़की अभी अधखिली कली-सी.........।"

"तो क्या हुआ? लड़की विधवा हो जायगी, पर पैसेवाली सेठानी तो कहलाएगी।" रूपवती बीच ही में रोषपूर्ण स्वर में बोली।

वृद्धा ने अपने सर पर हाथ मारकर कहा—"ख़ाक रहेगी! जवानी बरबाद हो जायगी।"

यह सुनकर रूपवती व्यंग्य से मुस्किराई और बोली—"हज़ारों विधवाएँ जो रोज़ होती है, उनकी कहानी कौन सुनने जाता है? उनकी आह क्या किसी के कान में पड़ती है?" वह बोली—"माजी, यह संसार है। स्वार्थ का तीर्थ है। यहाँ पैसे से आदमी को ठगा जाता है। पैसेवाला यह समझता है, वह जग को ठगता है, परंतु सच्चाई यह है, वह स्वयं ही ठगा जाता है। कम्बख़्त अपना नाश, और साथ-साथ जग का नाश करता है!"

वृद्धा ने कहा—"वह पंडित भी कैसे हैं, जो ऐसे विवाह कराते हैं। धर्म के श्लोक पढ़ते हैं।"

ईर्ष्यालु भाव से रूपवती हँस दी—"पंडित तो भूखा है! पैसों पर बिक चुका है। इस पैसे ने सर्वप्रथम पंडित-समाज का ही तो पतन किया है। उसे पैसारूपी सर्प ने डस लिया है।"

वृद्धा बोली—"और फिर भी पंडित सर्वत्र पूज्यनीय है। उसे खिलाने से पुण्य होगा, यही समझाया जाता है।"

"धर्म की आड़ में सभी कुछ संभव है। बेचारे ब्राह्मण को आत्महीन बना दिया गया है।"

"क्या ऐसा सभी जगह होता है ?"

"हाँ माजी, सभी जगह। धर्म और मोक्ष के नाम पर संसार की सभी जातियाँ ठगी जाती हैं। पैसा देकर आदमी ऐसे ही आत्मतुष्टि करता है, मूर्ख बनता है।" वह बोली—"पिछले दिनों अखबार में निकला था, एक जाति-विशेष का धर्म-गुरु, उसके शिष्यों द्वारा, हीरे-माणिक से तोला गया। वह स्थूलकाय धर्म-गुरु विषय-वासना में लीन सदा योरप में सुंदरियों के जीवन से खिलवाड़ करता रहता है, रेस खेलता है और गुलछर्रे उड़ाता है। आज वह संसार का एक बड़ा धनपति बना हुआ है।"

"हे परमात्मा ! फिर भी वह पूजा योग्य समझा जाता है ?"

"हाँ, वह पूजा योग्य समझा जाता है। उसके मुँह से निकला वाक्य धर्म-वाक्य माना जाता है।" कहते हुए रूपवती ने साँस भरी—"माजी, इस धर्म ने ही मनुष्य को स्वेच्छाचारी पाशविक बनाया है।"

वृद्धा ने अपना मत नहीं दिया। जैसे उसके अंतर का सरल मानव कातर होकर अपने आप में खो गया।

---

# सोलह

बातों-ही-बातों में, एक दिन, सरदार ने रूपवती से कहा—"मैं तुझसे तेरे पुत्र लखनपाल को चाहता हूँ।" रूपवती हँसकर बोली— "लखनपाल ! मेरा लखना !" उसने कहा—"वह तो तुम्हारा ही है भैया ! लखना पर तुम्हारा ही अधिकार है। मैंने लखना को जन्म अवश्य दिया है, परंतु एक सामाजिक प्राणी के नाते वह सभी का है—जाति का है, राष्ट्र का है।" उसने कहा—"कैसी विडंबना है, संसार की सभी वस्तुएँ बँट गईं, और उन पर व्यक्ति विशेष के नाम की मुहर लग गई। धन के समान ही पुत्र-संपदा पर भी मा-बाप ने अपना अधिकार समझ लिया।"

सरदार गंभीर होकर बोला—"सचमुच, समस्या कठिन हो गई है।"

रूपवती ने कहा—"समाज-शास्त्र के पंडितों ने कदाचित् यह कभी नहीं सोचा होगा कि वर्गीकरण की सीमाएँ इतनी संकुचित हो जायँगी, कि मनुष्य मनुष्य के पास रहकर भी दूर हो जायगा।"

एकाएक सरदार को अपने विगत जीवन की एक घटना याद हो आई। वह बोला—"जिस जमींदार के कारण मुझे इस राह पर आना पड़ा, इसी सप्ताह उसका प्राणांत हो गया। उसके पुत्र पहले ही बाप से अलग हो गए थे। वह रुग्णावस्था में बिस्तर पर पड़ा छटपटाता रहा। मूर्ख पुत्रों ने पिता से इतना बैर बाँधा कि उसकी परिचर्या में भी तनिक सहयोग नहीं दिया। जायदाद पर पुत्रों से मुक़द्दमे-बाज़ी चली थी। पुत्रों ने अपना अधिकार ले लिया था। उसी बीच पिता को एक बार उन्होंने पिटवा भी दिया था।"

रूपवती ने भारी मन से कहा—"इस धन ने सभी को अंधा बना दिया है।"

सरदार भावावेश में कहता गया—"एक व्यक्ति द्वारा मैंने उसकी दवा-दारू के हेतु कुछ रुपया भिजवाया। जब मरा, तो कफ़न का प्रबंध भी मुझे ही करना पड़ा।"

सुनकर रूपवती ने सरदार की ओर श्रद्धा से देखा। सचमुच, उस क्षण उसे लगा, जैसे इस भीमकाय, कुरूप, कुख्यात व्यक्ति के हृदय में ममत्व छोड़ और कुछ नहीं है। यह सरदार ऊपर से जितना बज्र और कठोर दिखाई देता है, अंदर से उतना ही तरल और कोमल है। परोपकार और लोक-सेवा की भावना को छाती में छिपाए इस जग के हाहाकार में फिर रहा है। रूपवती के हृदय-सागर में हिलोरें उठने लगीं। उसकी इच्छा हुई, कि वह ऊपर से पाषाण बने हुए इस भैया के चरणों में अपना सिर रख दे। ओह! मेरे भैया!"

किंतु उसी समय सरदार ने कहा—"मुझे तो यह देखकर भी अचरज हुआ कि ज़मींदार की पत्नी ने, पति को छोड़, अपने पुत्रों का पक्ष लिया। उस नारी ने जैसे पुत्रों में ही अपना स्वार्थ देखा।"

रूपवती ने आहत स्वर में कहा—"नारी भी स्वार्थ की खान है—इच्छाओं की क्रीत दास! मा बनने के बाद नारी पत्नीत्व की सीमाएँ तोड़ देती है। वह पुत्र में ही अपना सब कुछ देखने लगती है।"

सरदार ने आवेश में कहा—"शक्ति-पुंज नारी आज शक्तिहीन हो गई है। वह वासना की गंध से प्रभावित है। तेजोमयी नारी यदि आज भी निष्ठावान होती, तो क्या इस देश की यह दुर्गति हो सकती थी?

रूपवती ने आपत्ति की—"किंतु भैया, यह भी पुरुष का ही दोष है। वही तो समाज का नेता है।"

सरदार ने कहा—"मैं यह नहीं मानता।" वह कहने लगा—"रूपा बहन! पुरुष बलवान् होने के नाते अपनी शक्ति का दुरुपयोग अवश्य करता है, और शायद वह उसे पहले नारी पर ही तोलता है, परंतु मैं पूछता हूँ, नारी ने क्यों बरबस ही अपने आपको पुरुष-वर्ग के हाथों में सौंप दिया—अपने को दुर्गंधमयी वासना का पात्र बनने दिया।" इतना कहते हुए सरदार के स्वर में रोष आगया—"और कहा जाता है, पुरुष नारी को अपनी इच्छाओं का केंद्र मानता है। हाय! इस परंपरा का क्या कभी अंत होगा? इस नर-नारी में एक दूसरे को दोषी ठहराने की प्रतिस्पर्धा कब तक चलेगी?

यह भी कहा जाता है कि प्रकृति का यही नियम है—यही अटूट सिद्धांत है, कि नर और नारी एक दूसरे के प्रति समर्पित रहें। जगत् के आरंभ से ही ये दोनो एक दूसरे में अपनी आस्था पाते रहे हैं—अपने से अधिक दूसरे को सुंदर मानते रहे हैं।"

रूपवती की दृष्टि उस समय बाहर सड़क पर खड़े हुए बरगद के पेड़ पर लगी थी। उस पेड़ पर अनेक परिंदे रहते थे, जो उस वृक्ष पर बसेरा लेते हुए पुरुष-समाज के समान राग-द्वेष, मान-अपमान और प्रेम-क्रीड़ा में निरत, रूपवती का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लेते थे। उस समय भी, जब सरदार ने अपनी बात कही, बरबस ही, रूपवती की आँखें उस वृक्ष पर टिक गईं। वह सोचने लगीं कि क्या सच ही यह प्रेम-लीला, जगत् की यह प्रणय-क्रीड़ा व्यर्थ है—अमानुषीय है! वह आतुर दृष्टि से सरदार की ओर एकाएक देखने लगी, मानो उस कठोर व्यक्ति का अंतर खोज लेना चाहती हो। उसकी आँखों में झाँककर यह जानना चाहती हो, कि क्या सचमुच यह व्यक्ति नितांत वैरागी है? रूपवती ने प्रथम परिचय में ही जान लिया था कि सरदार ने विवाह नहीं किया है। कदाचित् ऐसा सुयोग आया ही नहीं—समाज ने उसे विवाह-योग्य ही नहीं समझा।

तभी अपने होठों पर दुर्बल हास्य लाकर, सहमते हुए, रूपवती ने कहा—"भैया, तुम्हारे साथ न्याय नहीं हुआ, अन्यथा आज तुम विवाहित होते, बाल-बच्चेदार होते, और तभी समर्पण की भावना को समझते। तुम जानते कि इस हाड़-मांस के खोल में, जिस मानवीय अनुभूति और समर्पण की भावना निहित है, उसे प्रकृतिस्थ मानव ने भगवान् का वरदान समझा है।

गंभीर बना हुआ सरदार आँखों ही आँखों में मुस्किरा दिया, मानो उसने रूपवती का कहना स्वीकार कर लिया हो।

रूपवती फिर बोली—"किंतु, तुम अविवाहित होकर भी गृहस्थ हो, गार्हस्थ्य धर्म का पालन करते हो। तुम तो ममता के प्रगाढ़ स्रोत में बह रहे हो। संपूर्ण विश्व ही तुम्हारी गृहस्थी है। तुम वीतरागी बने हुए, जगत् की वाणी में खो गए हो।"

सरदार ने कहा—"बहन, आज का युग भौतिकवाद की ओर जा रहा है—वासना और स्वेच्छाओं के तीव्र प्रवाह में बह रहा है। लगता है विक्षिप्त मानव अपना दीन भुला देने के लिये व्यग्र है। कितना सुखकर होता यह जीवन, यदि मनुष्य संपूर्ण विश्व को अपना परिवार मानता। विश्व की समस्याओं को अपनी आँखों से, स्वार्थ की आँखों से, न देखकर, विश्व की आँखों से देखता।"

"किंतु अब, जमाना बदल रहा है।"

"चरित्र नष्ट हो रहा है।"

"नहीं, मनुष्य दिन-प्रति-दिन विवेकशील होता जा रहा है।"

सरदार ने व्यंग्य से कहा—"यही कारण है, कि आज व्यक्ति अशांत है, वेदना से पूरित है? स्वेच्छा और दंभ चारों ओर फैल गया है? नर और नारी का मानसिक स्तर आज इतना जीर्ण और दुर्बल हो गया है कि मुझे भय होता है, यह संसार एक दिन लड़खड़ाता हुआ डूब तो न जायगा।"

"ऐसा नहीं होगा—नहीं होगा भैया! ईश्वरीय सृष्टि का क्या कभी पतन हो सकेगा? एक भीषण क्रांति आएगी, और भूला हुआ मानव अपना सही पथ खोज लेगा।

अपने स्वर में दृढ़ता और धीर भाव लाकर सरदार बोला—"उस क्रांति से संसार का बहुत-सा भाग नष्ट हो जायगा। बेक़सूर और दुर्बल इंसान बेमौत ही मर जायगा। पापों का बोझ नीचे खड़े हुए व्यक्ति पर ही पड़ेगा—वही दबेगा।"

रूपवती मानो झल्ला गई—"यह भी होगा। परिवर्तन होगा, तो यह भी हमारे सामने आएगा।"

सरदार ने कहा—"बहुत-सी परंपराएँ—कल्याणकारी रूढ़ियाँ—भी नष्ट हो जायँगी।"

रूपवती उदास होकर बोली—"भया! जब चीत्कार उठता है, कोलाहल बढ़ता है, आँधी आती है, तो बहुत-सी आवश्यक वस्तुएँ अनावश्यक हो जाती हैं। जरूरी बातें

भी दब जाती हैं । भैया, क्रांति का अर्थ ही यह है कि पुराना जाय, और नया आए । हमारे बाद जो व्यक्ति आएँगे, जो इसघर को सँभालेंगे, यह तो उनका निर्णय, उनका अपना काम होगा कि वे पुरानी बातें मानें या छोड़ दें, इस घर का रूप ऐसा ही रक्खें, या उसमें परिवर्तन करें।" रूपवती ने साँस भरी और पुन: बोली—"आज का इंसान—नर और नारी का समाज—अंधा नहीं रहा, वह सजग हो गया है, प्रकाश पाने लगा है।"

इतना सुन सरदार कुंठित हो गया । बोला—"इसी के कारण आज संहार बढ़ रहा है । स्वेच्छा और दंभ का नग्न तांडव हो रहा है।"

रूपवती ने आतुर होकर कहा—"तुम भी ठीक कहते हो भैया!" पुन: विनीत स्वर में बोली—"फिर भी नए विचार फैले हैं। तुम भी आज किसी प्रेरणा से जागरित हो।आज दीनता के दुर्बल कंगूरों पर खड़ा व्यक्ति हाहाकार कर रहा है, छटपटाता है; और जिस ओर से भी उसे सहारे का आश्वासन मिलता है, उधर ही सुंदर भविष्य की आशा से देखने लगता है।" आज क्रांति की ज्वाला में ही मनुष्य को अपना सुंदर भविष्य दृष्टिगोचर हो रहा है । भले ही इस ज्वाला में उसका सब कुछ भस्मीभूत हो जाय!"

सरदार ने देखा, रूपवती अपनी बात कहते-कहते अतिशय विक्षिप्त-सी हो उठी है। लगा, उसकी वेदना वाणी में ही नहीं, अपितु शरीर में भी उतर आई है । क्रोध और आवेश से उसका शरीर काँपने लगा । मानसिक संतुलन बिगड़ गया। सरदार ने प्रसंग रोक दिया। वह रूपवती के विचारों व अपने भावी कार्यक्रम की गहराई में डूब गया।

उसी समय लखनपाल आ गया। उन दिनों कॉलेज में छुट्टी होने के कारण वह प्राय: घर पर ही रहता था । उसने पिछले दिन ही मा से गाँव चलने के लिये कहा था। रूपवती का भी विचार था । यद्यपि रूपवती ने नगर में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया था, उसका महत्त्व समझा जाने लगा था, किंतु उसकी धारणा थी कि उसका क्षेत्र गाँव है। वहाँ की दुर्बल जनता उसकी ओर सहायता पाने की आशा से ताक रही है।

लखनपाल को देख, सरदार ने कहा—"आजकल तुम्हारी छुट्टियाँ हैं, कुछ

उपयोग ही करो उनका।"

लखनपाल हँसकर बोला—"मामाजी, आज ही यह निर्णय हुआ है कि कुछ लड़के गाँवों में जायँ, और किसानों का हाथ बटाएँ। मेरा भी नाम उनमें आ गया है। कल ही मुझे चला जाना है।"

रूपवती ने कहा—"और रामपुर? अपने गाँव नहीं जायगा रे!"

लखनपाल ने कहा—"वहाँ भी हो आऊँगा मा। मैंने उसी ओर का क्षेत्र चुना है। ज़मींदार विक्रम का अध्ययन भी मुझे वहीं जाकर करना है।"

सरदार ने कहा—"अब रामपुर की अवस्था बदल गई है। गाँवकी सीमा तक रेलवे लाईन आ गई है। कपड़े की एक बड़ी मिल भी चालू हो गई है।"

रूपवती बोली—"वेचारे किसानों की बहुत-सी ज़मीन छिन गई होगी।"

सरदार ने साँस भरी—"यही तो हुआ ही होगा। किसान और मज़दूर ही सदा दबाया जाता है। उसे लूटने का कोई-न-कोई मार्ग खोज लिया जाता है।"

लखनपाल ने कहा—"मामाजी, यदि न्याय हो, मज़दूर को उचित पारिश्रमिक मिलता हो, तो उद्योग-धंधों का परिष्कार पूँजी का सार्थक उपयोग है। आज उसी की आवश्यकता है।"

सुनकर रूपवती झुंझला पड़ी—"पर, इस सचाई को स्वीकार कब किया जाता है। क़ानून और शासन, दोनो पर बलवानों का अधिकार है। अजीब अवस्था है, न्याय और कानून का पालन करने के लिये दुर्बल से कहा जाता है, उसी को बाध्य किया जाता हैं।"

सरदार ने कहा—"हाँ, अभी तो ऐसी ही परंपरा है।"

लखनपाल बोला—"मामाजी, इस स्थिति का भी अंत होनेवाला है।" उद्योग-धंधों का राष्ट्रीयकरण होगा, तो समस्या का अंत हो जायगा।"

इतना सुनकर सरदार ईर्ष्या भाव में मुस्किरा दिया—"अभी तो ऐसा दिखाई नहीं देता। सुनता हूँ, खेती का भी वर्गीकरण होगा। किसान श्रम करेंगे, और उनके हिस्से में जितना अन्न आएगा, वह उन्हें मिल जायगा।" उसने कहा—"पर क्या किसानके साथ न्याय होगा? वह तब भी भखा न मरेगा? उस

बंदर-बाँट में वह धोखा खायगा—ज़मीदार और सरकारी आदमियों का ही पेट भरेगा।" उसने हँसकर कहा—"और यदि सत्ययुग आया भी, तो हमारे जीवन के बाद आएगा।"

लखनपाल तेज़ हो गया। वह कठोर स्वर में बोला—"ऐसा नहीं होगा ! यह समय की माँग है-जनता की माँग है।"

सरदार ने लखनपाल की ओर देखा—"मेरे बच्चे ! जनता की आवाज़ को आज भी दबाया जाता है। अंधकार में पड़े हुए समाज की ओर कौन देखता है ! किसके कान उस चीत्कार पर जाते हैं, जो क्षुधा की वेदना से निरंतर फूट रहा है ? रिस-रिसकर मानव की वेदना इस देश के वायु-मंडल में परि-व्याप्त है।"

"मामाजी !" लखनपाल बोला—"यदि आज भी—इस युग में भी—उस आवाज़ को दबाया गया, समाज ने अपने कानों को उस ओर न लगाया, आँखों से न देखा, तो मैं कहता हूँ, यह देश भक-भक कर जल जायगा—ऊँची अटारियाँ भूमिसात् होंगी, और प्रतिकार स्वरूप चीत्कार करता हुआ मानव, ख़ूनी भेड़िया बनकर, किलकिलाता हुआ, सरमायदारी की छाती पर जा चढ़ेगा—वह दुर्बल व्यक्ति नितांत बर्बर और हिंस्र बन जायगा।"

सरदार ने अपना हाथ उठाकर लखनपाल के कंधे पर रक्खा—"यह तो मुझे भी दिखाई पड़ रहा है लखनपाल ! साफ़ दृष्टिगोचर हो रहा है कि आहों की सुलगती हुई इस आग में इंसान जल जानेवाला है—इस देश का बहुत कुछ मिट जानेवाला है मेरे बच्चे !"

रूपवती बोली—"भैया, अब तुम उठो। लखना भी आ गया। भोजन करो, ठंडा हो रहा है।" वह उठ खड़ी हुई, और चौके की ओर जाती हुई बोली—"जो कल था, वह आज नहीं, जो आज है, वह कल नहीं।" उसने सरदार और लखना की ओर मुड़कर कहा—"नियति के इस राज्य में—प्रकृति के विराट् रूप में—इंसान सभी कुछ देखता और पाता है। इंसान की यही संस्कृति है, परंपरा है।"

---

# सत्तरह

सहपाठियों से छूटकर लखनपाल अकेला ही रामपुर पहुँचा। गाँव से कुछ दूर कपड़े की मिल थी। बियाबान जंगल में एक नगर-सा बस गया था। मिल की चिमनियों से निकलता धुआँ शांत नीले आकाश में फैल रहा था। लखनपाल कई वर्ष बाद गाँव आया था। गाँव बदल गया था, साथी बदल गए थे। उसके मकान का अधिकांश हिस्सा गिरकर खँडहर बन गया था। देखकर बरबस ही लखनपाल का दिल भर आया। वह अपने मकान के खँडहर में जाकर बैठा ही था कि पड़ोस के स्त्री-पुरुष और बच्चों ने आकर उसे घेर लिया। उन्हीं में लखनपाल ने लक्खो (लक्ष्मी) को देखा। लक्ष्मी अब बच्ची न थी। यौवन की भरी दोपहरी उसके सिर पर चढ़ी थी। लखनपाल को देख, बरबस सकुचाकर, नीची निगाह किए वह खड़ी रही।

उसी समय लक्ष्मी की मा आई, और लखनपाल को अपने घर ले गई। गाँव के अधिकांश व्यक्तियों ने वहीं आकर उसे देखा, और हर्षित भाव में, आशीष देते हुए, ईश्वर को धन्यवाद दिया कि लड़का सयाना हो गया—पढ़-लिखकर समझदार हो गया है।

संध्या हुई। लक्ष्मी की मा मंदिर में जोत जगाने चली गई पिता बैलों के लिये चारा काटने लगे। उसी समय लक्ष्मी लखनपाल के पास आई, और आते ही बोली—"आज आए हो, इतने दिन बाद!"

लखनपाल ने बात सुनी, पर उत्तर नहीं दिया। वह लक्ष्मी को देखकर जैसे भावनाओं में बह गया।

लक्ष्मी ने फिर कहा—"मेरे पत्रों का भी तुमने उत्तर नहीं दिया?" उसने आसमान की ओर मुँह उठाकर कहा—"इच्छा तुम्हारी! मेरे भाग्य में तो जो कुछ बदा था, भोग रही हूँ!"

सुनकर लखनपाल जैसे चौंक उठा। उसने मुँह उठाकर लक्ष्मी की ओर

देखा, और उसकी उन सुंदर आँखों से गालों पर अश्रु बहते हुए पाए। देखकर वह गंभीर हो गया। हृदय में करुणा की लहर उमड़ आई।

लक्ष्मी ने पुनः तड़ित स्वर में कहा—"लखनपाल, मैं नहीं समझती थी, तुम इतने कठोर निकलोगे ! तुम भूल ही जाओगे कि कोई लक्खी भी थी, जो तुम्हारे साथ खेलती थी, गुड्डे-गुड़िया का खेल रचाती थी, एक क्या, तुम्हारी जाने कितनी बातें सुनती थी !"

खिन्न स्वर में, अपराधी के समान, लखनपाल ने कहा—"न लक्ष्मी ! मैं तुझे भूला नहीं, सदा ही तुझे याद करता रहा। एक-दो पत्रों को छोड़, मुझे तेरा कोई पत्र ही नहीं मिला।"

"तुम झूठे हो !" लक्ष्मी ने अपनी बात पर बल दिया।

यह सुनकर लखनपाल हँसने की चेष्टा करते हुए भी हँस न सका। लक्ष्मी की आँखों के आँसू देख वह उसी में खो गया।

लक्ष्मी ने एक लंबी निःश्वास छोड़ी, और बोली—"मैं देहातिन हूँ, मूर्ख हूँ......"

"तू कैसी बातें करती है लक्ष्मी ! तू यह क्यों भूल जाती है कि मैं भी देहाती हूँ। तेरे साथ ही खेला-कूदा, तेरा बचपन का सखा हूँ ?"

इतना सुन लक्ष्मी ने साँस भरी—"काश तुम मेरे सखा होते, मुझे याद करते !"

लखनपाल ने सुना, पर उत्तर नहीं दिया। मानो उसने अपना दोष स्वीकार कर लिया। अवश्य ही उसने लक्ष्मी को भुला दिया, परंतु लक्ष्मी ने उसे नहीं भुलाया, वरन् उसे याद रक्खा। उसी समय लखनपाल के दिल में यह बात भी आई कि वह लक्ष्मी के समान देहाती तो है, परंतु शहर में पढ़कर और इतने वर्ष वहाँ रहकर, उसे जैसे गाँव के जीवन से कोई प्रीति न रह गई थी। गाँव से उसकी सहानुभूति भले ही हो, लेकिन जिस गाँव की मिट्टी में वह जन्मा, पला, खेला, उसकी पूजा करने के हेतु भला उसके पास कौन-सी श्रद्धा अवशेष रही है ? उसने तो स्वयं ही अपने गाँव की—लक्ष्मी की—स्मृति भुला दी। अपने गाँव के लिये ही उसके मन में उपेक्षा है, ग्लानि है, भर्तस्ना है। उसी समय लक्ष्मी

की मा के मंदिर से लौट आने पर, लक्ष्मी घर में चली गई। लखनपाल चबूतरे पर पड़ी चारपाई पर अकेला पड़ रहा। ऊपर आसमान में तारे निकल आए थे। चारों ओर शांति थी। तभी लखनपाल के मन में एक हूक-सी उठी। और वह करवट बदलकर तारों-भरे आसमान को एकटक देखता हुआ बुद-बुदाया—"लखना! ठीक तो कहती है लक्ष्मी। मैं गाँव में पैदा होकर भी गाँव का नहीं रहा—शहरी बन गया! किंतु यह वैभवशाली नगर इन गाँवों को उजाड़कर ही बने हैं। गाँव के ही व्यक्ति वहाँ पहुँच गए हैं। उस प्रकाशमय दुनिया की गति में वे प्राण पाते हैं—उस जीवन-दर्पण में ही अपना रूप देखते हैं।" यह कहते हुए लखनपाल ने सामने देखा, पड़ोसी मँगलू अति बूढ़ा हो गया है। वह जिस मिरजई से अपना शरीर ढाँके हुए है, फटकर चिथड़ा हो गई है। धोती लँगोटी-सी बन गई है। वह तन्मय होकर कुट्टी काट रहा था—पसीने से लथ-पथ। उसकी लड़की और बहू भी साथ लगी थीं। तभी लखनपाल के मन ने प्रश्न किया—"इस परिश्रम का पुरस्कार इन्हें क्या मिलता है? केवल कठिनाई से पेट-भर अन्न, और कभी वह भी नहीं।" उसको कौतूहल हुआ—दुनिया का पेट भरनेवाला ही भूखा, तृषित और कृप क्यो? जिसके परिश्रम से दुनिया जगमगाती है, वही अँधेरे में है—जीवन के सौभाग्य से दूर। उसी अवस्था में लखनपाल ने यह भी देखा कि मँगलू की लड़की जुनिया जिस घाघरे को पहने है, फटा है—कठिनाई से लाज ढकी है। लखना का मन तड़प उठा— इन्हीं के परिश्रम से कपास पैदा होती है, राजप्रासादों की रानियाँ उसी से बने सुंदर वस्त्रों से सजती हैं! लखनपाल को लगा, यह किसान—जग का प्राण-दाता, अनुभूति का पुजारी—सचमुच ही दुनिया के एक बड़े गिरोह द्वारा लूटा जा रहा है, सदियों से अपमानित किया जा रहा है। उसका पुरुषोचित सम्मान छीन लिया गया है।

इतने में लक्ष्मी के पिता वहाँ आए। उन्हें देख लखनपाल उठकर बैठ गया। लक्ष्मी के पिता लालमन अपनी गुड़गुड़ी भरकर लाए थे। बैठकर पीते हुए लखनपाल से बोले—"बेटा, अब काम नहीं होता। बुढ़ापा आ गया है, शरीर दुर्बल हो गया।"

"आपकी आयु भी तो काफ़ी हो गई है।"

"हाँ, साठ से ऊपर चला आया।"

तभी लक्ष्मी की मा आकर चारपाई के पास ज़मीन पर बैठ गई। बोली—"लखना बेटा, तूने भी सुना? लक्ष्मी का तो भाग्य ही फूट गया!" कहते-कहते मा का स्वर अवरुद्ध हो गया—"पिछले वर्ष ही लक्ष्मी का विवाह हुआ था। उसके एक मास बाद ही लड़का हैज़े का शिकार हो गया, उसे विधाता ने छीन लिया!"

बात सुनते ही लखनपाल की साँस रुक-सी गई। वह जैसे आकाश से पृथ्वी पर गिर पड़ा। केवल इतना ही उसके मुँह से निकला—"चाची!"

"बेटा, इस बुढ़ापे में मेरा तो सभी कुछ लुट गया। ब्याह में पत्र भेजा था, तेरी मा ने जवाब भी नहीं दिया। शायद उसने आना नहीं चाहा।"

लखनपाल बोला—"मा को पत्र ही नहीं मिला, अन्यथा वह आती न! मैं न आता!" फिर कुछ ठहरकर बोला—"पर जो कुछ हुआ, बुरा हुआ। लक्ष्मी के साथ परमेश्वर ने अच्छा नहीं किया चाची! मैंने तो अभी तुमसे ही सुना कि लक्ष्मी का विवाह हो गया, और ... ..."

लालमन ने कहा—लक्ष्मी क्या लुटी, हम भी लुट गए। तुम्हारे कहने पर लक्ष्मी ने कुछ लिख-पढ़ लिया था, इसलिये लड़का भी पढ़ा-लिखा देखना पड़ा। क़र्ज़दार भी हो गया। लाला से तीन हज़ार रुपया लिया था। उसका सूद देने में ही मेरी आँखों के आगे अँधेरा छा गया।"

लखनपाल बोला—"लाला तो जोंक हैं। जिसके चिपटते हैं, ख़ून चूस लेते हैं।"

लालमन ने कहा—"बहुत जहरीला साँप है; उसके काटे का मंतर भी नहीं।"

लक्ष्मी की मा कातर स्वर में बोली—"बेटा, इस विवाह में हमने सभी मुसीबतें उठाईं, पर अंत में भाग्य ने भी धोका दिया। लक्ष्मी सुखी रहती, अपना सोहाग लिए रहती, तब भी संतोष होता।"

लालमन बोला—"लक्ष्मी के दुर्भाग्य ने हमारा बुढ़ापा बिगाड़ दिया। ज़िंदा रहना भी दूभर हो गया।"

लक्ष्मी की मा बोली—"लक्ष्मी को देखती हूँ, तो मन-ही-मन रो पड़ती हूँ। जवान लड़की है, कैसे काटेगी अपनी ज़िंदगी ? मैं तो इसी चिंता में घुली जा रही हूँ।"

लखनपाल ने साँस भरी—"सचमुच लक्ष्मी लुट गई। लंबी ज़िंदगी का बोझ उसके सिर पर है। अब तो भगवान् की दया ही उसे सहारा दे सकती है।"

तभी लक्ष्मी के भाई ने आकर बताया—"रोटी तैयार है।"

लक्ष्मी की मा ने लखनपाल से कहा—"चलो बेटा, रोटी खा लो।"

लखनपाल खड़ा हो गया। घर में लक्ष्मी रोटी बना रही थी। लखनपाल जब वहाँ जाकर बैठा, तो देखते ही उसका मन रो पड़ा हाय ! यह लक्ष्मी ! अब इसका क्या होगा ?"

लक्ष्मी ने थाली परोस लखनपाल के आगे बढ़ा दी। मा ने कहा—"बेटा, दाल-रोटी है केवल, अचार भी नहीं।"

लखनपाल ने हँसकर कहा—"चाची, ऐसी दाल-रोटी क्या रोज़-रोज़ मिलती है ? आज वर्षों बाद तुम्हारे घर की रोटी मिली है।"

उसी समय लालमन अंदर आया, और बोला—"लखनपाल, मैं तो बहुत पहले उजड़ गया था। विक्रम ने मार दिया था। सरदार न होता, वह मदद न करता, तो क्या यह घर आज दिखाई देता ! मैं जाने कहाँ इन बच्चों को लिए-लिए फिरता।" फिर बोला—"सरदार बहुत भला आदमी है। देखने में तो पूरा राक्षस लगता है, पर हृदय उसने देवता-सरीखा पाया है।"

लखनपाल ने कहा—"सरदार मनुष्यता की ओर देखता है। वह मनुष्य की करुणा में खो जाना जानता है।"

लालमन ने कहा—"लक्ष्मी के विवाह में भी वह मदद करता, पर मैंने यह उचित नहीं समझा। उससे कुछ नहीं कहा। मुक़द्दमे के बाद वह मुझे दिखाई भी नहीं दिया।"

लखनपाल ने कहा—"सरदार के पास बहुत बड़ा काम है। वह पूरे देश का भ्रमण करता है, और दुर्बल प्राणियों की सेवा में अपना सर्वस्व लगाने को तत्पर रहता है।"

लक्ष्मी की मा ने साँस भरी—"वह मनुष्यों में देवता है।"

लालमन ने कहा—"सुना है, उसी के आदमियों ने तुम्हारी मा को भी घर से उठाया था, विक्रम ने उसे रुपए दिए थे।"

लखनपाल ने कहा—"हाँ, ऐसा ही हुआ था, पर जब उसने मा की बातें सुनीं, सच्चाई समझी, तो वह उनका धर्म-भाई बन गया। उसी के सहारे हमारा काम चला है।"

लक्ष्मी की मा बोली—"तो बेटा, अब तुम्हारा क्या करने का इरादा हैं?"

लखनपाल बोला—"मैं अब गाँव में ही आ जाऊँगा चाची!"

चाची ने शंकित स्वर में कहा—"तू यहाँ आएगा! यहाँ क्या करेगा? जमीन भी नहीं रही, वह तो ज़मींदार के हाथ में चली गई।"

लालमन ने कहा—'अब तुम पढ़-लिख गए हो भैया! पूरे शहरी बन गए हो।"

लखनपाल ने कहा—"पैसा कमाना ही आदमी का ध्येय नहीं चाचा! ज़िंदगी में और भी काम हैं। वे सभी मनुष्य को करने पड़ते हैं। मैं गाँव में सुधार-कार्य करूँगा।" इतना कहते हुए उसने लक्ष्मी की ओर देखा, उसकी भावना समझने का प्रयत्न किया। तभी लक्ष्मी ने रोटी देने के लिए हाथ बढ़ाया। लनखपाल ने कहा—"बस, मैं खा चुका।

लक्ष्मी ने कहा—"बस, एक!" और उसने रोटी थाली में डाल दी।

लखनपाल ने कहा—"पेट भर गया। बातों-बातों में अधिक खा गया।"

लक्ष्मी ने, यह सुनकर भी अपने स्वभाव के अनुरूप, ओठों पर हास्य का भाव न आने दिया, मानो अब उसे हँसने का कोई अधिकार नहीं रहा। लखनपाल ने भी इसे समझा। वह समझ गया, लक्ष्मी लुट गई, अपना सभी कुछ खो चुकी है। निष्ठुर प्रकृति जैसे पूर्ण रूप से उसके पीछे पड़ी हो—उसे झकझोर रही हो। यौवन से भरपूर लक्ष्मी के मानस में दबी हुई आग को वह कुरेद रही है। उससे कह रही है—"जाग लक्ष्मी! तू उठ। तू अपना यह यौवन देख! इस यौवन की तड़प देख!" किंतु, हाय! फिर भी लक्ष्मी मौन है। वह अपने मानस की टीस को बरबस ही दबा देना चाहती है। वह अपना रोदन, चीत्कार

किसी को भी सुनाने के लिये स्वतंत्र नहीं। मानो उसका कोई अपना नहीं। वह किसे सुनाए, किससे कहे। और, वह भरपूर यौवन जैसे माँग करता है, समर्पण की टेर लगाता है। वह बलात् उस भोली लक्ष्मी को झकझोरता है। उस शांत सागर में लहरें उठाता है--तूफ़ान लाना चाहता है।

लखनपाल रोटी खाकर खड़ा हो गया। मकान के ऊपर कमरा था, उसका बिस्तर उसी में लगा दिया गया। लक्ष्मी ने वहाँ एक दीपक लाकर रख दिया। लखनपाल देखने लगा कि मकान के उस चौबारे में जाने कितनी बार वह लक्ष्मी के साथ खेला था। उन खेलों में ही उन दोनो ने कभी मकान बनाए, कभी गुड्डे-गुड़ियों के खेल खेले। चारपाई पर पड़े हुए लखनपाल को याद आने लगा कि सचमुच अनेक बार मैंने लक्ष्मी की बात का समर्थन किया था। मैंने उससे कहा था—"इस मकान के मालिक हम दोनो बनेंगे, यह मकान हमारा होगा। मैं गुड्डा, और तू गुड़िया। इस घर की रानी और मालकिन बनकर, अपने गुड्डे पर राज करेगी।" लखनपाल कराह उठा—"आह ! हवा के एक ही झोके ने—परिस्थिति के जाने किस भूँचाल ने—हम दोनो को पृथक् कर दिया। लक्ष्मी का सोहाग लुट गया। भरी जवानी में विधाता ने उसके मुँह पर इतना भारी तमाचा मारा कि वह तिलमिला गई, तड़प गई, टीस से कसककर रह गई।" रोटी खाते हुए लखनपाल ने बरवस लक्ष्मी की आँखों में झाकने का प्रयत्न किया था। उसने देखा था, उस भोली दृष्टि में, लक्ष्मी की उन मनोहारिणी आँखों में, सौंदर्य के साथ एक हाहाकार भी है। रोदन उमड़ रहा है। उसके उस गुलाब की पंखड़ियों-से सुंदर लाल-लाल ओठों पर जहाँ नारी का हास्य है, सरल यौवन का उन्माद है, वहाँ पीड़ा भी व्यक्त हो रही है। लक्ष्मी की जवानी में, शरीर से फूटते हुए रोम-रोम में हास्य और उन्माद के पीछे वेदना और कराह भी सम्मिलित है।

एकाएक लखनपाल का मन लक्ष्मी की वेदना से इतना भरा कि वह आँखों के द्वार पर आकर गालों पर बह निकला। वह कातर होकर चीख़ पड़ा। लखनपाल ने उसी अवस्था में कहा—"बेचारी लक्ष्मी !"

अवसर की बात, तभी लक्ष्मी दूध का गिलास लेकर वहाँ आई। दीपक के

प्रकाश में वह धानी रंग की चुनरी ओढ़े हुए, मुहँ पर गंभीरता लिए जब लखनपाल की चारपाई के पास आई, और उसके गालों पर बहते हुए आँसुओं को देखा, एकाएक बोली—"तुम···तुम भी रोते हो लखनपाल ?"

लखनपाल ने कहा—"हाँ लक्ष्मी, मैं भी रोता हूँ। मैं अपने बीते हुए दिनों को याद कर रहा हूँ। इस कमरे में ही हमने बचपन की प्रीति का राग गाया था। वह राग—वह सुहाना खेल—मैं यहाँ बैठकर अनायास ही याद कर सकता हूँ। बता तो, वह तेरी गुड़िया······वह गुडडा ?"

लक्ष्मी ने दूध का गिलास आले में रख दिया, और उस कमरे की एक अलमारी के ऊपर हाथ ले जाकर एक पोटली उठा ली। खोलकर उसमें से कपड़े में लिपटी एक चमचमाती हुई गुड़िया निकाली—दुलहिन-सी सजी। उस गुड़िया की नाक में नथ, सिर पर काच का झूमर, पैरों में बिछुवे थे। फिर एक गुड्डा निकाला। सिर पर टोपी, कोट और पाजामा पहने। इस रूप में उस गुड्डे और गुड़िया को दिखाकर लक्ष्मी ने कहा—"मैंने इन्हें बहुत सँभालकर रख छोड़ा है। ये मेरे साथ ही जल जानेवाले हैं। तुम भूल जाओ अपनी गुड़िया को, पर मुझे तो इस गुड्डे को देख बचपन की याद आजाती है। जवानी तो मेरी मिट गई, पर बचपन को याद कर के ही यह जवानी काटनी है।"

उसी समय लखनपाल ने वह गुड़िया उठा ली, और कहा—"लगती कैसी है, पूरी दुलहिन ! जैसी अभी ब्याही जायगी—पिया के घर जायगी।"

लक्ष्मी ने कहा—"और यह गुड्डा ? जैसे दूल्हा बन कर आया है—उछलता-कूदता, मूछें ऐंठता।"

बरबस ही लखनपाल हँस दिया—"लक्ष्मी !"

किंतु लक्ष्मी हँस नहीं पाई। वह साँस भरकर बोली—"लखनपाल !"

लखनपाल ने कहा—"यह गुड़िया मेरी है। जीवन-भर मेरी ही रहेगी।"

लक्ष्मी ने साँस छोड़ी, और अपना मुँह नीले आसमान की ओर उठा दिया। मानो लखनपाल की बात के गहरे गह्वर में उसने अपने आपको बरबस ही डूब जाने दिया। उसी में उसे सुख और संतोष दिखाई दिया।

---

## अठारह

देर हो गई थी। लखनपाल दूध पीकर सो गया। चाँदनी रात थी। दूर नदी के किनारे चकवा अपनी चकवी को पुकार रहा था। रात के उस शांत प्रहर में खेतों पर काम करनेवाले और कुएँ पर रेहट चलानेवाले किसानों का स्वर लखनपाल को सुनाई देता था। गाँव से दूर चलती हुई मिल की मशीनों की खड़खड़ाहट सुनाई पड़ रही थी। लखनपाल बार-बार करवटें बदल रहा था। वह बेचैन था। लक्ष्मी निरंतर उसके मनन की वस्तु और विचारों का लक्ष्य बनी हुई थी। वह अपना कर्तव्य खोज रहा था।

नगर के जिस भाग में लखनपाल रहता था, वह काफ़ी घना बसा था। नगर की मिलों व छोटे कारखानों का धुआँ वहाँ सदा छाया रहता। पास के बाज़ार में चलती हुई ट्राम-गाड़ियों, मोटर-बसों और रिक्शा-वालों का स्वर कठिनाई से रात्रि के बारह बजे तक कम हो पाता था। नगर के उस जीवन में, जैसे स्वास्थ्यप्रद साँस मिलना कठिन था। हर साँस के साथ दुर्गंध और जहरीले कीटाणुओं का वेग शरीर में प्रवेश करता। लखनपाल अनुभव करता, नागरिक जीवन धनिकों के लिये ही है, मजदूर या मध्यम-वर्ग का व्यक्ति उस क्षेत्र में अधिक दिन अपना जीवन-चक्र नहीं चला सकता।

किंतु गाँव की उस शांत बेला में, रात्रि के उस मधुर प्रहर में, लखपाल जैसे स्वर्गीय आनंद का अनुभव कर रहा था। वह बरबस ही समझ रहा था कि वास्तविक जीवन यही है, अनुभति यही है, जागरण यही है।

लखनपाल जिस स्थान पर बिस्तर पर पड़ा था, वहीं बाहर से चाँदनी आ रही थी। उसी स्थान से वह अपना टूटा-फूटा पुराना मकान भी देख रहा था। निदान, जब वह मानसिक अशांति के कारण सो न सका, तो उठ-कर बैठ गया। वह अनायास अपने मकान के ऊपर दृष्टि पसारकर देखने लगा, और अनुभव करने लगा, मानो वह मकान एक दीन मनुष्य के रूप में खड़ा हुआ उसी की ओर निहार रहा है। वह पुकारकर लखनपाल को सुना

रहा है—"मेरी बरबादी हुई है, मुझे नष्ट किया गया है। मेरे पास रहनेवाले व्यक्तियों के साथ ही अन्याय नहीं हुआ, प्रत्युत उनके साथ मेरा भी यशोगान मिटा दिया गया। मेरा भाग्य लुट गया है!"

भूमिसात् मकान के उस मिट्टी के खँडहर को देख सचमुच ही लखनपाल तड़पकर रह गया। उसका हृदय रो उठा। उसे रोमांच हो आया, और वह समझने लगा, इस खँडहर का पुनर्निर्माण करना मेरा कर्तव्य है। मेरे समान यह मकान भी प्राणवान् है—सामाजिक जीव है। इसका भी सम्मान है। इसकी भी वाणी है।

लखनपाल बिस्तर छोड़ खड़ा हो गया, और कमरे के बाहर छत पर चला आया। उस मकान के पास एक नीम का पेड़ था। उस पर पक्षी रहते थे, जो कभी-कभी पर फड़फड़ा उठते थे। कोई चीत्कार कर उठता था। जब लखनपाल छत पर घूमता हुआ उस पेड़ की डालों के पास गया, और छत पर लटकती एक डाल पकड़कर खड़ा हुआ, तभी कौए, गौरइया तथा अन्य पक्षियों ने चिल्लाना शुरू कर दिया, मानो उन्होंने अपनी जाति को संकेत देना आरंभ किया—'शिकारी—स्वेच्छाओं का क्रीत दास शत्रु आ गया।'

इतना समझते ही लखनपाल ने डाल छोड़ दी। वह पेड़ से दूर हट गया। उसे अच्छा नहीं लगा कि उसने परिंदों को जगा दिया। उसके मन का कातर और दीन भाव जाग उठा। वह अनायास अपनी धीमी वाणी में बोल उठा—"अरे लखनपाल! इस विश्व में—इस जीव-जगत् में—सभी एक दूसरे के शत्रु हैं। दुर्बल सताए जाते हैं। इस जड़-जंगम में, इस पक्षी-जगत् में, नर-नारियों के समूह में, सर्वत्र ही इसी परंपरा का व्यवधान है। इस जगत् की यही रीति है। बलवान् का भोजन सदा दुर्बल ही बना है। उसी का भक्षण किया जाता है!"

लखनपाल का मन गिर गया। वह उदास हो गया। यद्यपि उस रात के शांत और सुनहरे प्रहर में उसे प्रसन्न होना चाहिए था, वह खिन्न तथा उन्मन था। मकान की जिस छत पर वह घूम रहा था, वहाँ से दूर-दूर तक फैला वन्य-प्रदेश दीख रहा था। नदी का तट आँखों के सामने था। चकवे-चकवी का मधुर स्वर सुनाई पड़ रहा था। कहीं दूर पर गीदड़ भी बोल उठता था।

यत्र-तत्र कुत्ते भूँक रहे थे। गाँव से दूर, बाहर, जमींदार की कोठी का प्रकाश दिखाई दे रहा था। कोठी की ऊँची बुर्जियाँ साफ़ दिख रही थीं। गाँव के दूसरी ओर, नदी के किनारे, प्राचीन काल के खँडहर और उसी के साथ जाती हुई अरावली पर्वत की श्रंखलाएँ, जो कुछ ऊँची-नीची बनकर दृष्टि से दूर तक चली गई थीं, सभी उस प्रकृति का एक अपूर्व कौतुक, देखने योग्य सौंदर्य और प्रकृति के विराट् रूप में दिखाई देती थीं। लखनपाल शहरी जीवन में पल रहा था, कोलाहल में रह रहा था, अतएव स्वभावत: ही उसे गाँव का वह शांत और स्वाभाविक सौंदर्य अपनी ओर खींच रहा था। वह उसे प्रेरणा दे रहा था—जैसे लखनपाल को बता रहा था—"ऐ लखनपाल ! यह नदी है, जिसकी रेती में तूने जाने कितनी बार बालू के घर बनाए और बिगाड़े। यहीं तू लक्ष्मी के साथ लड़ा, नदी के पानी में खेला।" लखनपाल को यह भी याद आया कि उस खँडहर, उस पुरानी टूटी इमारत के आँगन में एक बार क्या, जाने कितनी बार वह लक्ष्मी के साथ आँख-मिचौनी खेलने गया था। वहीं तो, एक बार, छुपा हुआ गीदड़ दिखाई दिया था। लक्ष्मी उसे देखते ही डर गई थी। तभी लखनपाल ने उसे अपनी ओर खींचकर कहा था—"डर मत, मैं तो हूँ। मैं तेरा रखवारा। मैं तेरे साथ खड़ा हूँ।" किंतु वह गीदड़ तो स्वयं ही भाग गया था। तभी लक्ष्मी ने हँसकर लखनपाल से प्रश्न किया था—"यदि गीदड़ हमला करता, मुझे खाने आता, तो ?" तभी मानो पूरे शूर-वीर की भाँति वाणी बनाकर लखनपाल ने कहा था—"खाता कैसे ? मैं जो हूँ। मैं तेरा साथी तेरी रक्षा करनेवाला हूँ।"

भूतकाल की उस पुनरावृत्ति के दुर्गम स्थल पर ही जैसे एक बार फिर वह बचपन की साथिन लक्ष्मी, अब यौवनमयी बनकर, जीवन की भरी दोपहरी में लुटी हुई, लखनपाल के सामने आकर खड़ी हो गई। वह दीनता और आशा-भरी दृष्टि से उसे निहारने लगी। लखनपाल को लगा, उसकी दृष्टि में याचना है और भर्त्सना भी। जैसे समाज के कठोर आघात सहकर इतनी घायल हो गई कि बोल नहीं सकती। बस, दृष्टि है, वह भी हीनता से भरी हुई। उसमें आत्मगौरव का भाव नहीं। वह सभी ओर से निराश जैसे परवश

हो गई है। ऐसी अवस्था में ही मानो लखनपाल पुकारना चाहता है, चीख पड़ना चाहता है, समाज और धर्म के पुजारियों को बता देना चाहता है कि यह न्याय नहीं, अमानुषिकता है—बर्बरता है। वह कहना चाह रहा था कि यह नारी सहस्रों वर्षों से ठगी गई है। वह वेदना के पहाड़ों में दब गई है। इसके आँसू भी कुचले गए हैं। इसका यौवन या तो ठगा गया, या ठुकराया गया यह नारी।.........

उसी समय अकस्मात् लखनपाल चौंक गया। उसने पीछे देखा, लक्ष्मी खड़ी कह रही है—"तुम अब भी जाग रहे हो लखनपाल !"

लखनपाल ने उसकी ओर देखा, और बोला—हाँ, मैं नहीं सो पाया लक्ष्मी! मैं तुम्हारी चिंता में डूब गया हूँ। लगता है, मैं यहाँ आते ही तुम्हारे जीवन के उलझे तारों में खो गया हूँ।"

सुनकर लक्ष्मी दूर जंगल की ओर देखने लगी। फिर साँस भरकर बोली—"अब वह जीवन इतना गहरा नहीं रह गया लखनपाल ! देखते हो, इसका पानी सूख चला है।"

लखनपाल ने मानो विचलित भाव से लक्ष्मी के दोनों कंधे पकड़ लिए। बोला—"कौन कहता है, तू सूख गई है। अभी तो समय आया है कि तू तरल बने, सरस बने। तेरे जीवन की भावनाएँ अब जाग्रत् हुई हैं। उनमें अब वाणी संचरित हुई है।"

"पर उससे क्या ? हाँ, उस वाणी से क्या, जिसे कोई सुने नहीं ? यह जीवन क्या कि कोई पास तक न फटके ?"

सुनकर लखनपाल ने सहसा लक्ष्मी का कंधा छोड़ दिया। वह आहत हो उठा। उसे लगा, सचमुच इस लक्ष्मी का मन अतिशय घायल है। इसके अंतर में जो फोड़ा है, वह सूज गया है। उसी की वेदना से इसका जीवन कराह उठा है।

लक्ष्मी ने फिर कहा—"लखनपाल, मैं विधवा हुई, उसका मुझे इतना क्लेश नहीं। मुझे तो इस बात का दुख हुआ कि तुमने एक बार भी अपना मुँह नहीं दिखाया, मुझे एक ही बार में भुला दिया !"

आतुर स्वर में लखनपाल ने कहा—"न, लक्ष्मी ! मेरी बात मान। तेरा यह धोखा सचमुच ही सत्य से बहुत दूर है। तेरे समान मैं भी पराधीन हूँ। मैं मा, मामा और अपने शिक्षकों से बँधा हूँ। मैं तो अपने जीवन की डगर तैयार करने में लगा हूँ। आज भी उसी लक्ष्य को लिए, यहाँ तक आ गया हूँ। यहाँ से दस कोस पर ही कॉलेज के लड़कों का कैंप लगा हुआ है। तुझसे मिलने के लिये ही यहाँ तक आया हूँ। प्रातः होते ही लौट जाना होगा।"

लक्ष्मी ने पूछा—"उस कैंप का लक्ष्य क्या है ?"

लखनपाल ने समझाया—"सेवा और त्याग।" वह बोला—"कॉलेज में सभी प्रकार के लड़के पढ़ते हैं। धनी वर्ग के ही अधिक पढ़ते हैं। उन्हीं में सेवा की भावना जागरित करने के हेतु, छुट्टियों में, कॉलेज के अध्यापकों ने यह प्रेरणा दी है, कि जनता के राज्य में जनार्दन कहाँ हैं, भगवान् कहाँ है, यह खोजा जाय।"

मानो चकित भाव से लक्ष्मी ने पूछा—"जनार्दन कहाँ है ?"

शांत स्वर में लखनपाल ने कहा—"इन्हीं गाँवों में ! किसानों की झोपड़ियों में !"

सुनकर लक्ष्मी किंचित सहम गई। फिर बोली—"सुनती हूँ, आदमी ने अपने आदर्श का पेट भरने के लिये ही ऐसे वाक्यों की रचना की है। असलियत कुछ और है। किसान के खून से सभी को पेट भरने की इच्छा है। किसान सर्वत्र ही चूसा जाता है।"

लखनपाल ने दूर जंगल की ओर दृष्टि ले जाकर कहा—"तुमने ठीक कहा लक्ष्मी ! किसान ठगा गया है, चूसा गया है, और आम की गुठली के समान फेंक दिया गया है। अपमानित भी किया गया है। सरमाएदारी का शिकार सर्वप्रथम यह किसान ही बना है। ज़मीन जोतकर अन्न पैदा करनेवाला किसान, उस ज़मीन को अपनी नहीं कह सकता। ज़मींदार मुफ़्त में ही मालिक बन गया है।"

लक्ष्मी ने अपना ओठ काटते हुए कहा—"इसीलिये वह ज़ुल्म करता है। खूनी जानवर बना हुआ है।"

धीर भाव से लखनपाल ने कहा—"परंतु अब समय बदल रहा है लक्ष्मी ! आँधी उठ रही है, फैल रही है और इस प्रभुता को उड़ा ले जानेवाली है।"

लक्ष्मी ने गहरी साँस भरी—"भगवान् ही मालिक है।" उसने कहा—"तुम इतने दिनों बाद आए हो, अभी रहो। कुछ दिन तो रहो।"

लखनपाल ने कहा—"मैं जल्दी ही फिर आऊँगा। मा भी आएगी। मैं मकान बनवाऊँगा।"

लक्ष्मी ने खोजने के अभिप्राय से पूछा—"तो तुम यहाँ रहोगे ?"

लखनपाल ने कहा—"हाँ, लक्ष्मी ! मैं गाँव में रहूँगा। मैं इन गाँवों के लिये ही अपना जीवन अर्पण कर दूँगा।" कुछ रुककर वह पुनः बोला—"पिताजी का बलिदान क्या कभी भूल सकूँगा ? वह तो मुझे आज भी याद है। उसी का प्रतिकार करूँगा।"

लक्ष्मी ने आतुर स्वर में प्रश्न किया—"क्या खून····हत्या ?"

लखनपाल कड़ुए भाव से मुस्किरा दिया—"न, लक्ष्मी ! किसी का ख़ून कर देना तो सरल है। हत्या करना क्या कठिन है ? तनिक देर में ही आदमी मरता है। मैं तो दुर्बल को जीवन-पथ का संकेत दूँगा। मैं क्रूर और दानव बने मानव को भी बताऊँगा कि इस समाज में आकर—सामाजिक प्राणी बनकर—हत्या करना, हिंसक बनना उसका काम नहीं। यह तो जानवर का काम है। शाश्वत और सांस्कृतिक मानव तो धीर और गंभीर बनता है। इसी जीवन में, ईश्वरीय सत्ता के रूप में, समर्पण का भाव हमें सर्वप्रथम विरासत में भेट किया जाता है।"

लक्ष्मी ने साँस भरी—"ऐसा कौन मानता है ?"

लखनपाल लाल हो गया—"अब मानना पड़ेगा। दुनिया जितनी आगे बढ़ गई है, उतना ही पीछे हटेगी, तभी इसे जीवन मिलेगा। जीवन के धागे और वासनाओं का द्वंद्व हमें सुखकर साँस नहीं देते, मौत देते हैं पतन का मार्ग दिखाते हैं।"

लक्ष्मी मुस्किराई—"शहर में रहकर आदमी कितना चतुर हो जाता है ! बहुत-सी बातें सीखता है। दुनिया को नई आँखों से देखता है।"

सुनकर लखनपाल अपने स्वर पर ज़ोर देकर बोला—"यह भी आज की सभ्यता का शाप है। मैं इसे वरदान नहीं मानता कि भारतीय ग्राम उजाड़ गए, और शहर बसाए गए।" उसने हाथ की मुट्ठी बाँधकर कहा—"गांव जब तक नहीं बसेंगे, किसान नहीं उठ सकेगा। देश भी न उठ सकेगा। भारत के प्राण तो गाँव हैं, गाँवों को नष्ट कर, क्या हमें जीवन प्राप्त हो सकेगा ?"

लक्ष्मी ने सीधे घर की ओर देखते हुए कहा—"अब सो जाओ। रात जा रही है, आधी से अधिक जा चुकी है।"

लखनपाल ने कहा—"तुम जाओ, सो जाओ।"

लक्ष्मी बोली—"तुम छत पर घूम रहे थे, तभी मैंने आहट सुनी। जाग ही रही थी मैं भी, सो न सकी थी।"

लखनपाल ने कहा—"मुझे यहाँ आज से पहले आना चाहिए था। सचमुच मैं अपराधी हूँ जो अब तक तुमसे दूर रहा।"

लक्ष्मी ने मानो लखनपाल की आँखों में बैठते हुए कहा—"तुम आ जाओगे, तो मुझे सहारा मिलेगा। मेरा जीवन भी तुम्हारे सहारे बीत जायगा।"

लखनपाल ने कहा—"मैं नहीं जानता कि किसको सहारा चाहिए, परंतु इतना जानता हूँ, दुर्बल मैं भी हूँ, तुमसे मुझे भी सहारा मिलेगा। अरी लक्ष्मी ! मैं जीवन चाहता हूँ। जीवन की खोज में लगा हूँ।"

लक्ष्मी ने दूर आसमान पर आई अरुणिमा पर दृष्टि फेंकते हुए कहा—"दो दुर्बल मिले हैं, तो रास्ता भी कट जायगा।" कहते हुए लक्ष्मी आगे बढ़ी, और नीचे जाने के लिये उद्यत हुई। लखनपाल बिस्तर की ओर बढ़ा।

लक्ष्मी ने कहा—"अभी ठंड है, चादर ओढ़ लो।"

"ओढ़ा दो।" कहते हुए लखनपाल अपने आप में कंपन अनुभव करता हुआ काँपने-सा लगा।

लक्ष्मी ने कहा—"तुम तो काँप रहे हो।"

लखनपाल ने कहा—"हाँ, मैं काँप रहा हूँ, दुर्बल जो हूँ।"

लक्ष्मी ने चादर ओढ़ा दी—"तो इसी बल पर मुझे सहारा देने का विचार किया है। वाह !" उसने मुस्किराकर कहा।

लखनपाल मौन रहा। लक्ष्मी ने जाते हुए कहा—"आज तुम क्या आए, मुझे जैसे खोया चैन मिल गया। मेरा जीवन मिल गया मुझे।"

और तब लखनपाल सचमुच ही, काँपता हुआ, यह अनुभव करने लगा कि वह कमज़ोर है। उसका मन भी कमज़ोर है। इस प्रकार क्या वह इस दुर्बल लक्ष्मी का साथ दे सकेगा, उसे अपने दुर्बल जीवन में खपा सकेगा ?

---

# उन्नीस

रात में अधिक सर्दी खाकर लखनपाल प्रातः चारपाई से उठ नहीं सका। जब सूरज चढ़े लक्ष्मी उसके पास आई, वह उठ रहा था। आते ही लक्ष्मी ने कहा—"अभी पड़े ही हो, उठो। दिन चढ़ गया।" यह कहते हुए ही उसने देखा कि लखनपाल की आँखें चढ़ी हैं। मुँह लाल है। वह चौंक गई, और बदन पर हाथ रखकर बोली—"अरे, तुमको तो बुख़ार है। शरीर गर्म है।"

लखनपाल ने कहा—"हाँ, शायद! किंतु चिंता न करो, उतर जायगा। ऐसा लगता है, आज मुझसे उठा भी नहीं जायगा।"

उसी समय लक्ष्मी ने मा को आवाज़ दी। मा बुख़ार की बात सुनकर घबरा गई।

लखनपाल ने कहा—"घबराने की बात नहीं, उतर जायगा।"

लक्ष्मी की मा ने चिंतित हो कहा—"बेटा, हमारे ऊपर तो भगवान् का कोप है। तू जैसा हँसता हुआ आया, वैसा ही जा। बुरे दिन जब आते हैं, तो जौ भी काले हो जाते हैं। आजकल हमारा तो यही हाल है!"

सुनकर लखनपाल ने, पीड़ा-युक्त भाव से, लक्ष्मी की ओर देखा। उसन कहा—"मनुष्य अपने कर्तव्य पर दृढ़ रहे, तो बुरा दिन भी हवा के समान आता और निकल जाता है।"

लक्ष्मी की मा बोली—"हाँ भैया, ठीक ही है।"

कुछ रुककर लखनपाल बोला—"मैं कल शहर लौट जाऊँगा।"

लक्ष्मी की मा स्नेह-पूर्वक बोली—"अभी रह, जल्दी क्या है?" फिर लक्ष्मी से कहा—"तू यहीं बैठ। मैं नीचे जाती हूँ, काम देखती हूँ।" तदंतर मा चली गई।

उसी समय लक्ष्मी ने कहा—"रात कह रहे थे, मैं बलवान् हूँ, बोझ उठा सकता हूँ। बस, इसी पर कहते थे कि मैं बहादुर हूँ।"

लक्ष्मी के इस आरोप को सुन लखनपाल मौन रह गया। वह बोल नहीं सका।

लक्ष्मी ने कहा—"सिर में दर्द है, दाब दूं ?" और उसने सिर दबाना आरंभ कर दिया।

सिर दबाते हुए लक्ष्मी बोली—"याद है, लखनपाल, एक दिन हम दोनो इसी कमरे में खेला करते थे। कितने ही खेल बनाते और बिगाड़ते थे।" वह एक क्षण रुकी, और पुनः बोली—"माथा तप रहा है। बहुत पीड़ा है ?"

लखनपाल धीमे से बोला—"बहुत।"

लक्ष्मी ने शिकायत की—"तुम भी तो देर तक छत पर घूमते रहे अकेली बनियाइन पहने।"

लखनपाल ने कहा—"मेरे पसीना आ गया है। संभवतः बुख़ार उतरनेवाला है।"

लक्ष्मी ने अपनी बात लेकर कहा—"अभी सुबह ज़मींदार का आदमी यहाँ आया था। वह तुम्हें खोज रहा था। पिताजी से पूछ रहा था, क्या लखनपाल अभी रहेगा ? अपना घर आबाद करेगा ?" वह बोली—"देखा तुमने, आते देर नहीं हुई, तार खटक गया। ज़मींदार इतनी दूर बैठकर भी गाँव की सभी बातें परखता-सुनता रहता है। उसे यह भी पता रहता है कि गाँव में कौन कब आता और कौन कब जाता है।"

सब कुछ सुनकर लखनपाल मौन रहा। मानो लक्ष्मी की बातों के अंतराल में डूब गया हो।

लक्ष्मी ने पूछा—"ज़मींदार-सरीखा भी नीच आदमी हो सकता है कोई ?"

लखनपाल ने करवट ली, और बाहर नीले आसमान की ओर देखता हुआ बोला—"स्वार्थ सभी कुछ कराता है, लक्ष्मी ! आदमी नीच-से-नीच कर्म करने को भी उद्यत हो जाता है।"

खिन्न भाव से लक्ष्मी ने कहा—"मैं नहीं मानती। आँखों का अंधा भी भला-बुरा सोचता है।"

लखनपाल की निगाह पेड़ पर लड़ते हुए एक पक्षियों के जोड़े पर थी।

उसी ओर देखते हुए उसने कहा—"लेकिन जिसके आँखें हैं, वह और भी अंधा है। वही तो भटकता, गिरता और बुद्धि-भ्रष्ट होता है।"

लक्ष्मी ने कहा—"पर यह पाप है—अंधापन है।"

सुनकर लखनपाल लक्ष्मी की ओर देखने लगा, और आँखों-ही-आँखों में मुस्किराया।

सहसा लक्ष्मी ने उसका हाथ छूकर कहा—"अब बुखार हल्का है।"

लखनपाल मुस्किराया—"अब तेरा हाथ जो लगा है।"

लक्ष्मी ने हँसकर कहा—"वाह-वाह!"

लखनपाल ने परिहास किया—"तू जादूगरिनी है—मायाविनी।"

लक्ष्मी ने सुना, और अल्हड़ भाव से आँखों में ही मुस्किराई।

सहसा लखनपाल ने गंभीर होकर कहा—"जब से आया हूँ, देखता हूँ, तेरी सीमा में ही मेरी ज़िंदगी केंद्रित है। तेरे हाथों में ही मैं सुरक्षित हूँ।"

सुनकर लक्ष्मी हँसी नहीं, गंभीर हो गई। एकटक सामने पेड़ की ओर देखने लगी।

लखनपाल ने उसी ओर देखते हुए कहा—"देखती हो उस पक्षी-युगल को? परस्पर चोंच मिलाए, आँखें बंद किए जाने किस लोक में विचर रहे हैं।" फिर कुछ क्षण रुककर बोला—"अच्छा लक्ष्मी, बता तो, क्या यही वासना है, कामना है, मनुष्य की इंद्रिय-तृप्ति का साधन है। नहीं लक्ष्मी! मैं इसे वासना नहीं मानता। मैं इसे जीवन का उत्साह, उमंग और प्रेरणा मानता हूँ।"

लक्ष्मी कराह उठी—"ओह......तुम!"

सहसा लखनपाल ने लक्ष्मी का हाथ पकड़ लिया। वह बोला—"लक्ष्मी! तुमने मुझे धोखा दिया, परंतु फिर भी तुम्हारे पास आ गया। लक्ष्मी, मैंने तुझे सदा ही याद किया है। मेरे मास्टर ने तेरे पत्रों को मुझ तक नहीं पहुँचने दिया, इसमें मेरा क्या दोष?"

लक्ष्मी ने अपना हाथ लखनपाल के वक्ष पर रक्खे हुए कहा—"मास्टर भी पत्थर था!" वह बोली—"पर आज जो कुछ तुम कह रहे हो, जानते हो

उसका अर्थ ? समझते हो उसका परिणाम ? मेरा सर्वनाश ! दिखता है, तुम अपनी लक्ष्मी को मार देने पर तुले हो—उसे जला देना चाहते हो !" कहते हुए लक्ष्मी ने अपना हाथ खींच लिया।

लखनपाल सुनकर अवाक् रह गया। बोल न पाया कुछ।

लक्ष्मी ने बाहर, दूर अंतरिक्ष की ओर, देखते हुए कहा—"सोचते होगे, यह लक्ष्मी सुखी है, संतुष्ट है।" उसने तड़ित् भाव से आँखों में झुँझलाहट लिए हुए कहा—"लखनपाल, मैं यों ही जल रही हूँ—तुम्हारी बातें मुझे और जला रही हैं !"

लखनपाल गंभीर हो गया। मानो उसके मुँह पर ताला लग गया हो।

लक्ष्मी ने पुनः कहा—"और यह बात आज कहते हो तुम, इतने दिनों बाद—इतनी प्रतीक्षा के बाद !" वह बोली—"पर मैं कैसे बताऊं तुम्हें, पंडित के वेद-वाक्य सुनते समय भी मैंने तुम्हें ही विवाह-मंडप में पाना चाहा था। मैंने तुम्हारे मुँह से सुनना चाहा था—लक्ष्मी मेरी है, मेरी जीवन-साथिन।" लक्ष्मी खड़ी हो गई, और द्वार से टिककर अवरुद्ध कंठ से बोली—"हल्दी चढ़ गई, विवाह हो गया, और फिर वैधव्य का शाप सिर पर आ पड़ा।"

लखनपाल उत्तेजित-सा उठकर बैठ गया—"मैं इस शाप को अपने ऊपर ले लूँगा, लक्ष्मी ! मैं समाज से कह दूँगा, लक्ष्मी अब भी मेरी है—मेरी जीवन-संगिनी !"

सहसा लक्ष्मी ने लखनपाल की ओर देखा। उसकी लाल आँखों को देखा। उनमें दमकता रोष देखा। वह सहम गई। कातर स्वर में बोली—"तो तुम अब मेरा उपहास कराओगे—हँसी कराओगे ! इस लक्ष्मी को कलंकिनी और दुश्चरित्र कहलवाओगे।" कहते हुए उसका सिर झुक गया। स्वर गिर गया—"अच्छा, लखनपाल ! तुम भी जी-भर कह लो ! तुम भी इस दुर्बल लक्ष्मी को धक्का दे लो ! देखते हो, मेरे सामने लहराता हुआ विशाल जीवन-सागर है, जिसमें लहरों की उथल-पुथल है। तुम अंत कर दो इस लक्ष्मी

का। इसी में तुम्हारा भला है।" कहते हुए लक्ष्मी की आँखों से दो अश्रु गालों पर ढुरक आए। आँचल में मुँह डालकर रो पड़ी वह।

कुछ देर पूर्व सिर दबाने से लखनपाल को कुछ शांति मिली थी, परंतु लक्ष्मी के अंधकारमय भविष्य के ऊहापोह में पड़कर, उसकी कातर वाणी सुनकर और उसकी सुंदर आँखों से बहती हुई अश्रु-धार देखकर लखनपाल का मानसिक संतुलन बालू के कंगूरों के समान उन आँसुओं की चढ़ती हुई नदी में ढह पड़ा। लखनपाल अत्यधिक व्याकुल हो उठा। मर्माहत हो वह पुनः चारपाई पर पड़ रहा, और कराहने लगा।

यह देख लक्ष्मी पास आकर बोली—"तुम अब न बोलो, शांत रहो।" और लखनपाल को चादर ओढ़ाकर नीचे चली गई।

किंतु लखनपाल के मन और मस्तिष्क में जो आँधी लक्ष्मी उठा गई, उसी के वेग में वह तेज़ी से उड़ रहा था। उसने मुँह उघार लिया, और सामने पेड़ की ओर दृष्टि फेंक अपने आप ही बुदबुदाया—"तो क्या यह पाप है—जीवन का कलंक है?" वह आगे रास्ता न पा सका। भावनाओं की जिस सरिता में वह मुक्त भाव से बहने लगा था, तनिक-सा अवरोध पाकर ही रुक गया। "मैं लक्ष्मी को ठगूँगा नहीं, कलंकिनी नहीं बनाऊँगा। मैं तो उसे यह बताने का प्रयत्न करूँगा कि उसका अभाव मेरा अभाव है, उसकी समस्या मेरी समस्या है। उसके जीवन की हर माँग मेरे द्वारा पूरी होगी—मैं सदा प्रस्तुत रहूँगा। मैं यातनाएँ उठाकर, समाज से लड़कर और हर प्रतिरोध सहकर भी उसे पूर्ण करने के लिये सहमत हूँ।" यह कहते हुए, बरबस ही, लखनपाल का मन खिन्न हो गया। उसने तकिए में मुँह छिपा लिया। उस अवस्था में ही उसने अनुभव किया कि आज उसने अच्छा नहीं किया। लक्ष्मी के मन को आघात पहुँचाया—उसका कोमल हृदय दुखाया। घायल थी बेचारी। सूजा हुआ फोड़ा था उसके दिल में, मैंने उसे दुखा दिया। तड़प उठी होगी वह!

तभी लक्ष्मी ऊपर आई। लखनपाल को गंभीर और खिन्न देख वह किंचित् सहम गई, किंतु लखनपाल उसे देखते ही बोला—"मुझे क्षमा करना, लक्ष्मी! मैं भूल में था। मैं सोचता था, तेरा दुख मुझे बँटा लेना चाहिए। तेरी पीड़ा

मुझे अपनी पीड़ा मानना चाहिए। मैंने तेरे सामने कोई बात कही, अशुभ अथवा अनर्गल, केवल इसी प्रयोजन से। भूल जा तू मेरी बातों को।"

इतना सुनते ही लक्ष्मी का हृदय विचलित हो उठा—हाय! यह लखनपाल सचमुच भोला और निरा अबोध है!

भावावेश में वह बरबस ही चारपाई पर झुक गई, और अपना मुँह लखनपाल की आँखों के सामने लाकर बोली—"तुम सचमुच मेरे हो!" उसे एकटक निहारते हुए बोली—"कौन कहता है तुमसे कि तुमने अनर्गल बात कही—अशुभ कही? मेरे लखनपाल! मेरे बचपन के साथी! अब तुम्हीं तो हो मेरे अवलंब, जिससे मैं कुछ कहूँ, कुछ सुनूँ।" कहते हुए वह पुनः सीधी खड़ी हो गई। अपना आँचल लखनपाल की आँखों पर डाल बोली—"बस, तुमसे इतना कहती हूँ, निवेदन करती हूँ—मैं कच्चा धागा हूँ, सँभालकर पकड़ना। इस पर ज़ोर न देना। हाँ, इस जीवन-धागे को कभी तोड़ने का प्रयत्न न करना लखनपाल!"

धीर और गंभीर स्वर में लखनपाल बोला—"मैं प्रण करता हूँ, वचन देता हूँ। तुम्हें कभी भी पथ से विचलित करने का प्रयत्न न करूँगा।"

लक्ष्मी ने लखनपाल के मस्तक पर हाथ रक्खा, और धीरे-धीरे बालों को सहलाना आरंभ कर दिया।

लक्ष्मी ने कहा—"मैं कहने आई थी, बाहर ज़मींदार का आदमी खड़ा है। तुम्हें बुलाया है ज़मींदार ने।"

लखनपाल ने चकित होकर पूछा—"मुझे बुलाया है ज़मींदार ने!" पुनः बोला—"कह देती, मुझे बुख़ार है।"

लक्ष्मी बोली—'कह तो दिया, पर उसका कहना है, बुख़ार उतरे, तो मिलकर जायँ। ज़मींदार की पत्नी की भी यही इच्छा है।"

लखनपाल ने कहा—"दिखता है, चुग्गा डाला जायगा। पुराने इतिहास पर पर्दा डालने का भी प्रयत्न होगा।"

लक्ष्मी सरोष बोली—"यही होगा। ज़मींदार यही प्रयत्न करेगा।"

लखनपाल ने कहा—"फिर भी मैं उससे मिलूँगा। उसे समझूँगा। कह दो, मैं मिलकर जाऊँगा।"

लक्ष्मी चली गई। जाते-जाते वह आँखों में परिहास लिए बोली—"ज़मींदार की लड़की देखी है न, बी०ए० पास है। अभी क्वाँरी है। देखने में परी-सी! वह तुम्हारी दुलहिन बने, तो मुझे बड़ी ख़ुशी होगी।"

लखनपाल ने बात सुनी, और लक्ष्मी के उस परिहास का रहस्य समझकर जैसे चौकन्ना हो गया। लक्ष्मी ने जाकर जमींदार के आदमी को लखनपाल का उत्तर सुना दिया। वह चला गया। तभी लक्ष्मी के पिता ने पत्नी और पुत्री को सुनाकर कहा—"जमींदार भी विचित्र धर्त है। आदमी तोलता है। कीमत आँकता है। उसने देख लिया न कि रूपवती का लड़का एम० ए० में पढ़ता है, देखने में सुंदर है और विद्रोही मा का इकलौता बेटा है। तो बरबस उसे अपनी ओर मिला लेना चाहता है।"

लक्ष्मी की मा बोली—"पैसे वाला देख-परखकर ही मोल करता है—आदमी हो या साग-भाजी।"

लालमन ने कहा—"ऊंचा आदमी ऊँचे खेल खेलता है, ऊँची बात सोचता है। हर बात में वह चतुराई से काम लेता है।"

पास खड़ी लक्ष्मी चिढ़कर बोली—"मा, बड़े आदमी के पास साधन है। उन्हीं साधनों का वह भरपूर उपयोग करता है। उन्हीं के बल पर पाप और व्यभिचार का सृजन करता है।"

उनका पिता लालमन मुस्किराकर बोला—"यह भी क्या छिपी बात है बेटी! यही तो सदा होता है! गंदे पानी का पनाला ऊपर से गिरता है, तो वही चारों ओर फैलता है।"

लक्ष्मी ने कहा—"समाज के ये बड़े आदमी—ये महलों में रहनेवाले—अपनी स्वार्थ-बुद्धि का त्याग कर दें, इंसानियत को समझने लगें, तो सुधार अपने आप हो जाय। तृपित और क्षुधित मानव सुख की साँस लेने लगे।"

लालमन चौधरी के मुंह पर एक विषैली मुस्किराहट आई—"पर, मेरी अच्छी बेटी! यह कैसे होगा?"

लक्ष्मी बोली—"चाचा, अब यह गाँव भी शांत नहीं रहेगा। गंदा हो जायगा।"

लालमन ने कहा—"गाँव में भी चीज़ें मँहगी हो गई हैं। छोटे-से गाँव में भी कई दूकानें बढ़ गई हैं। शहरी जुल्फ़वाले गाँव में चक्कर काटते हैं। खेतों पर जाते हैं।"

पत्नी ने कहा—"उस दिन का झगड़ा सुना था! किसी मिल-मज़दूर ने खेत पर काम करती किसी लड़की को आकर छेड़ दिया। लड़की ने उसके मुँह पर तमाचा मारा, तो चुप चला गया। फिर वही दूसरे दिन कई मज़दूर-साथियों को लेकर आ धमका था।"

लालमन ने कहा—"हाँ, ऐसी वारदातें बढ़ रही हैं। ये मज़दूर भी कहने को ग़रीब होते हैं, पर पूरे बाबू और छैल-चिकनियाँ बनकर निकलते हैं। पराई लड़कियों को घूरते हैं। सचमुच कुत्ते-सरीखे लगते हैं!"

पत्नी ने कहा—"गाँव और शहर में अंतर है। गाँव का आदमी भूखा है, तो क्या, ईमान तो रखता है—गाँव की बहू-बेटी की इज़्ज़त तो करता है।"

यह सब सुनकर लालमन के मन में बरबस ही रोष उमड़ आया—"आज यह बात नहीं रह गई लक्ष्मी की मा! शहर की हवा यहाँ भी आ गई। गाँव से जाकर जो शहर में बसते हैं, बढ़ते हैं, वे क्या फिर गाँववाले रह जाते हैं? न, पूरे शहराती बाबू हो जाते हैं। चटोरी ज़बान, फ़ैशन और दुश्चरित्रता का पाठ सीखकर ही गाँव में लौटते हैं। वह अपनी बहू-बेटियों को भी यही सब सिखाते हैं।"

लक्ष्मी की मा ने साँस भरी—"ज़माना बदल गया है—हवा बदल गई है।"

लालमन ने कहा—"भूखा इंसान जब ऐसी हवा में बहेगा, तो मौत को छोड़ और क्या पाएगा! सचमुच नष्ट हो जायगा।"

पत्नी ने चिढ़कर कहा—"तो अभी ही क्या आदमी को जीवन मिल रहा है। मुझे तो लगता है, दम घुट रहा है—रिस-रिसकर प्राण निकल रहे हैं।

लालमन ने हुक़्क़ा छोड़ दिया, और लक्ष्मी की ओर देखकर कहा—"बैलों के आगे चारा डाल दे बेटी! नीचे से गोबर भी साफ़ कर देना। मैं खेतों पर जाता हूँ। लखनपाल का ध्यान रखना, उसे दूध दे देना।"

किंतु उसी समय लखनपाल ऊपर से उतरकर आया। वह कपड़े पहन आया था। आते ही लालमन को लक्ष कर बोला—"चाचाजी, अब मुझे बुखार नहीं है। चलता हूँ।"

लालमन ने चकित होकर कहा—"न, बेटा! आज नहीं, कल चले जाना, मैं सवारी का प्रबंध कर दूँगा। पहुँचा दूँगा तुम्हें।"

लखनपाल ने कुछ निश्चय-सा करते हुए कहा—"तो ज़मींदार से मिल आऊँ। उसकी भी बात सुन आऊँ, ज़रा।"

"हाँ, हाँ, वहाँ जाओ। मुँह-हाथ धो लो। मिल आओ।"

लक्ष्मी ने आदेश-पूर्ण स्वर में कहा—"दूध पीकर जाना।"

लखनपाल उसे देखकर हँस दिया—"हाँ, दूध पी लूँगा। क्या भूखा रहूँगा?"

यह सुनकर लालमन और उसकी पत्नी दोनो हँस दिए। उन्होंने अपनी स्नेह-पूर्ण दृष्टि उन दोनो पर पसार दी।

---

# बीस

लखनपाल जब गाँव से निकलकर ज़मींदार विक्रम की कोठी पर पहुँचा, तो अवसर की बात कि कोठी के बरामदे में विक्रम, उनका पुत्र और पुत्री बैठे मिले। पहुँचते ही लखनपाल ने कहा—"मैं लखनपाल हूँ। आपने बुलाया है?"

सुनते ही विक्रम ने एक विशिष्ट अभ्यागत के समान लखनपाल का स्वागत किया। कुरसी पर बैठाया, और कहा—"सुना तुम्हें बुखार आ गया।"

लखनपाल बोला—"हाँ, रात को बुखार आ गया था। अब ठीक हूँ।"

वहीं बैठी हुई ज़मींदार की पुत्री विमला ने कहा—"मैं तो आपको प्रायः देखती हूँ। दूसरे कॉलेज में पढ़कर भी आपके व्याख्यान सुनने पहुँच ही जाती हूँ। आप इस गाँव के हैं, यह जानकर के मुझे विस्मय भी है, और हर्ष भी।" फिर पिता की ओर देखकर बोली—"पिताजी, लखनपाल बाबू का अध्ययन गंभीर है। भारतीय इतिहास पर आपका दृष्टिकोण पुराने व्यक्तियों को कुछ अजीब तो लगता है, परंतु वह सार-गर्भित है।"

विक्रम ने लखनपाल की ओर देखकर कहा—"यह भी हमारे गाँव का सौभाग्य है।"

पुत्र ने पूछा—"आप एम्० ए० में पढ़ते हैं?"

लखनपाल ने छोटा-सा उत्तर दिया—"जी।"

ज़मींदार के पुत्र ने पुनः पूछा—"तो आप अन्य सहपाठियों के साथ निकले हैं?"

विमला ने कहा—"उन्हें साथ नहीं लाए? यहाँ लाते। वे सब दो-चार दिन यहाँ रहते।"

विक्रम ने कहा—"तुम आए हो, तो हमारी मिल भी देखना। सभी आधुनिक मशीनें मँगाई गई हैं। इस मिल की विशेषता यही है कि सभी सामान आधुनिकतम है।" उन्होंने अपने पुत्र को इंगित कर कहा—"सुरेश मिल का

मैनेजर है—मेरा पुत्र; यह विमला है, मेरी पुत्री। इसी वर्ष बी० ए० में फ़ाइनल आई है।"

लखनपाल ने शिष्टाचार के अनुसार सुरेश से हाथ मिलाया, और विमला को हाथ जोड़कर नमस्ते की।

विक्रम ने कहा—"मैंने रात ही को सुना था, तभी सुबह आदमी भेजा था।"

विमला ने मानो शिकायत की—"आपको हमारे यहाँ ठहरना था।"

लखनपाल ने सुना, और मुस्किरा-भर दिया।

उसी समय सुरेश से प्रश्न किया—"मैंने सुना है, आप कम्युनिज़्म पर आस्था रखते हैं? आप किस रूप में उस पर विश्वास करते हैं? व्यवहारतः क्या उसे सही देखते हैं?"

एकाएक किए गए इन प्रश्नों को सुनकर लखनपाल ने विमला और जमींदार विक्रम की ओर देखा। वह मुस्किराया, सामने बैठी उस नव-यौवना, सुदरी और सुंदर वस्त्रों से सज्जित विमला को लक्ष कर उसने कहा—"कम्युनिज़्म के सिद्धात स्वयं स्पष्ट करते है कि यही सही-सही राह है, व्यावहारिक भी और आदर्श भी। इसी में विश्व की शांति और भ्रातृत्व की भावना निहित है। हम जिस देश के बासी हैं, उसका यही नारा रहा है कि जियो ओर जीने दो।" वह पुनः बोला—"किंतु* स्वार्थ बढ़ा, शक्ति का विस्तार हुआ, कुछ व्यक्तियों ने श्रेष्ठत्व का प्रचार किया, और हमारा पुराना नारा दम घोटकर मार दिया गया। उस स्वार्थी समुदाय ने समझ लिया कि वही श्रेष्ठ है, वही जीने के एकमात्र अधिकारी हैं।"

विक्रम ने कहा—"लेकिन आज जिस सरमाएदारी को कोसा जा रहा है, मिटाने का प्रयत्न किया जा रहा है, उसके बिना समाज का काम क्या सुबीते से चल सकेगा? देश व्यवस्थित रह सकेगा? धन का उपयोग करके ही तो उपार्जन बढ़ाया जा सकेगा?"

लखनपाल ने कहा—"ऐसा तो सदा ही होगा। अंतर केवल इतना ही होगा कि आज धन का लाभ एक या कुछ व्यक्तियों को मिलता है, किंतु तब काम करनेवाले प्रत्येक वयस्क को मिलेगा। असंतोष का मूल ही

यह है कि आदमी भूखा है, नंगा है, गृह-हीन है। अवस्था यहाँ तक पहुँच गई है कि वह मानवता के आवश्यक अधिकारों से भी बंचित कर दिया गया।"

सुरेश ने तर्क रक्खा—"लेकिन जिनके हाथ में अर्थ है, व्यवस्था है, साधारण व्यक्ति से ऊपर क्या उन्हें बैठने का अधिकार नहीं? जो पैसा लगाते हैं, उन्हें लाभ नहीं उठाना चाहिए?"

लखनपाल मुस्किरा दिया—"हमारे पास जो कुछ है, वह केवल हमारा ही नहीं, समाज का भी है। समस्त अधिकार हमें जनता से मिलते हैं। आपने जो कुछ कहा, वह इस युग की बात नहीं है। एक युग था, जब देश में आदमी बेचे जाते थे—बच्चे तक क्रय-विक्रय किए जाते थे! परंतु आज उसे पाप माना जाता है। क़ानूनन् दोषी ठहराया जाता है। शोषण का मूलाधार है इंसान की तीव्र स्वेच्छा-वृत्ति। आप ही बताइए, स्वेच्छाचारी व्यक्ति क्या तथाकथित भूखे और दरिद्र समाज की दृष्टि में सम्मान पाने का अधिकारी है? आखिर उसका धर्म क्या है? मानवता का क्या अर्थ है? आज की समाज-व्यवस्था का क्या अर्थ है? देखते है कि आप धर्म और विवेक का पाठ तथा पुलिस और फ़ौज की व्यवस्था—ये सभी हथियार व्यवहार में लाने के उपरांत भी चोर और डाकू बढ़े हैं। असंतोष बढ़ा है। आखिर क्यों? क्या इसलिये नहीं कि निर्बल मानव-समाज चूसा गया—उसके पेट पर घूँसा मारा गया, और वह तिलिमिलाकर प्रतिकार के लिये उद्यत हो उठा है।

विक्रम ने मानो चिढ़कर कहा—"यह नारा पुराना है।"

अपने स्वर पर ज़ोर देकर लखनपाल बोला—"पुराना तो आदमी भी है। इसकी समस्या भी पुरानी है। जिसे लोग मौलिकता कहकर पुकारते हैं, उसमें वास्तविकता अधिक नहीं। जलनेवाले मिल के कोयले के समान इंसान की आत्मा छटपटा रही है—वह केवल अपना जन्म-सिद्ध अधिकार माँग रही है।"

विमला ने उसका समर्थन किया—"यह सत्य है!"

लखनपाल ने कहा—"सृष्टि के आदि नियम आज भी अखंडित हैं। वे प्राणवान् हैं। पुरखे क्या भुलाए जा सकते हैं?" वह बोला—"आप चलित परिपाटी

में सुधार कर सकते हैं, परंतु इंसाफ़ का आदर्श अक्षुण्ण है वही हमें बल देता है। कम्युनिज़्म इंसान को कर्म की आँख से नहीं, अपनी बुद्धि से देखने की सीख देता है। उसे व्यावहारिक—यथार्थवादी—बनाना चाहता है, आदर्शवादी नहीं। वह योग्य और अयोग्य का भी अनुपात रखता है। पूँजी राष्ट्र की है, वह इतना कहकर ही अपनी बात पूरी नहीं करता, अपितु स्वयं व्यक्ति को भी राष्ट्र की सर्वश्रेष्ठ निधि मानता है।" वह बोला—"आपके वंशज श्रीरामचंद्र स्वयं अपने धाम में पक्के कम्युनिस्ट थे। वह जनता की भावना के प्रतीक थे। उन्होंने अपने जीवन-काल में शासन की व्यवस्था बदल दी थी। एक धोबी की भावना को उन्होंने इतना आदर दिया कि अपनी पत्नी सीता को, गर्भावस्था में ही, वन-वास के लिये भेज दिया। प्रत्येक व्यक्ति की कुछ विशिष्ट स्थितियाँ होती हैं। उसका उत्तरदायित्व होता है। श्रीरामचंद्र ने एक राजा के उत्तरदायित्व को समझा था। उसका आदर किया था। निःसंदेह, एक व्यक्ति की दृष्टि से आप उसका विरोध भी कर सकते हैं।" कहते हुए लखनपाल ने साँस भरी, और बोला—"आज के युग का यह सबसे बड़ा दुर्भाग्य है कि जनता की शक्ति का संचय करनेवाले, उसके परिश्रम से बल पानेवाले राजा, ज़मींदार और साहूकार यह समझने लगे कि हमीं अन्नदाता हैं, हमीं मार्ग-दर्शक हैं, हमीं इस विश्व के प्रणेता हैं। सच्चाई यह है कि इस महल को बनाने में पैसा भले ही उन्होंने खर्च किया, परंतु जिस शिल्पकार की चतुराई, मन और आत्मा का भाव इस महल के ज़र्रे-ज़र्रे में आरोपित हुआ, वह क्या भुला देने योग्य है? भला कौन याद करता है उस कारीगर को? वह तो झोपड़ी में भूखा पड़ा होगा। मेरा मत है, विजेता और विश्व का प्रणेता मज़दूर है—किसान है।" लखनपाल सूखे ओठों को तर करता हुआ हँसकर बोला—"धन का अस्तित्व बनाया गया है। वास्तव में वह महत्त्व हीन है। केवल समाज को ग़ुलाम बना रखने के लिये उसे महत्त्व दिया गया है।" वह गंभीर स्वर में पुनः बोला—"महाशय, इस सभा और विश्व का काम ऐसे नहीं चल सकता। यदि आपका पुत्र आपसे यह कहे कि आप को मेरे पालन-पोषण का भाव ईश्वर की ओर से मिला, आपका यह कर्तव्य ही था,

तो निश्चय ही आप उस मग़रूर पुत्र का गला घोंट देना पसंद करेंगे।"
लखनपाल ने साँस भरकर छोड़ी—"इस समाज की व्यवस्था सभी के सहयोग से हुई है, अतएव धन सभी का है—ज़मीन सभी की है। सभी को पेट भरने का समान अधिकार है। सभी को काम चाहिए।" कहते हुए लखनपाल मुस्किराया, और ज़मींदार साहब की ओर देखने लगा।

सुरेश ने कहा—"कोई आगे बढ़े, तो कौन रोक सकता है?"

कड़ुए भाव से लखनपाल ने कहा—"महाशय, आप तो शिक्षित हैं, विश्व को अपनी दृष्टि से देखने की क्षमता रखते हैं। क्या यह नहीं हो रहा है, कि खानेवाला खा रहा है, और भूखा उसकी ओर देखकर दाँत निपोर रहा है?"

विमला ने अपने स्वर पर ज़ोर देकर कहा—"सत्य है। आज का मानव जानवर बन गया है।"

हर्षित भाव से लखनपाल ने उसकी ओर देखकर कहा—"इसीलिये कम्युनिज़्म का जन्म हुआ, क्रांतिकारी विचारों का विस्फोट हुआ। पश्चिम की हवा पूर्व की ओर बढ़ रही है, संतप्त विश्व दूर उगते हुए सूर्य की ओर निहार रहा है।"

ज़मींदार विक्रम ने हुक़्क़े का धुआँ छोड़ते हुए कहा—"भाई, तुम युवक हो, नई रोशनी से प्रभावित हो, पर संसार में असमानता तो रहेगी ही। पाँचों उँगलियाँ समान न बन सकेंगी।"

लखनपाल ने कहा—"मैं मानता हूँ। वर्ग रहेंगे। जातियाँ रहेंगी पर पेट-भर भोजन तो सबको मिलना चाहिए।"

उसी समय नौकर एक ट्रे में चाय, मिठाई और फल लेकर आया। सब सामान उसने मेज़ पर सजा दिया।

विमला ने कहा—"आइए, चाय......"

लखनपाल ने कहा—"धन्यवाद! मैं दूध पी आया हूँ।"

विक्रम ने हँसकर कहा—"तुम तो जवान हो, भाई! आओ, चलो, खाओ।

यही तो खाने-पीने के दिन हैं तुम लोगों के। मैं तो इस बुढ़ापे में भी जब मिलता है, ज़रूर खाता हूँ।"

लखनपाल ने कहा—"आप भाग्यशाली हैं। अच्छा ज़माना देखा है।"

सुरेश ने कहा—"हाँ, पिताजी! आपके ज़माने की चीज़ें अब कहाँ? न उतनी सस्ती, न वह चीज़।"

टेबुल के पास बैठते हुए मानो गर्व-पूर्ण स्वर में विक्रम ने कहा—"रुपए का दो सेर घी और मन-भर गेहूँ मेरे सामने बिका है।"

विमला ने कहा—"आज तो शहर में रुपए का दो छटाँक घी मिलता है, वह भी नक़ली। अनाज विदेश का खाना पड़ता है, जिसकी बनी रोटी चबाई भी नहीं जाती।"

विक्रम ने कहा—"यही तो इस ज़माने का प्रताप है!"

विमला ने बचाव किया—"व्यवस्था ख़राब है, वरना······"

विक्रम ने बात काटकर कहा—"जो राज्य चलाना नहीं जानते, उनके हाथों में शासन आ गया है। प्रजातंत्र का बोलबाला है। देश-सेवकों को भी इस पैसे ने ख़ूब नाच नचाया है।"

सुरेश ने कहा—"पिताजी, पैसा सभी को अपनी ओर खींचता है। यही तो साधन है—इसी से तो सब काम चलता है। यही समाज में स्थान बनाता है।"

"और, कैसी उल्टी बात है, जिसके पास पैसा है, उसे देश और समाज का शत्रु समझा जाता है।" विक्रम ने चाय का घूँट भरकर कुटिल भाव में कहा।

विमला लखनपाल की ओर देखकर तनिक हँसी, और बोली—"पिताजी को कम्युनिस्टों पर ग़ुस्सा आता है।"

विक्रम ने कहा—"मुझे दिखता है, देश तबाह हो जायगा। सभ्यता मिट जायगी। परंपरा पाताल को खिसक जायगी।"

लखनपाल ने कहा—"तो क्या आज आप सुरक्षित हैं? यदि प्रत्येक व्यक्ति अपना उत्तरदायित्व समझ ले, देश को अपना समझे, राष्ट्र-धर्म

स्वीकार करे, तो कम्युनिज़्म का नाम लेना भी बेकार है। वह व्यवहारत: आ जाता है। परंपरा का अर्थ यह तो कदापि नहीं कि मैं खाऊँ, और आप देखें। जब कि मैं समझता हूँ, मेरे समान आपको भी जीवित रहने का अधिकार है।"

उसी समय विमला की मा अंदर से आई। विमला ने परिचय कराया—"यह मेरी मा……"

लखनपाल ने नमस्ते की, और ज़मींदार की पत्नी ने आशीर्वाद दिया—"जीते रहो।" उसने पूछा—"कहो, अच्छे हो, तुम्हारी मा अच्छी है?"

लखनपाल ने कहा—"जी, अच्छी हैं।"

विक्रम ने कहा—"सुना है, तुम्हारा घर टूट गया, उसे बनवा लो। अब यहीं रहो। चाहो, तो तुम भी मिल में कोई काम ले लो।"

सुरेश ने खुश होकर कहा—"तुम्हें मिल में लेकर मैं बड़ा सुख मानूँगा।"

लखनपाल ने कहा—"अभी तो मैं पढ़ रहा हूँ। जब नौकरी करूँगा, तो आपसे अवश्य मिलूँगा।"

विक्रम ने कहा—"यह तो तुम्हारा घर ही है। जब चाहना, आ जाना। कोई काम हो, तो बताना।"

विमला ने कहा—"मुझे आज तक पता नहीं चला कि आप भी इस गाँव के हैं। जाने हम कितनी बार मिले हैं, साथ बैठे हैं।"

विमला की मा बोली—"शहर में आदमी एक दूसरे से कम मिलता है। अपने ही कामों में फँसा रहता है।"

विमला ने कहा—"शहर के आदमी में बनावट अधिक होती है।"

सुरेश ने जैसे बात पूरी की—"स्वार्थी भी। वैसे उसके सिर पर कामों का बोझ भी रहता है। मस्तिष्क व्यस्त रहता है। उसका लक्ष केवल काम करना होता है।"

लखनपाल ने कहा—"मेरा ख़याल है, बनिस्बत गाँव के शहर का आदमी काम कम करता है, समय अधिक खोता है। वहाँ पैसा होता है, अत: आदमी व्यसनों का दास बन जाता है।"

विमला की मा ने हर्षित स्वर में कहा—"यह तुमने ठीक कहा।"

"गाँव का आदमी व्यर्थ नहीं बैठ सकता। उसे ऐसी सुविधा भी प्राप्त नहीं।" लखनपाल ने मानो अपनी बात पूरी की।

विक्रम ने कहा—"गाँव का आदमी ज़िंदगी में बैल बनकर चलता है—जुता रहता है।"

लखनपाल ने व्यंग्य किया—"बैलों के साथ काम करते-करते उसका मस्तिष्क भी वैसा ही हो जाता है, इसीलिये तो वह दबाया जाता है—आदमियत से गिराया जाता है। शहर का आदमी विद्रोही होता है। वह अभाव-ग्रस्त होकर भी आँख दिखाता, चाकू चलाता, जेब काटता और अपने इन अवगुणों को ढकने के लिये इंक़िलाब के नारे लगाता है।"

विमला ने कहा—"वह बाहरी संसार से संबंध रखता है, कूप-मंडूक बनकर नहीं रहता।"

सुरेश बोला—"तभी आज के विज्ञान का भी लाभ वही उठाता है।"

लखनपाल मुस्किराया—"और उस विज्ञान का दुरुपयोग भी वही करता है।"

हठात् विक्रम ने पूछा—"क्या ?"

लखनपाल ने कहा—"आज की दुनिया के असंतोष और युद्ध का संचालन नगरों द्वारा ही होता है। मानव-संहार के लिये नए आविष्कारों का निर्माण वहीं किया जाता है— वह एटमबम······"

विक्रम ने एक गंभीर निःश्वास छोड़कर कहा—"इस दुनिया का अंत समीपआ गया है।"

ज़मींदार की बात सुनकर लखनपाल क्षण-भर मौन रहा। उसने जेब से रूमाल निकाला, और मुँह पोछता हुआ बोला—"जमींदारजी, दुनिया का अंत नहीं होगा, कुछ व्यक्तियों का अंत होगा—कुछ विचारों का अंत होगा, और एक नई दुनिया का निर्माण होता दिखाई पड़ेगा।"

मानो चौंककर ज़मींदार ने कहा—"क्या ?······कैसे ?"

लखनपाल फिर गंभीर हो गया—"इस दुनिया में विचारों के अतिरिक्त भला और क्या रक्खा है ? यह इंसान—हाड़-मांस का पुतला वायु के साथ इस पंचभौतिक शरीर में डोलता हुआ प्राण विचारों का सहारा पाकर ही अपने अस्तित्व का निर्माण करता है । आदमी मरता है, फिर आता है ! जो उसके लिये उपादेय वस्तु—विचार—है, उसी को इस ज़िंदगी की पाठशाला में पढ़ता है, और जीवन-पथ पर अग्रसर होने के लिये साथ ले लेता है ।"

एकाएक विह्वल स्वर में ज़मींदार की पत्नी ने कुछ कहना चाहा—"बेटा!" इतना ही कहकर वह रुक गई ।

अम्माजी ! लखनपाल बोला—"यह ज़िंदगी एक पाठशाला है, जिसमें आदमी निरंतर पढ़ता है, कुछ सीखता है, कुछ पाता है, कुछ देता है । जीवन का यह आदान-प्रदान सदा ही चला करता है । "दुर्भाग्य हैं कि आज हमारा विवेक भ्रष्ट हो गया है—पतन के द्वार पर हमारा जीवन पहुँच चुका है । सामने आग की भट्ठी सुलग रही है । दिखता है, यह अंधा मानव उसी में गिरकर भस्म हो जानेवाला है ।" कहते हुए लखनपाल खड़ा हो गया, और जाने के लिये बिदा माँगी ।

विक्रम ने कहा—"अभी तो रहोगे ? मिलना फिर ।"

लखनपाल ने कहा—"जी, रहा, तो अवश्य मिलूँगा ।" जब चलने लगा, तो विमला साथ बँगले के द्वार तक आई, और बिदा देकर बोली—"हम आज यों मिले, अहोभाग्य !

उत्तर में लखनपाल केवल मुस्किरा दिया, और फिर मिलने का वचन देकर गाँव की ओर बढ़ गया ।

# इक्कीस

ज़मींदार की पुत्री विमलावती वैभव, और लाड़-प्यार की गोद में पली नव-यौवना थी। जीवन के प्रथम भाग में ही वह जीवन की उमंगों से भर चुकी थी। पिता के समान विमला भी स्वभाव की चिड़चिड़ी और अभिमानिनी थी, किंतु जब लखनपाल जमींदार के बँगले पर पहुँचा, विमला ने पहले से पहचानते हुए भी उसका नया परिचय पाया—उसे अपने गाँव का पाया—तो उस नव-यौवना, कुमारी के मन में अनायास ही लखनपाल के प्रति सौजन्य और आत्म-भाव विलोड़ित हो उठा। जब लखनपाल बिदा हुआ, विमला उस सुंदर युवक को, जब तक आँखों से ओझल न हो गया, निहारती रही। बँगले में लौटकर मा, पिता और भाई को लक्ष करते हुए बोली—"देखा, ऐसा है आज का युवक—आग का अंगारा।" लखनपाल ने जो कुछ कहा, आज के समाज का जैसा चित्रण उसने किया, उसके प्रति किसी प्रकार भी उपेक्षा का भाव नहीं रक्खा जा सकता।"

सुनकर सुरेश लाल हो गया—"ख़ाली बर्तन और आदमी तेज़ बोलता है—कोरी बकवास कर गया। सिद्धांतों का राग अलाप गया। कल जब रोटी न मिलेगी, तो दिन में ही तारे देखने लगेगा। जिस सरमाएदारी को लोग आज कोसते हैं, उसके बग़ैर इस दुनिया का कारवाँ एक दिन भी नहीं चलेगा।"

उस समय विमला एक भावना-विशेष में बह रही थी। अभी तक उसके मस्तिष्क में लखनपाल की बातों का प्रभाव विद्यमान था। फल-स्वरूप, जब उसने भाई से प्रतिरोध की बात सुनी, तुरंत ही आवेश में बोली—"तो तुम्हारे कहने का अर्थ यह है कि सरमाएदारी का रुतबा और बल बदस्तूर रहेगा, और इसी प्रकार अपने कठोर आघातों से दुर्बल समाज पर पदाघात करता रहेगा।" कहते हुए विमला का स्वर काँप उठा। वाणी और दृष्टि में किंचित् क्रोध-सा आ गया। उसने कहा—"मैं कहती हूँ, अब यह विश्व बदलेगा। इंसानी ज़िंदगी का कारवाँ अब नया मोड़ लेगा।

मा ने हँसकर कहा—"तो तुझे गुस्सा क्यों आया री !"

विमला ने कहा—"भैया ने जो कुछ कहा, लखनपाल सुनता, तो ज़रूर उसे भी अच्छा न लगता । धनवान् को यह अधिकार तो नहीं कि वह निर्धन का अपमान करे ! भैया ने वही व्यवहार किया ।"

ज़मींदार विक्रम ने पुत्र का पक्ष लेते हुए कहा—"अपमान नहीं किया विमला ! सुरेश ने वस्तु-स्थिति का ही तो उल्लेख किया ।"

विमला की बातें और क्रोध देख-सुन सुरेश हँस दिया ।

उसे हँसते देख विमला चिढ़ गई—"तुम हँसते हो, भया !" फिर पिता की ओर देखकर बोली—"वस्तु-स्थिति तो कुछ और ही है, पिताजी ! लखनपाल ने जो कुछ कहा, सत्य वही है ।"

विक्रम ने भारी स्वर में कहा—"शायद हो !"

विमला ने कुरसी के हत्थे पर हाथ मारकर कहा—"नहीं, है ।"

विक्रम बेटी से समझौता करने का प्रयत्न करते हुए बोले—"अच्छा-अच्छा ।"

विमला ने फिर कहा—"पिताजी, समय बदल रहा है । विश्व का वायु-मंडल तीव्रता से विपरीत दिशा की ओर जा रहा है ।"

सुरेश ने कहा—"आदमी सदा ही परिवर्तन माँगता है । यह उसका स्वभाव है किंतु इतना समझ लो, सरमाएदारी को आज जिस प्रकार कोसा जा रहा है, इसके बग़ैर दुनिया का काम भी नहीं चल सकता । धनाभाव के कारण हमारा देश व्यवस्थित नहीं रह सकेगा ।"

ज़मींदार विक्रम ने कहा—"सहस्रों वर्षों से यही परंपरा रही है । अभी तक तो मनुष्य ने इसे ही स्वीकार किया है ।"

अनिच्छा से विमला ने इसे स्वीकार कर लिया । उसने पिता की बात का विरोध नहीं किया ।

उसके पिता ने फिर कहा—"बेटी, शासन चलाने के लिये व्यवस्था की दरकार है । और, इसके लिये आवश्यकता है कठोर नियंत्रण की, तभी शासन व्यवस्थित रह सकता है ।"

सुरेश ने कहा—"देखती हो, आज का शासन कितना ढीला है ।"

विमला ने जैसे सुझाव दिया—"हमें जनतंत्र की नहीं, डिक्टेटर की आवश्यकता है।"

सुरेश हँस दिया—"पर अब तो राजतंत्र का बोलबाला है। अपने पूर्ण यौवन पर है।

पिता ने घृणा से कहा—"वह फ़ेल हो रहा है।"

सुरेश ने कहा—"आदर्श और त्याग के नाम पर अयोग्य व्यक्ति जनता का वोट प्राप्त कर, पूँजीपतियों के समान, जनता की भावनाओं का खून करते हैं—उसे ठगते हैं।"

ज़मींदार विक्रम ने कहा—"ऐसी प्रतिस्पर्धा में कभी योग्य व्यक्ति नहीं आ पाते। वे इतने चतुर नहीं होते।"

विमला ने आपत्ति की—"क्योंकि पैसेवाले यहाँ भी इनका रास्ता रोकते हैं। वोट पाने के लिये वे लोग लाखों रुपए व्यय करते हैं। महीनों पहले से प्रचार और आडंबर आरंभ कर देते हैं। लोगों को घूस देते हैं। तरह-तरह के लालच देते हैं।"

पुत्री की बात सुनकर विक्रम हँस दिए। उन्होंने स्नेह-सिक्त भावनामयी दृष्टि से उसकी ओर देखा।

विमला ने फिर कहा—"पिताजी, इस झूठ और लूट का भी कोई ठिकाना है। जनता का मत प्राप्त करने के लिये पैसे का आश्रय लेकर यह पैसेवाला नाना प्रकार के छद्म वेश धारण करता है—भावना की लाश बनाकर उसी पर सोने-चाँदी का महल निर्माण करता है—देश-सेवक और जनता का भक्त बनता है, परंतु वोट पाकर सफल होते ही वह कैसा क्रूर और बर्बर बन जाता है, क्या किसी से छिपा है!"

ज़मींदार विक्रम की आँखों में उस समय भी हँसी थी। पुत्री की बातें उन्हें बड़ी भली लग रही थीं। सुरेश ने कहा—"विमला बहन, जैसी परिस्थिति होती है, वैसा ही बनना पड़ता है। आज इसी परिपाटी को संसार ने स्वीकार किया है। जनतंत्र के इस युग में प्रत्येक व्यक्ति शासन की कुरसी

पर बैठना चाहता है—शक्ति पाना चाहता है, और उसके लिये वह हर रंग बदलता है।"

विमला ने कहा—"भैया, यह विषय मेरा नहीं, परंतु जब बात उठी है, तो मेरा मत है, जब सरकार प्रत्येक व्यक्ति को वयस्क-मताधिकार दे चुकी है, तो क्यों नहीं उस मत-दाता को पहले यह सिखाया जाता कि वह अपने अधिकार का ठीक से उपयोग करे—अपने मत की महत्ता समझे।"

सुरेश ने कहा—"यह मानता हूँ, स्वीकार करता हूँ।"

विक्रम ने कहा—"लेकिन यह अभी नहीं हो सकेगा। देश का शासन जिन व्यक्तियों के हाथ में है, वे इस ओर ध्यान नहीं देंगे, तो इसी परंपरा पर सब काम चलेगा।"

विमला के ओठों पर एक ईर्ष्या-युक्त मुस्कान आई—"पैसेवालों का जब तक बोलबाला रहेगा, देश इसी स्थिति में पड़ा रहेगा, पिताजी!" वह बोली—"यह देश चिरकाल से पुरोहितों के हाथों में रहा है। राजा सदा उन्हीं के आदेश पर चला है। मैं अनुभव करती हूँ कि आज भी इस देश को एक कठोर सूक्ष्मदर्शी पुरोहित की आवश्यकता है।"

सुरेश बोला—"वह युग गया। महात्मा गांधी का मरण इसका प्रमाण बन गया है।"

विमला ने अपने स्वर पर ज़ोर देकर कहा—"मैं इसे नहीं मानती। यह देश आज भी महात्मा गांधी-सरीखे व्यक्ति के आने की प्रतीक्षा करता है।"

ज़मींदार विक्रम मुस्किरा दिया—"क्या, संन्यासी—देश-भक्त?"

विमला ने कहा—"दोनो। जो राग-द्वेष से रहित और सेवा-युक्त हो।"

विक्रम हँसे—"चुपड़ी और दो-दो!"

विमला गंभीर हो गई—हाँ, दोनो। ऐसा व्यक्ति इस देश को मिलेगा। वह आएगा।"

विषयांतर करते हुए तभी सुरेश ने बताया—"इस बार चुनाव में पिताजी भी खड़े हो रहे हैं।"

विमला ने हर्षित भाव में कहा—"सच, पिताजी !"

पिताजी बोले—"हाँ, बेटी ! मैं खड़ा हो रहा हूँ और अन्य कई ज़मींदार भी खड़े हो रहे हैं।"

विमला ने कहा—"रुपया बहुत लगेगा।"

विक्रम ने कहा—"क़रीब एक लाख लगेगा।"

सुनकर विमला ने चकित भाव से कहा—"बहुत लगेगा।" फिर खिन्न होकर बोली—"इस प्रकार तो करोड़ों रुपया व्यर्थ चला जायगा।"

सुरेश ने कहा—"बड़ा देश है। यहाँ का चुनाव भी बड़ा है।"

विक्रम ने कहा—"विमला बेटी, उन दिनों तुम्हें भी काम करना पड़ेगा। सुरेश के ऊपर तो सब काम रहेगा ही।"

विमला ने कहा—"भैया भी खड़े होते—नौजवान मैदान में आते।"

सुरेश ने कहा—"मेरे लिये बहुत समय पड़ा है। इस बार पिताजी का खड़ा होना ही अच्छा है।"

"और भैया, तुम्हारी मिल के क्या समाचार हैं ?" विमला ने पूछा—"सुनती हूँ, इस बार काफ़ी लाभ हुआ।"

सुरेश ने कहा—"हमने साझेदारों को पूर्ण रूप से संतुष्ट कर दिया है। यथेष्ट लाभ हुआ है। हमारा माल बाज़ार में खूब पसंद किया गया।"

यह सुनकर विमला प्रश्न करना चाहती थी कि मज़दूरों को उस लाभ में से क्या मिला, परंतु बात को पी गई, और बरबस भाई की ओर देखकर मुस्किरा दी।

तभी विक्रम ने कहा—"इस चुनाव में लखनपाल का भी हमें सहयोग मिले, तो अच्छा रहे। उसे भी कुछ लाभ हो जायगा।"

सुरेश ने कहा—"उसे समझाना विमला का काम है। लखनपाल ने चुनाव में काम किया, तो उसे आगे भी सुबीता रहेगा।"

विमला ने कहा—"मैं कहूँगी। शहर जाऊँगी, तो बात करूँगी।"

विक्रम ने कहा—"उसकी मा का सहयोग भी लाभकारी होगा। वह भी चतुर स्त्री है। पढ़-लिख गई है। बात करने का ढंग जान गई है।"

विमला ने स्वीकारात्मक ढंग से सिर हिलाया।

उसी दिन विमला अपने प्यारे 'टॉमी' को साथ लिए घूमने निकली, तो लौटती बार गाँव की ओर गई, और सीधी लालमन के द्वार पर पहुँच गई। उसने सोचा, लखनपाल होगा, तो उससे मिलेगी, बात करेगी, किंतु जब वह वहाँ पहुँची, लक्ष्मी कंडे पाथ रही थी। उसके दोनो हाथ गोबर में सने थे। घाँघरा घुटनों से ऊपर था। सिर की ओढ़नी नीचे पड़ी थी। बाल रूखे और बिखरे हुए। क़मीज़ की बाहें चढ़ी हुई। उसी वेश में सुंदरी लक्ष्मी ने टॉमी कुत्ते के साथ ज़मींदार की पुत्री विमला को अपने निकट खड़े देखा, तो तनिक चकित हुई, और कंडे पाथना बंद कर नितांत सरल भाव से बोली—"कहिए।"

विमला ने पूछा—"मिस्टर लखनपाल हैं ?"

लक्ष्मी ने उत्तर दिया—"जी नहीं। वह तो लौट गए।"

ज़मींदार की लाडली पुत्री योरपियन कट के बाल कटाए, पैरों में ऊँची एँड़ी के जूते, ढीला रेशमी पाजामा और नीचे तक कुरता पहने तथा हाथ में कुत्ते की जंजीर थामे हुए थी। इस रूप में विमला को देखकर लक्ष्मी को अपूर्व लगा—कुछ अनोखा और अटपटा-सा। उसे यह देखकर सुख भी हुआ कि लखनपाल सुबह इसके घर गया था, और कुछ ही समय की मुलाक़ात से प्रभावित होकर जमींदार की इस सुंदर बेटी को यहाँ तक आना पड़ गया।

उसी समय विमला ने पूछा—"और तुम.........तुम्हारा नाम ?"

"लक्ष्मी !" उसे सूक्ष्म उत्तर मिला।

"तो तुम लालमन की लड़की हो ?"

"जी।"

विमला चलने लगी। लक्ष्मी ने कहा—"बैठिए। पानी पीजिए।"

विमला ने कहा—"नहीं, मैं चलूंगी।" और वह चली गई।

लक्ष्मी के मन में कुछ ईर्ष्या-युक्त भाव उठे। उसके गले में एक कड़ुई खखार-सी आ गई। उसने समझा कि वैभव में पला व्यक्ति भी अभाव से परे

नहीं। समय पड़ने पर वह अपने स्वार्थ के लिये ग़रीब के द्वार पर भी आता है। वह ग़रीब-अमीर की तुलना करने लगी। वह खीझ उठी, और अपने आपसे बोली—"यह ज़मींदार की लड़की मेरे पास—मेरे घर तो आई नहीं, यह तो लखनपाल से मिलने आई थी। वह सुंदर है, जवान है, शिक्षित है। हाँ, पैसा उसके पास नहीं; किंतु पैसा प्राप्त करने का—किसी को प्रेरणा देने का—साहस तो उसमें है। लखनपाल पूर्णतया समर्थ है।"

लक्ष्मी गोबर पाथकर हाथ धो चुकी थी। देर हुई, जब मा ने खाने को कहा था, किंतु वह मकान के ऊपर के कमरे में गई, और चारपाई पर पड़ रही। दृष्टि के सामने चिर-परिचित पेड़ था, आकाश था, किंतु लक्ष्मी का ध्यान कहीं और था। वह कभी ज़मींदार की पुत्री का ध्यान करती, उसकी चतुराई और गहराई का अनुभव करती, और कभी सरल, सपाट लखनपाल की ओर देखती। वह लखनपाल और ज़मींदार की पुत्री की तुलना कर रही थी। वह समझ रही थी, यह विमला आज मिली, और आज ही दौड़ी आई, ज़रूर यह लखनपाल से कोई आनोखी प्रेरणा पा गई—अपनी किसी इच्छा को फलता हुआ देख रही है।

जब कई बार मा ने खाने के लिये कहा, और लक्ष्मी ने न सुना, तो वह स्वयं ऊपर आई, और बोली—"अरी, तू यहाँ पड़ी है। उठ, चल रोटी खा ले। देख, ढोरों को पानी भी पिलाना है। घर का सारा काम पड़ा है।"

किंतु लक्ष्मी ने कहा—"मा, ज़मींदार की बेटी लखनपाल से मिलने आई थी।"

"हाँ, वह क्यों न आती?" उसने कहा—"रूपा का लड़का होनहार जो है। बेटी, मुझे दिखता है, इसका भविष्य भी उज्ज्वल है।"

लक्ष्मी ने कहा—"पर वह लड़की क्यों आई?"

मा ने बाहर की ओर देखते हुए कहा—"क्या जानें। सोचती होगी—विद्रोही बाप का लड़का है, अब मेल कर लिया जाय, तो अच्छा है। बाप ने भेजा होगा, मा ने भी भरा होगा।"

लक्ष्मी ने अपने अंतस् की बात न बताकर जैसे खीझकर कहा—"मा, यह बात नहीं है, कुछ और है।"

लक्ष्मी की बात न समझकर मा बोली—"वह क्या ?" तदनंतर उसने कहा—"जो भी बात हो बिटिया! बड़े आदमियों की बातें भी बड़ी होती हैं।"

लक्ष्मी ने मा की बात सुनी, पर अपना मत नहीं दिया। उसने अपने मन में कहा—"मैं यह कदापि स्वीकार न करूँगी। मैं लखनपाल से साफ़ कह दूँगी, साँप की बेटी भी सर्पिणी होती है—वह भी अपने दाँतों में जहर रखती है। कब अपना उद्देश्य पूर्ण करने के लिये उसे डस ले।"

मा नीचे चली गई। लक्ष्मी उठी। अपने मन में एक दृढ़ भावना लिए, आतुर और चंचल भाव से, मा के पीछे-पीछे, नीचे, घर के आँगन में, चली आई।

# बाईस

रूपवती की निरंतर प्रेरणा, प्रार्थना तथा भर्त्सना का सरदार के मन पर प्रभाव पड़ रहा था। वह डाकू-जीवन से दूर होने की बात सोचने लगा था। उसके गुरु बाबा का मन भी बहुत दिनों से डाका डालने के प्रति उचाट हो चुका था। वस्तुतः सरदार और बाबा के समक्ष यह समस्या थी कि उन्हें जिन परिवारों, विद्यार्थियों तथा अन्य सेवा-कार्यों के लिये धन की आवश्यकता थी, वह किसी और रास्ते से प्राप्य हो सके। किंतु रूपमती का मत इससे पृथक् था। वह कहती थी, जन-सेवक के पास यदि चरित्र-बल और त्याग-बल हो, तो रुपया उसके चरणों में स्वयं लोटता है।

कई दिन हो गए थे, सरदार रूपवती के पास नहीं आया था। वह बाबा से भी नहीं मिला था। पहले तो सभी को संदेह हुआ कि सरदार या तो मारा गया, अथवा पुलिस के हाथों पड़ गया, किंतु एक दिन संध्या होते-होते सरदार का एक विश्वसनीय आदमी नगर में आया, और रूपवती और लखनपाल को एक गाड़ी में बैठाकर नगर से दूर, अरावली-पर्वत की घोर कंदराओं में, ले गया। उस समय रात हो गई थी, चारों ओर अँधेरा छाया था। वे सब एक पुराने और जीर्ण मंदिर के द्वार पर जाकर रुके। मंदिर में उन्होंने सरदार और बाबा को देखा। रूपवती को देखते ही बाबा बोले—"आ गई बेटी, बैठ। अपने भैया की बात सुन। इसने संन्यास ले लिया है।"

रूपवती ने सरदार को देखने के पहले मंदिर की प्रतिमा की ओर देखा। वह काली का मंदिर था। प्रतिमा अति विशाल थी। उसकी भयंकर आकृति अनायास ही दर्शक के मन में कंपन पैदा करती थी। तभी रूपवती ने सरदार की ओर देखा। उसे लगा, जैसे सचमुच सरदार अपने निश्चय पर दृढ़ है। शरीर जीर्ण हो गया था, और आँखों में उदासीनता छाई थी। यह देखते ही बरबस वह बोली—"भैया, क्या यही त्याग है? शरीर को नष्ट करना ही

क्या योग का पाठ है ? इस हठयोग की क्रिया से इस दुनिया को भला क्या मिल सकता है ?" पुनः स्नेह-सिक्त स्वर में बोली—"सचमुच तुम बहुत दुर्बल और उदास हो गए हो !"

रूपवती की बात सुनकर सरदार ने मुँह ऊपर उठाया, और बोला—"बहन, हठयोग ही त्याग की भूमि तैयार करता है।"

रूपवती ने कहा—"मैं नहीं मानती।, मनुष्य में भावना हो, अर्चना हो, तो क्या किसी आश्रय की दरकार है ? मन में इच्छा हो, तो हर कार्य सफल हो सकता है।"

सरदार मुस्किरा दिया—"तुम्हारा कहना भी सत्य है।"

बाबा ने कहा—"सरदार अपने लक्ष्य से दूर होता जा रहा है।"

सरदार ने आवेश में कहा—"लक्ष्य क्या कभी भुलाया जा सकता है ?"

रूपवती अब तक समस्या के अंतराल में पहुँच गई थी, अतएव गंभीर थी। बाबा से बोली—"क्यों बाबा, यह इतनी चिंता का विषय है क्या ? क्या इसमें भी तर्क की आवश्यकता है ?"

बाबा आतुरता से बोले—"तर्क इसलिये है कि सरदार के हाथों में जो काम है, वह अपूर्ण रहा जाता है। बोलो, धन का प्रबंध सुगमता से हो सकता है क्या ?"

रूपवती को बाबा के मुख से ऐसी बात रुचिकर न लगी। वह बोली—"बाबा, इस रास्ते को छोड़कर दूसरा रास्ता भी पकड़ा जा सकता है अपनी मंज़िल तक पहुँचने के लिये।"

सरदार ने कहा—"मैं रुपया लाऊँगा। भीख माँगूंगा।"

रूपवती ने कहा—"मैं भी प्रयत्न करूँगी। अपने आपको इस काम की भेंट चढ़ा दूँगी।"

लखनपाल ने कहा—"मैं भी पूरा प्रयत्न करूँगा।"

सरदार मुस्किराया—"भैया, तुम पढ़-लिख लो, और कोई काम कर लो।"

बाबा गंभीर थे। उनकी दृष्टि काली की प्रतिमा पर लगी थी।

सरदार ने कहा—"मैंने अपने साथियों को अपने पैरों पर चलने के लिये

कह दिया है। मैंने अपना अधिकार उन्हें ही सौंप दिया है।" वह बोला—"मेरा ध्येय तो अब यही होगा कि समाज से प्रार्थना करूँ, वह निर्बलों के साथ न्याय करे—बंधुत्व की भावना का आदर करे।"

बाबा ने कठोर स्वर में कहा—"सरदार, यह कभी न होगा। समाज मिट जायगा, पर शोषण बढ़ता ही जायगा।"

रूपवती ने बाबा की बात सुनी, और कड़ए भाव में मुस्किरा दी—"बाबा, ऐसा न होगा, तो देश ही नहीं, इंसान भी मिट जायगा।"

बाबा ने विद्रूप हँसी हँसकर कहा—"अभी क्या इंसान जीवित है ?"

लखनपाल ने कहा—"बाबा, इसका कारण इंसान के दंभ की परा काष्ठा है। मनुष्य जानवर बन गया है, हमें उसे इंसान बनाना है।"

इतना सुन बाबा मुस्किरा दिए। उन्होंने रूपवती को लक्ष कर कहा—"अब हमारा काम इस लखनपाल को ही पूरा करना है।"

सरदार ने कहा—"मैंने इसीलिये रूपवती और लखनपाल को बुलाया है।"

रूपवती ने पूछा—"किसलिये ?"

सरदार उस समय अतिशय गंभीर हो गया था। सहसा उसकी आँखो में एक चमक आ गई।

उसी समय बाबा ने कहा—"हाँ, बेटी ! तुम मा-बेटे को आज एक विशेष काम के हेतु बुलाया गया है।" वह बोले—"देखती हो, काली मा की ओर ! कई शताब्दि-पूर्व इस प्रतिमा का निर्माण किया गया होगा। सुनता हूँ, इस प्रांत का यह सबसे अधिक भव्य और विशाल मंदिर था। इस मंदिर के आँगन में जाने कितने राजपूतों ने अपना खून बहाया है। मुग़ल-सेनाओं ने इस मंदिर को भ्रष्ट कर दिया। इस प्रतिमा को भी खंडित करने का प्रयत्न किया गया।" कहते-कहते बाबा का स्वर उत्तरोत्तर कठोर होता गया, मानो उस वृद्ध संन्यासी के प्राणों का स्पंदन जाग उठा हो। उनमें यौवन की आँधी और संकल्प की पुकार का नारा गूँज उठा। बाबा ने पुनः कहा—"रूपा बेटी और लखनपाल ! मैं तुम दोनो से कहता हूँ, यह देश शक्ति का पूजक रहा

है। जिस मंदिर में और जिस स्थान पर तुम बैठे हो, यहीं एक दिन शिवाजी और प्रताप-जैसे कितने ही शूर-वीरों ने माता शक्ति के प्रति समर्पण होने का प्रतिज्ञा-पत्र अपने खून से लिखा था। उन्होंने इसी काली मा के चरणों में अपना सिर झुकाते हुए प्रण किया था कि उनका जीवन देश के लिये है—प्राण मानव-कल्याण के लिये ………"

निःसंदेह, उस समय, उस वृद्ध संन्यासी के मुख पर अपूर्व तेज लक्ष कर रूपवती का मानस पुलकित हो उठा। श्रद्धा से उसका हृदय गद्‌गद् हो गया। उसे उस मानव पर गर्व हो आया।

बाबा ने फिर कहा—"बेटी, सदियाँ गुज़र गईं, सहस्रों वर्ष निकल गए, यह देश पथ-भ्रष्ट हो चला। इस देश की एकता मिट गई। इसे धर्म-भ्रष्ट कर दिया गया है। समाज के पुरोहितों ने मन और मस्तिष्क को भी ठगने का प्रयत्न किया। देश-द्रोही समाज अपने घर में ही आग लगा बैठा। इस देश का पतन हो गया।"

लखनपाल ने कहा—"बाबा, धर्म क्या है, और क्यों है ?"

बाबा ने कहा—"मेरे बच्चे ! धर्म तो उस सूक्ष्म तत्त्व का नाम है, जिससे समता, त्याग और सौहार्द्र का विमल और सुहावना स्रोत फूटता हो। धर्म स्वाभाविक रूप से बढ़ता है। जन-जन में कल्याण की भावना का परिष्कार भी इसी के द्वारा होता है। यही धर्म है। यही मानवता है। धर्म इन्हीं सिद्धांतों पर टिका है। वह विभाजित नहीं किया जा सकता। मिटाया भी नहीं जा सकता। केवल उसका रूप परिवर्तित होता रहता है।"

लखनपाल ने कहा—"परंतु आज धर्म की परिभाषा बदल गई है।"

"न-न, मेरे बच्चे ! यह मिथ्या धारणा है। इंसान इसी कार्य में तो सर्वथा निष्फल रहा है।" बाबा ने कहा—"जाति और वर्ग के जिस परकोटे में इंसान ने धर्म को बाँटने और पृथक् रूप से नियोजित करने का प्रयत्न किया, तो उसने भी यही आदर्श रक्खा—'जियो और जीने दो।' यह बात जुदा है कि इस सिद्धांत का पालन किसी वर्ग ने न किया। भारतीय संस्कृति ने सदा इसी आदर्श को अपने समक्ष रक्खा। सभ्यता का सूत्र-

पात ही यहीं से हुआ। यह इस देश का दुर्भाग्य है कि इस आदर्श को केवल ग्रंथों और वाणी तक ही सीमित रक्खा गया।" वह पुनः कठोर स्वर में बोले—"किंतु आज इस शक्ति मा की प्रतिमा के समक्ष मैं फिर उद्बोधित होना चाहता हूँ। लखनपाल, तुम और तुम्हारी मा रूपवती को भी उद्बोधन देना चाहता हूँ कि इस जगत्-माता के समक्ष अपना लक्ष्य निर्धारित करो। प्रण करो, तुम अपने देश के लिये जियोगे, देश के लिये मरोगे। मैं तुम्हारे रुधिर से यह लिखा देखना चाहता हूँ।"

लखनपाल के पास बैठा हुआ सरदार का सहायक डाकू अपनी कमर में कटार लगाए बैठा था। बाबा की बात सुनकर लखनपाल ने तुरंत ही हाथ बढ़ाकर वह कटार निकाल ली, और पल-भर में ही अपने हाथ की कलाई में भोंक दी। खून की धार बह निकली। लखनपाल ने उसी खून से काली माता के चरणों में श्वेत पत्थर पर लिखा—"मैं तुम्हारा हूँ, मा! तुम्हारे आदेश पर ही, प्रण करता हूँ, अपना जीवन देश के लिये अर्पित कर दूँगा।"

बाबा ने कहा—"रूपवती, तुम भी लिखो। पुत्र के ही रुधिर से लिखो।"

रूपवती ने उसी पत्थर पर लिखा—"मेरा समस्त गौरव और जीवन राष्ट्र के लिये है।"

बाबा ने कहा—"शाबाश, मेरी बेटी!" तभी बाबा ने बताया—"यह सब सरदार की प्रेरणा से हो रहा है। रूपवती की इच्छा से सरदार अपना 'पथ' बदल रहा है। महान् व्यक्ति महान् पथ का निर्माण करना चाहता है।"

सरदार ने भी उसी खून से लिखा—"मा, मैं बहन के पुत्र के रक्त से यह लिखकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि आज से डाका नहीं डालूँगा, हत्या नहीं करूँगा।"

एकाएक हर्षित होकर रूपवती बोली—"मेरे भैया!"

सरदार ने कहा—"हाँ, बहन! तुमने यही तो कहा था।"

बाबा ने गंभीर भाव से कहा—"आज से सरदार को न खोजना। इससे मिलने का प्रयत्न भी न करना। सरदार अपने मन को बदलने के लिये दूर

जा रहा है।" कहते हुए बाबा का स्वर भारी हो गया—"मेरा आज एक पुराना साथी छूट रहा है। जाने कहाँ जा रहा है यह !"

सरदार ने कहा—"मैं जल्दी ही आऊँगा। मैं आप लोगों से अधिक समय दूर न रह सकूँगा।"

रूपवती ने कहा—"और साथी······तुम्हारा दल ?"

"उसका काम उसे ही सौंप दिया है। मैंने अब संबंध तोड़ लिया है उनसे।" सरदार ने कहा।

तदनंतर, रात की उस अँधियारी में ही, आँखों में आँसू भरे, रूपवती और लखनपाल ने वह मंदिर छोड़ दिया। बाबा और सरदार ने उन दोनो को बिदा दी।

---

# तेईस

नगर की जिस संकुचित और घिनौनी बस्ती में रूपवती रहती थी, वहीं आए-दिन एक-न-एक बात ऐसी अवश्य हो जाती, जिससे मानव की स्वेच्छा और दंभ के विकृत रूप का विस्तृत परिचय मिलता। उस मुहल्ले के पास ही छोटी जातियाँ रहती थीं। निम्न-वर्ग के उस विशाल समूह में अशिक्षा, असभ्यता, दरिद्रता, परवशता और अमानवता का साम्राज्य था। उनका करुण क्रंदन सदा ही रूपवती के मन को कचोटता, पीड़ा पहुँचाता। जब कभी रूपवती ने उस समाज की स्थिति को टटोला, उसकी दीनता पर विचार किया, तभी उसे लगा कि सचमुच इस विश्व का मानव जाने कब से एक दूसरे के प्रति षड्यंत्र रचता आया है। आज का दीन मानव सदियों से पथ-भ्रष्ट किया गया है—स्वेच्छाओं का दास बनाया गया है।

रूपवती ने नारी के शाश्वत कर्तव्य का प्रचार करना अपना लक्ष बना लिया था। नगर की विशिष्ट समाज-सुधार-संस्था का सदस्य-फ़ॉर्म उसने भी भरा था, और कर्म-रत रहते हुए शीघ्र ही संस्था में उसने विशिष्ट पद प्राप्त कर लिया था; इसलिये जहाँ उसका उच्च और मध्यम वर्ग के नारी-समाज में सम्मान था, वहाँ निम्न-वर्ग का नारी-समूह भी उसकी वाणी को श्रद्धा की भावना से सुनने लगा था। फल-स्वरूप, अनायास ही, रूपवती ने घिनौनी और दारिद्रय पूर्ण परिस्थितियों में रहनेवाले जन-समाज के हृदयों में घर कर लिया था, रूपवती ने समझा कि यह पद-दलित मानव-वर्ग भी कठोर है, दुरूह है। उसे सुपथ पर लाना आसान नहीं।

एक बार की बात है, नगर के उसी भाग में एक राजा साहब की भव्य कोठी थी। उनके रनिवास में रहनेवाले दास-दासियों की मूक तथा करुणा-पूर्ण कहानी ने रूपवती को अनायास ही विचलित कर दिया। संयोग से रानी साहबा स्वयं नारी-संस्था की संरक्षिका थीं। रूपवती ने एक बार उनसे कहा कि आप अपने ग़ुलामों को मुक्त कर दें—उन्हें स्वतंत्र कर दें। रानी ने सहर्ष

इस बात को स्वीकार कर लिया, किंतु जब रूपवती ने उन ग़ुलामों को जागृति का संदेश देना चाहा, और मुक्त वायु-मंडल में रहकर जीवन भोगने के लिये कहा, तो उसे यह देखकर अति विस्मय हुआ कि उन ग़ुलामों ने उपेक्षा-भाव से उसे मानने से इनकार कर दिया। उन्होंने कहा—"यह तो हमारी रीति है—परंपरा है—धर्म है। हमारा जन्म ही इसीलिये हुआ है।"

इस कथा-वार्ता के उपरांत जब रानी से रूपवती की भेंट हुई, और यह चर्चा चली, तो रानी ने कहा—"बहनजी, यह सच है कि समाज का निम्न-वर्ग सदा से झुकाया गया है।" पर यह भी सत्य है कि वह स्वयं भी झुका है—उसने अपने को गिराया है।

सुनकर रूपवती बोली—"किंतु दोष तो उच्च वर्ग का—पैसे का ही है। चिरकाल से निर्धन धनी का दास बना, और इस दासता का अभ्यस्त हो गया। अब उसी को अपना कर्तव्य समझ रहा है—धर्म समझ रहा है।" पुनः क्षुभित स्वर में बोली—"मनुष्य के इस पतन की परा काष्ठा का कहीं किनारा है? इसी परंपरा ने मनुष्य को दुर्बल और कायर बना दिया है। मनुष्य अपने आदर्श से गिर गया।"

रानी सहृदय थीं, भावुक थीं। अभी युवा ही थीं। "इस दिशा में यदि सुधार की कोई योजना हो, तो मेरा सक्रिय सहयोग तुम्हें प्राप्त होगा बहन!" सरल भाव से रानी ने कहा।

किंतु रूपवती जब समाज के काम आनेवाले भंगी, चमार तथा अन्य निम्न-वर्ग में जाकर देखती कि वे मध्यम वर्ग से भी अधिक पैसा अर्जित करते हैं, और दिन-रात के कठोर परिश्रम से प्राप्त पैसे का वे किस प्रकार दुरुपयोग करते हैं, तो उसकी आँखें पथरा जातीं—विवेक कुंठित हो जाता। ऐसी अवस्था में रूपवती निरुत्साह हो जाती। सोचती, इनका सुधार संभव नहीं। इस निम्न-वर्ग का स्तर कभी ऊँचा नहीं उठ सकेगा। रूपवती ने देखा, निम्न-वर्ग का मानसिक और आत्मिक पतन पूर्ण रूप से हो गया है। वह सोचती थी, उच्च वर्ग के समान निम्न-वर्ग में आपसी मतभेद नहीं होगा, पार्टीबाजी नहीं होगी,

किंतु इन विषैले कीड़ों को उसने इन लोगों में अधिक अनुपात में फैला पाया। पैसे का उपयोग करना वह नहीं जानता। सामाजिक एकता का भाव भी वह नहीं समझता। उसमें भी एक व्यक्ति दूसरे को ठगने का प्रयत्न करता है। राष्ट्र के प्रति उसका कोई कर्तव्य है, ऐसा विचार भी इस समाज के अंतर में प्रविष्ट नहीं हुआ। शराब पीना, पड़ोसी की स्त्री को घूरना, अपने को हेय समझना, उच्च वर्ग के प्रति सम्मान प्रदर्शित करना, झुककर सलाम करना और छोटे-बड़े को 'जी सरकार' कहकर संबोधित करना इस वर्ग का स्वभावगत कर्म बन गया है। मानो यही उनके जीवन का एकमात्र ध्येय हो।

इस दयनीय दशा को देख रूपवती के मन में यह बार-बार आता कि यह वर्ग भी मानव तो है, पर मानवता के स्तर से गिर गया है—भ्रष्ट हो गया है। इसे ऊपर उठाने के लिये बड़े प्रयत्न की आवश्यकता है। उच्च वर्ग इनके प्रति अधिक दयालु हो, सद्भाव्य हो, इसकी भी आवश्यकता है। किंतु यह हो कैसे? किस प्रकार यह निम्न-वर्ग, यह मज़दूर अपने जीवन की महत्ता को समझे? यह प्रश्न निरंतर रूपवती के मस्तिष्क में गूँज रहा था। यह तो उसने निश्चित रूप से समझ लिया था कि जिस प्रकार देश का किसान ज़मींदारों द्वारा ठगा गया, उसी प्रकार समाज का यह वर्ग भी पूँजीपतियों द्वारा रौंद डाला गया है। यह जीवित अवश्य दिखाई देता है, परंतु इसके प्राण पूँजीवाद की गंदी-घिनौनी धारणा के अंधकार-पूर्ण लौह-प्राचीरों में फँस गए हैं, और यह तड़प-तड़पकर दम तोड़ रहा है।

लखनपाल ने एम्० ए० पास कर लिया, और अपने ही कॉलेज में प्रोफ़ेसर हो गया। गाँव में गिरे हुए मकान का पुनर्निर्माण करा दिया गया, और रूपवती ने गाँव लौटने का निश्चय कर लिया। वह जल्दी ही गाँव जायगी। वहाँ रहकर वह किसान-वर्ग में काम करेगी। यह मत बाबा और रूपवती ने निश्चय कर लिया था। लखनपाल ने मा की बात का समर्थन किया, किंतु वह यह भी सोचता था कि गाँवों की अपेक्षा नगरों में अट्टहास अधिक अँधेरा है। यहाँ भौतिक प्रकाश तो है, जिसके नीचे मानव का क्रूर गुंजरित हो रहा है। रूपवती का कथन था कि आज की परंपरा ने गाँवों

को उजाड़ दिया है। नगर बसाए गए हैं। सभ्यता का प्रदर्शन किया गया है। गाँवों को अंधकार में रक्खा जाता है। शक्ति-सूत्र इन नगरों में संग्रह किया गया है। उसका दुरुपयोग भी यहीं होता है।

उन्हीं दिनों रूपवती के सम्मुख एक नई समस्या का सूत्रपात हुआ। ज़मींदार विक्रम की पुत्री लखनपाल के संपर्क में दिन-प्रति दिन अधिक आती जा रही थी। वह धनवान् पिता की पुत्री जीवन की जिस कलात्मक परिपाटी को ग्रहण कर लखनपाल से मेल बढ़ा रही थी, रूपवती की आँखों से छिपी न रह सकी। वह शहर छोड़ने से पूर्व इस समस्या का कोई सुलझाव करना चाहती थी, परंतु पुत्र जवान था, शिक्षित था, प्रोफ़ेसर था, और वह दिन-पर-दिन नगर के समाज का विशिष्ट व्यक्ति बनता जा रहा था, अतः रूपवती पूर्ण गंभीरता से विचार करने के उपरांत ही कोई क़दम उठाना चाहती थी।

एक दिन लखनपाल देर से घर लौटा। रूपवती जानती थी कि आज दिन भर वह विमला के ही साथ था। उसने किंचित् कठोर स्वर में पूछा—"कहाँ गए थे? विमला के साथ?"

सरल भाव से लखनपाल ने उत्तर दिया—"हाँ, मा! उसी के साथ था।"

सुनते ही रूपवती का क्रोध भड़क उठा—"तो तू अब उस नर-पशु की लड़की के साथ घूमने लगा है। उसका रूप आकर्षित करने लगा है तुझे, उसका पैसा....."

लखनपाल मा का आदर करता था। वह उसके सामने कम बोलता था, किंतु यह अप्रत्याशित बात सुनकर उसका भी माथा ठनका। उसने चकित हो खेद-पूर्ण स्वर में कहा—"क्या कहती हो, मा!"

रूपवती उस समय रसोई-घर में थी। सामने चिमटा पड़ा था। क्रोध के आवेश में उसका विवेक जाता रहा। उसने चिमटा उठाकर लखनपाल के खींचकर मारा, और कहा—"जो तेरे पिता का खूनी है, तेरी मा का हत्यारा है, उसी की बेटी के साथ...तू...अरे..."

चिमटा लखनपाल के माथे में लगा, और खून बहने लगा। लखनपाल के कपड़ खून से भर गए, किंतु यह देखकर भी रूपवती का क्रोध शांत न हुआ। उसने फिर चीखकर कहा—"आज सुन ले कान खोलकर। मैं उस लड़की को देखती हूँ, तो आँखों में खून उतर आता है। मेरी छाती में आँधी उठने लगती है।"

लखनपाल जैसे बैठा था, वैसे ही बैठा रह गया। कुछ बोला नहीं। वह जवान, बलिष्ठ एक क्षण के लिये भी मा की ओर आँख उठाकर नीं देख सका। मानो बरबस ही उसने अपना अपराध स्वीकार कर लिया हो। कुछ क्षण पश्चात् विनीत स्वर में बोला—"मुझे क्षमा कर दो, मा!"

किंतु मा मानो अपने आपसे कह रही हो, बोली—"आज सरदार होता, तो तुझे देखता। वह भी समझता कि प्रोफ़ेसर बना हुआ यह लखनपाल कैसा कुत्ता है—एक सुंदर कुतिया के पीछे डोलता है।"

विनीत भाव में लखनपाल ने मा के पैर पकड़ लिए—"मा!"

रूपवती के हृदय की करुणा और ममता आँखों से बह निकली। वह हृदय में उठी पीड़ा से छटपटा उठी, और फूट-फूटकर रो पड़ी। अपने घुटनों में सिर दबाए प्रलाप करने लगी—"हाय! मेरे पुत्र···तू! तेरे ही लिये तो मैंने सब कुछ किया। इतने बोझ सिर पर लिए!"

लखनपाल ने मा के पैर ज़ोर से पकड़ते हुए कहा—"मैं पथ-भ्रष्ट नहीं हुआ हूँ, मा! मैं उस विमला से सदा दूर रहा हूँ। पास रहकर भी सहस्रों कोस दूर।"

तभी रूपवती की दृष्टि पुत्र के रक्त-रंजित मस्तक पर गई। काँप उठा उसका प्रत्येक रोम। वह तत्काल बहता हुआ रक्त अपने पल्ले से पोंछते हुए बोली—"मैं भी यही चाहती हूँ, मेरे बच्चे! तू मेरा एक ही बेटा है—अभागे बाप का इकलौता! मैं तुझे महान् देखना चाहती हूँ। मैं आज तक तेरे ही लिये जीती रही हूँ।" कहते हुए उसने लखनपाल का सिर अपनी छाती से लगा लिया।

रूपवती ने रेशमी कपड़ा जलाकर लखनपाल के ज़ख्म पर लगाया। उसके कपड़े बदला दिए, और चारपाई पर लिटा दिया। फिर बोली—"मैं इसी सप्ताह गाँव चली जाऊँगी। वहीं रहूँगी।"

लखनपाल ने कहा—"पर मा, तुमने यहाँ भी तो बहुत-सा काम अपने ऊपर उठा लिया है।"

मा ने कहा—"मैं यहाँ भी आती रहा करूँगी। अब एक जगह न रह सकूँगी। अपने काम का क्षेत्र विस्तृत करूँगी।"

तभी लखनपाल ने कहा—"विक्रम चुनाव लड़ रहा है, मा!"

रूपवती बोली—"मुझे पता है। इसीलिये उसने तुम्हें अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया है।"

लखनपाल ने कहा—"पर मा, मैंने तो सुना है कि तुम्हारा नाम भी नामजद हुआ है। तुमसे भी चुनाव लड़ने के लिये कहा गया है?"

रूपवती ने कहा—"विक्रम के विपक्ष में मेरा नाम आया था, परंतु मैंने अस्वीकार कर दिया। मैंने कह दिया, मेरा काम सेवा करना है, कुरसी पाना नहीं। धारा-सभाओं के बाहर भी यथेष्ट काम पड़ा है।"

उसी समय कुछ आगंतुक वहाँ आ गए, वे नगर के नेतागण थे। उनमें से एक वयोवृद्ध सज्जन ने रूपवती को लक्ष कर कहा—"बहनजी, हम सबने यही निर्णय किया है कि आपको ज़मींदार विक्रम के विरुद्ध चुनाव में खड़ा किया जाय। हम सबकी यही इच्छा है। अब आप इनकार न करें।"

लखनपाल ने बालोचित मुद्रा बनाकर कहा—"मा, स्वीकार कर लो न!"

रूपवती मुस्किरा दी—"तो बेटा भी यही कहता है!" उसने सिर झुकाए हुए धीमे स्वर कहा—"अच्छी बात है। जब आप सबकी यही इच्छा है, तो मैं सेवा के लिये प्रस्तुत हूँ।"

---

# चौबीस

देश में होनेवाले चुनाव की गति-विधि लक्ष कर रूपवती का यह निश्चित मत बन गया था कि पैसेवालों ने इस क्षेत्र में भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया है। अयोग्य और स्वार्थांध, किंतु संपन्न व्यक्ति, प्रजातंत्र के नाम पर, लाखों रुपया खर्च कर चुनाव लड़ते हैं, वोटरों का मत पैसे से खरीदते हैं—उन्हें बहकाते हैं। यह अमानुषीय कृत्य रूपवती को तनिक भी रुचिकर न लगा। इसी कारण उसकी इच्छा चुनाव की गंदगी से दूर ही रहने की थी, परंतु विशिष्ट नेताओं के ज़ोर देने और लखनपाल के आग्रह पर रूपवती के अंतर की प्रतिक्रिया ने भी अपना सिर उठाया, और उसने यह समझा कि ज़मींदार को नीचा दिखाने का, उससे अहिंसात्मक प्रतिशोध लेने का, यही अवसर है। समाज और जीवन के इस क्षेत्र में उसे हराना आवश्यक है।

रूपवती के चुनाव में खड़े होने की बात जब ज़मींदार के कानों में पहुँची, तो वह हँस पड़ा। उसने अपने पुत्र से कहा—"चींटी के भी पर निकल आए हैं।" पुत्र ने पिता की इस बात पर ध्यान नहीं दिया। वह मुस्किराता हुआ सिर हिलाकर रह गया, लेकिन ज़मींदार के मुख पर चिंता की रेखाएँ स्पष्ट झलक रही थीं। वह बोला—"रूपवती जिस पार्टी का आश्रय लेकर खड़ी हुई है, उसका महत्त्व यथेष्ट है। उसे देश की मान्यता प्राप्त है।"

पुत्र के मन में भी यही काँटा गड़ रहा था। पिता की बात सुनकर उसने कहा—"राज्यसत्ता जिसके हाथ में हो, इस प्रजातंत्रीय युग में वही जीतता है।"

ज़मींदार ने मानो चिढ़कर कहा—"मैं इसे नहीं मानता।" वह बोला—समय बदल रहा है। परंपराएँ बदल रहीं हैं। देश में फैली अशांति इसका प्रमाण है। नित्य ही राजसत्ता के विरुद्ध सभाएँ होती हैं—नारे लगते हैं और हड़तालें होती हैं।

उसी समय विमला भी वहाँ आ गई। पिता की बात सुनकर बोली—"किंतु पिताजी, दोष हमारा है। पैसेवालों का दंभ और छल जनता को गुम-राह करता रहता है।"

पिता ने इतना सुना, तो उपेक्षा-भाव से पुत्री की ओर देखा। पुत्री ने भी अपने सूखे होठों को हिलाया। विमला ने फिर कहा—"किंतु अब पैसे का महत्त्व घट रहा है। समाज मनुष्यता की क़ीमत समझ रहा है।"

ज़मींदार ने कहा—"यह तेरा भ्रम है।"

पुत्र ने कहा—"विमला ने सुनी-सुनाई बातों के आधार पर अपना मत बना लिया है।"

विमला सुनकर तुनक गई—"क्यों भैया, क्या समय नहीं बदला? आदमी नहीं बदला? तुम्हारी परंपराएँ......"

सुरेश बीच ही में बोला—"परंपराएँ कभी स्थिर नहीं रहतीं, यह सत्य है, किंतु यह भी सत्य है कि आदमी आज भी पैसे का दास है। पैसा ही उसका लक्ष्य है।"

विमला ने कहा—"अभी शहर में म्युनिसिपैलिटी के चुनाव हुए। उनमें कौन विजयी हुए? जिनके पास पैसा था? हज़ारों-लाखों रुपया ख़र्च करने वालों ने ही मात खाई।"

सुरेश ने कहा—"वह एक शहर का चुनाव था—छोटा-सा। यह बड़ा चुनाव है। इसमें अर्थ-बल ही काम आएगा।"

विमला जोशीले स्वर में बोली—"पैसेवाले इसमें भी मात खाएँगे।"

सुरेश को कोई उत्तर न सूझा। वह खिसियानी हँसी हँसकर रह गया।

विमला वहाँ से उठकर अंदर चली गई। उसे अपने पिता व भाई से इस विषय पर और बहस करना रुचिकर न लगा। जब वह अपने कमरे में पहुँची, तो नौकरानी ने उसे एक पत्र लाकर दिया। उस पत्र को देखते ही विमला ने समझ लिया कि यह लखनपाल का है—उसके पत्र का उत्तर। लिफ़ाफ़ा खोलकर एक ही साँस में वह पत्र पढ़ गई। पत्र मेज की दराज में रखते हुए वह एक लंबी साँस लेकर कमरे के बाहर दूर नीले अंतरिक्ष की ओर देखने लगी। एक ही विचार इस समय उसके मस्तिष्क में घूम रहा था—"यह लखनपाल, यह सुंदर युवक, क्या सचमुच ही पत्थर है—जड़ है?"

गाँव आकर विमला ने लखनपाल को एक पत्र लिखा था, जिसमें उसने उलाहना दिया था कि तुम आजकल मुझसे मिलते नहीं हो, और शायद मिलना चाहते भी नहीं ! यौवन के झंझावात में बहते हुए विमला ने यह पूछा था कि क्या जीवन की इस सरिता में हम साथ-साथ नहीं बह सकते—हम एक नहीं हो सकते ? लखनपाल ने उत्तर इस कौशल से दिया था कि उसने उसकी आकांक्षा का न विरोध किया था, न समर्थन ही, अपितु जीवन के दार्शनिक और सांस्कृतिक पहलू का संक्षिप्त उल्लेख करते हुए लिखा था—हम सदा ही एक हैं, मानव हैं, प्राणवान् हैं। इस विश्व-सरिता की परस्पराश्रित लहरें हैं। यह भी उसने लिखा था कि मैं जल्दी ही गाँव आनेवाला हूँ। मा भी आ रही हैं।

जिस नौकरानी ने पत्र लाकर दिया था, पुनः कमरे में आई। बरबस विमला ने उससे पूछ लिया—"अरी बसंती, क्या हाल है तेरा ? सुना है, लखन-पाल का मकान बन गया है।"

बसंती गाँव में लखनपाल के पड़ोस की रहनेवाली थी। बोली—"जी, बीबीजी ! ठीक ही सुना है आपने।"

"क्या पक्का, शानदार मकान है ?"

"नहीं, कच्ची ईंटों का, छोटा-सा।"

"क्यों ? अब तो लखनपाल काफ़ी कमाता है। प्रोफ़ेसर है। मा लीड-रनी है।"

बसंती इन बातों में रस न ले सकी, अतः मौन रही।

विमला ने पुनः प्रश्न किया—"किसने बनवाया ?"

"लक्ष्मी के चाचा ने।"

"अच्छा, वह चौधरी !"

बसंती चली गई। विमला विचारों में उलझ गई। लक्ष्मी की आकृति पत्थर पर खिची हुई लकीर के समान उसके मनःस्थल में खिच गई थी। अनायास ही उसे यह आभास हुआ कि लक्ष्मी सुंदर है—गुलाब के फूल-सी। इच्छा न होते हुए भी उसे यह स्वीकार करना पड़ रहा था। उसे लगा कि लक्ष्मी ही उसकी राह का रोड़ा है—काँटा है।

संध्या के उस प्रहर में विमला बँगले से बाहर निकली, और अपने टॉमी को साथ लेकर जंगल की ओर बढ़ चली। खेतों में चारो ओर सरसों फूल रही थी। सर्वत्र शांति और निस्तब्धता छाई थी। दूर मिल की चिमनी से निकलता धुआँ उस अमर शांति और खेतों पर छाए अपूर्व सौंदर्य पर जैसे भद्दी और काली रेखाएँ खींच रहा था। मिल का वह धुआँ विमला को अच्छा लगा। उसे लगा कि चिमनी से निकलते इस धुएँ ने गाँव की शांति छीन ली है।

चलते-चलते, एकाएक, एक खेत की मेड़ पर विमला रुकी। उसने देखा, लक्ष्मी बैलों के चारे के लिये सरसों के पौधे उखाड़ रही है। दोनो की दृष्टि परस्पर टकराई। विमला बोली—"ओह, लक्ष्मीदेवी तुम ?"

लक्ष्मी ने कहा—"आओ बहन! बैठो। हरे मटर खाओगी ?" कहते हुए लक्ष्मी खेत से निकल मेड़ पर आ गई, और विमला के पास खड़ी हो गई।

विमला ने मुस्किराकर कहा—"तुम भी खूब हो लक्ष्मी बहन! लहँगा घुटनों तक चढ़ाए मानो किसी से कुश्ती लड़ने जा रही हो। बहुत मेहनत करती हो तुम।"

लक्ष्मी बोली—"मेहनत करना ही जीवन है। पानी बहता रहता है, तो स्वच्छ रहता है। एक जगह टिकता है, तो अशुद्ध हो जाता है। जीवन में गति न हो, तो जीवन ही क्या!"

गंभीर स्वर में विमला बोली—"तुम ठीक कहती हो।"

लक्ष्मी ने कहा—"बैठो। मैं फली ले आऊँ!" कहते हुए वह फिर खेत में दौड़ गई। एकाएक विमला के मन में विचार उठा—'अपूर्व है यह लक्ष्मी! उससे आयु में बड़ी है, योग्य है। गँवार है, तो क्या, जीवन का अर्थ जानती है—मर्म समझती है। कितनी स्वस्थ, कितनी अनुपम है।'

लक्ष्मी ने अपनी झोली में मटर लाकर मेड़ पर रख दिए, और स्वयं भी बैठ गई। मटर खाते हुए विमला ने कहा—"मैं सोचती हूँ लक्ष्मी बहन, पैसा भी एक शाप है, आदमी को आदमी से दूर रखता है। खेद है आज तक क्यों न आई तुमसे परिचय प्राप्त करने।"

लक्ष्मी मुस्किराई—"पैसा सचमुच एक शाप है—पथरीली दीवार।"

विमला ने कहा—"किंतु अब यह दीवार टूट जायगी। समय आ रहा है।"

लक्ष्मी हँस पड़ी—"यह तुम कह रही हो विमला देवी?" उसने आकाश में फैले मिल के ज़हरीले धुएँ को लक्ष कर कहा—"और जब पैसा न होगा, तो यह धुआँ कैसे फैलेगा—मानवता का गला कैसे घोटा जायगा?"

विमला को ऐसा लगा, मानो उसके मुँह पर लक्ष्मी ने तमाचा मारकर उससे कहा हो—'इस पाप का स्रजन तुम्हीं ने किया है—तुम्हारे पिता ने ही इस धुएँ में मानवता की होली जलाई है।'

तड़पकर विमला बोली—"तुम ठीक कहती हो, इस धुएँ में मानव का प्राण जल रहा है—लोहे की विशाल मशीनों द्वारा मानव का हाड़-माँस पीसा जा रहा है।"

लक्ष्मी ने कहा—"इस कारखाने का जन्म ही स्वार्थ के लिये हुआ है। मनुष्य के शोषण का यह भी एक ढंग है।"

सब कुछ सुनकर विमला सन्न रह गई। वह जिस लक्ष्मी को अब तक निरी गँवार और मूर्ख समझती थी, उसी के मुँह से जीवन और उसके सूक्ष्म तत्त्व सुनकर उसे आश्चर्य हुआ। लक्ष्मी कैसी बुद्धिमान् है। विदुषी-सी है। प्रत्यक्ष में बोली—"तुम कहाँ तक पढ़ी हो लक्ष्मी?"

"मैं निर्धन भला पढ़ने का अवसर कहाँ पाऊँ। हाँ, लखनपाल से जितना सुना, उतना अवश्य पढ़ा है।"

"तो तुम लखनपाल बाबू के कहने पर चलती हो? उनका ही आदेश मानती हो?"

"हाँ, मैं लखना की बात को सदा महत्त्व देती हूँ।"

क्षण-भर विमला ने खेत की ओर देखा। फूली हुई सरसों पर आँखें फैलाकर उसे अपूर्व सुख मिलता था, परंतु इस समय मन में उठी आँधी उसे झिझोर रही थी—एक विचित्र पीड़ा-सी हो रही थी उसके अंतर में। उसकी आँखों की सरसता जाती रही—भावनाएँ कुंठित हो गईं। एक ठंडी निःश्वास लेकर वह बोली—"विश्वास भी अपना महत्त्व रखता है लक्ष्मी बहन!"

लक्ष्मी ने कहा—"यह जीवन ही विश्वास पर टिका है।"

एकाएक विमला ने प्रश्न किया—"और प्रेम ? तुम प्रेम में विश्वास करती हो ?"

लक्ष्मी मुस्किरा दी—"यह भी कोई प्रश्न है ? प्रेम-हीन जीवन भी कोई जीवन है ?"

बड़ी उत्सुकता से विमला ने पूछा—"यह तुमने कैसे समझा ?"

"यह तो शाश्वत सत्य है। जीवन की पाठशाला में ही मैंने यह सब कुछ सीखा है।"

विमला चकित हो उठी। भावावेश में बोली—"लक्ष्मी बहन !"

लक्ष्मी ने कहा—"विमला बहन ! तुम तो शहर में पढ़ी-लिखी हो, जमींदार की पुत्री हो, संपन्न हो। मुझसे क्या पूछती हो, तुम तो स्वयं ही सब कुछ जानती होंगी।"

विमला निराश स्वर में बोली—"सब कुछ जान लेना ही पर्याप्त नहीं है लक्ष्मी !"

सहसा लक्ष्मी खड़ी हो गई। उसका काम अभी शेष था। बोली—"तुम बैठो, मैं कुछ सरसों और ले लूँ। संध्या हो चली है।"

विमला भी उठ खड़ी हुई, और बोली—"मैं भी सरसों उखाड़ूँगी। तम्हारा हाथ बटा दूँ।"

हँसकर लक्ष्मी ने कहा—"नहीं-नहीं, यह क्या कहती हो। मैं कर लूँगी।"

किंतु विमला न मानी। निदान दोनो काम में जुट गईं।

थोड़ी ही देर में लक्ष्मी ने फैली हुई सरसों एकत्र कर बाँध ली, और गट्ठर सिर पर रख गाँव की ओर साथ चल पड़ी। साथ चलती हुई विमला से बोली—"तुम बहुत अच्छी हो विमला बहन !"

विमला ने कहा—"न, तुम ज़्यादा अच्छी हो।"

लक्ष्मी हँस पड़ी—"चलो, दोनो ही अच्छी हैं।"

उसी समय विमला ने प्रश्न किया—"लखनपाल बाबू कब आ रहे है ? सुना है, उनका मकान बन चुका है।"

लक्ष्मी ने कहा—"हाँ, बन तो चुका है। वह आने ही वाले हैं।"

लक्ष्मी ने चाहा कि वह विमला को यह भी बता दे कि उनकी मा चुनाव लड़ रही हैं, और तुम्हारे पिता के विरुद्ध खड़ी होंगी, किंतु कुछ सोचकर चुप रह गई।

तभी विमला ने कहा—"सुना है, उनकी माता भी चुनाव लड़ेंगी।"

बरबस ही लक्ष्मी बोली—"हाँ, तुम्हारे पिता के विरुद्ध।"

विमला ने कहा—"न, सरमाएदारी के विरुद्ध।"

लक्ष्मी मुस्किरा दी। मानो उसने बात की गहराई समझ ली हो।

विमला ने कहा—"जीत लखनपाल बाबू की मा की होगी।"

लक्ष्मी ने उदास होकर कहा—"उनके पास पैसा कहाँ है? चुनाव के लिये काफ़ी धन की आवश्यकता होती है।"

विमला ने आवेश में कहा—"किंतु उन्होंने जनता की सेवा की है। और जनता उसी का पुरस्कार उन्हें अवश्य देगी।"

गाँव आ गया था। विमला अपनी कोठी की ओर बढ़ी, तो लक्ष्मी ने कहा—"फिर आना जरूर बहन!"

विमला ने रुककर कहा—"जरूर, जरूर।"

## पच्चीस

बीहड़ वन के अंतःपट में, जहाँ प्रायः आदमी नहीं पहुँच पाते, हिंस्र पशु और पक्षी ही जिस वन के निवासी थे, जिसके तीन ओर हिमाच्छादित पर्वत-श्रेणियाँ फैलीं थीं, कई मास समाधि की अवस्था में रहकर भी सरदार अणु-मात्र शांति न प्राप्त कर सका—जीवन के लक्ष तक न पहुँच सका। फिर भी वह अपने प्रयत्न में चेष्टित था, और शनैः-शनैः शांति प्राप्त कर रहा था। वन से लगा हुआ एक पहाड़ी गाँव था। उस गाँव के निवासियों से सरदार का पुराना परिचय था। वह उस गाँव का सखा था। अपने डाकू-जीवन में भी कई बार सरदार को उस गाँव में आश्रय लेना पड़ा था। गाँव के अनेक परिवारों को वह आर्थिक सहायता भी दे चुका था।

जीवन के ऊहापोह में भटकता हुआ वह डाकू-सरदार अधिक सक्रिय रूप से इस बात के लिये चेष्टित था कि समाज और देश का आर्थिक विकास हो—देश संपन्न हो। देश में सरमाएदारी के जिस विषैले सर्प को फुफकारते वह देख रहा था, उसका नाश नहीं हो पा रहा था। उसका विष भी नहीं मिट रहा था। अपने मन को शांति देने—समस्या का कोई उचित हल खोज निकालने के लिए सरदार ने यह एकांतवास स्वीकार किया था। वह रूपवती की इच्छा के आगे झुक गया था।

सरदार इन्हीं विचारों में उलझा था कि एक दिन, अनायास ही, बाबा, रूपवती और लखनपाल ने उसे आ घेरा। वहाँ पहुँचते ही बाबा ने हँसकर कहा—"तुम पुलिस की आँखों से बच सकते हो, पर हमारी आँखों से नहीं।"

सरदार ने हँसकर स्वीकार किया—"मैं जानता हूँ बाबा!"

बाबा पुनः बोले—"तुम्हारा एक ही पत्र मिला, और वही हमारा मार्ग-दर्शक बनकर यहाँ तक ले आया।"

रूपवती ने कहा—"भैया, इस घोर अंधकार में, इस भयानक ठंड में, रहते हो तुम?"

सरदार ने कहा—"यहाँ शांति है।"

तभी लखनपाल बोला—"राह में एक बघेरा हमारे सामने से निकल गया। निश्चय ही उसने हमें देखा नहीं, अन्यथा ... ... ..."

सरदार ने कहा—"हिंस्र पशु भी डरता है मानव-रूपी पशु से।"

रूपवती ने सरदार की ओर देखकर कहा—"बहुत दुर्बल हो गए हो! ऐसा जान पड़ता है, मानो जीवन का अंत कर देना चाहते हो! बड़ी कठिन साधना में लगे हो।"

सरदार ने गंभीर होकर कहा—"हाँ, शरीर दुर्बल हो गया है, परंतु मन और आत्मा को यथेष्ट बल मिला है। प्रकृति के इस विराट् रूप में मैंने भगवान् को हँसता हुआ पाया है।"

बाबा उस समय गंभीर थे और थके भी। कुछ बोले नहीं। रूपवती ने कहा—"भैया, भगवान् तो सर्वत्र है। वह सभी जगह दिखाई देता है।"

सरदार मौन रहा, मानो उसने कुछ सुना ही न हो।

बाबा ने कहा—"बहुत चलना पड़ा है। पहाड़ों की चढ़ाई ने शरीर चूर-चूर कर दिया।"

व्यग्र होकर सरदार ने कहा—"आप स्नानादि कर आराम करें। मैं गाँव में जाकर भोजन का प्रबंध करता हूँ।"

रूपवती ने पूछा—"तो तुम गाँव में जाकर खाते हो? किसी के घर खाते हो?"

सरदार ने हँसकर कहा—"मैं कहीं नहीं आता-जाता। इस वन की कंदमूल खाकर ही अपना निर्वाह कर लेता हूँ।"

लखनपाल ने कहा—"तो हम भी यही खा लेंगे। एक दिन ऐसा ही सही मामाजी!"

किंतु सरदार ने मानो उसकी बात सुनी ही न हो। उसने अपना डंडा उठाया, और चल दिया। उसके जाने के पश्चात् बाबा ने रूपवती से कहा—"यह सरदार भी विचित्र व्यक्ति है। जो कुछ करता है, निस्स्वार्थ भावना से, अपने पूर्ण मनोबल के साथ।"

रूपवती ने कहा—"भैया, तुम-सरीखे कुछ और व्यक्ति देश में हो जायँ, तो कितनी सरलता से सभी समस्याएँ हल हो जायँ।"

बाबा ने कहा—"सरदार की आत्मा में जो ज्योति जल रही है, उसका प्रकाश एक दिन समस्त देश में फैल जायगा। मानव का दर्शन और चीत्कार इस व्यक्ति के हृदय को आलोड़ित कर रहा है। मैंने अनेक रातें इस सरदार को पीड़ा से कराहता हुआ पाया है। इस भले आदमी ने जीवन का क्या सुख पाया है? इसने कभी शांति से बैठकर भोजन भी नहीं किया है। सदा ही दूसरों का दुख इसका दुख और दूसरों का सुख इसका सुख रहा है।"

लखनपाल ने एक ठंढी साँस भरते हुए कहा—"मामाजी को हम अपने साथ क्यों न ले चलें।"

बाबा ने कहा—"नहीं। सरदार का अभी यहीं रहना उचित है। आत्म-सात् उसके जीवन की सबसे बड़ी सफलता होगी।"

बाबा की बात से लखनपाल को संतोष नहीं हुआ। उसका मन विद्रोही हो उठा। बोला—"बाबा, मनुष्य-जीवन की सार्थकता क्या इसी में है? पूजा-तप तो केवल अपने ही जीवन के उत्थान के लिये बना है। संसार में मनुष्य कुछ और भी करने आता है। क्रांति-दूत बनकर, देश और समाज को उठाना और पीड़ितों की आह और दुखियों के आँसू पोछना ही इस जीवन का प्रधान लक्ष माना जाता है। इन आँसुओं में स्वयं को एकाकार कर देना ही जीवन का परम मंत्र है।"

लखनपाल की बात सुनकर बाबा अतिशय गंभीर हो गए। वह बोले—"बेटा लखनपाल! मानता हूँ, तुम्हारी बात असंगत नहीं, परंतु सरदार ने जो पथ अपनाया है, वह भी आवश्यक है। मेरा मत तो यह है कि पहले यही आवश्यक है। इच्छाओं का दमन करना और भगवान् के ध्यान में लीन होकर आत्मतेज से आलोकित होना मानव का पहला कर्तव्य है।" वह बोले—"समाज का नेता बिना चरित्र-बल के सफल नहीं हो सकता।" कहते हुए बाबा ने झोपड़ी के बाहर देखा। पेड़ों पर चिड़ियाँ चहक रही थीं। दूर कहीं शेर भी गरज रहे थे। हाथी चिंघाड़ रहे थे। ऐसे भयानक वातावरण में भी बाबा के मन में

भय नहीं पैदा हुआ, अपितु उन्हें जैसे वह सभी कुछ अच्छा लगा। मानो उनके जीवन का वही परम और श्रेष्ठ अनुराग हो। उन्होंने फिर कहा—"बेटा, सेवा और त्याग का मार्ग सुगम नहीं, बल्कि महान् है। इसके लिये हृदय का महान् होना भी आवश्यक है, किंतु जिस व्यक्ति का चरित्र सबल नहीं, नारी के सौंदर्य में जिसे प्रभु की आभा और ज्योति नहीं, अपितु भोग और वासना दिखाई देती है, वह भला, कुत्ते-बिल्ली से किस प्रकार श्रेष्ठ है? वह भी पशु है। स्वेच्छा, वासना और दंभ जिसके चारों ओर नृत्य करते हैं।" निःसंदेह ऐसा व्यक्ति समाज के लिये कलंक है। वह सच्चा नेता नहीं हो सकता। मृग-चर्म ओढ़कर ही साधु नहीं हो सकता।"

अपने सूखे होठों पर जीभ फेरकर रूपवती ने कहा—"लेकिन बाबा, आज यही हो रहा है। ऐसे व्यक्तियों का ही समाज में सम्मान है।"

बाबा ने कहा—हाँ, पर ऐसा व्यक्ति केवल अपना आर्थिक विकास ही करता है। वह प्रभुता भी पा लेता है, पर उसका नेतृत्व स्थायी नहीं होता।"

लखनपाल घृणा-पूर्ण स्वर में बोला—"कितना भयावह है ऐसा व्यक्ति।"

बाबा ने कहा—"ऐसे व्यक्तियों द्वारा ही इस महान् देश का पतन हो रहा है।"

लखनपाल ने सरोष कहा—"लेकिन अब यह अधिक समय तक न चल सकेगा, बाबा! देश शिक्षित हो रहा है। जनता में समझने-बूझने की शक्ति आ रही है।"

सुनकर रूपवती चीख पड़ी—"धनिकों ने मनुष्य को निकम्मा कर दिया है। वह उसे कभी उठने न देगा। जो सिर उठेगा, उसे कुचल दिया जायगा।"

बाबा—"मनुष्य की आवश्यकता ने उसे दबा दिया है।"

"यही ठीक है।"

बाबा के होठों पर कड़ुई मुस्कान आई—"फिर भी अब देश उठेगा, इसका नेता इसे उठाएगा। जब प्रकाश होगा, तो अंधकार स्वयं मिट जायगा।"

बरबस लखनपाल ने कहा—"नेता···भला कौन? आज तो हमें ऐसा कोई नेता दिखाई नहीं देता।"

बाबा ने कहा—"समय आएगा, तब इसी समाज का व्यक्ति शोषित समाज का नेतृत्व करेगा। पीड़ितों में क्रांति की आवाज उठानेवाला अवश्य जन्म लेगा।"

लखनपाल को बाबा की इस बात पर विश्वास न हुआ। वह बोला—"बाबा, जो स्वयं पीड़ित है, क्षुभित है, सदियों से झुकता आया है, बलवान् के सामने सिर उठाएगा ?"

बाबा ने अपने स्वर पर ज़ोर देकर कहा—"बेटा लखनपाल, मत भूलो, समय सभी कुछ कराता है। आत्मचेतना का भाव एक दिन सभी में आता है। आज आवश्यकता है, समाज शिक्षित हो, व्यक्ति अपने को पहचाने—अपना मूल्य समझे।"

लखनपाल ने साँस भरकर कहा—"देश में शिक्षा का प्रचार भी हो रहा है। क्या अब हमारी समस्याएँ हल हो जायँगी ?"

बाबा ने रूपवती की ओर देखकर कहा—"सुनती हो अपने पुत्र की बातें। भला, ऐसी शिक्षा से देश का उद्धार होगा ?" उन्होंने पुनः लखनपाल को लक्ष कर कहा—"भैया, यह तो विदेशी शिक्षा है। हमें अपने देश की भाषा, अपने देश की संस्कृति चाहिए। हमें चाहिए राष्ट्र-धर्म का पाठ।"

लखनपाल ने कहा—"बाबा, यह तो संकुचित मत है कि इस शिक्षा से हमें कुछ नहीं मिला ? बाबा, इसी ने हमें चेतना दी है—विश्व को समझने की शक्ति दी है।"

इतना सुन बाबा उपेक्षा-भाव से मुस्किरा दिए।

लखनपाल ने फिर विनीत स्वर में कहा—"न, बाबा ! इस शिक्षा ने भी हमें कुछ दिया है।"

बाबा ने कहा—"मानता हूँ, उसने भी कुछ दिया है, परंतु जितना दिया, उससे अधिक छीन लिया है। इसने हमें आत्महीन बना दिया—हमारा आत्मसम्मान छीन लिया है।"

रुपवती ने कहा—"यह सत्य है, आज की शिक्षा ने हमारी सामाजिक और चारित्रिक परंपरा को नष्ट कर दिया।"

मा की बात से लखनपाल चिढ़-सा गया—"मा, तुम जिस चरित्र की बात लेती हो, मैं उसे नहीं मानता। तुम्हारी सभ्यता में हमें पाँच हज़ार वर्ष पूर्व की कालिमा दिखाई पड़ती है। कुंती ने बालपन में, अविवाहित अवस्था में ही, अपना गर्भ गंगा में प्रवाहित किया। उस युग की सामाजिक परंपराएँ क्या आज शोभा देती हैं ? मुझे लगता है, तब समाज के कोष में चरित्र का कोई अर्थ ही नहीं था। द्रौपदी के पाँच पति—मानो नारी का कोई अस्तित्व ही नहीं समझा गया। द्रौपदी को जुए के दाँव पर लगानेवाले युधिष्ठिर को 'धर्मराज' कहकर संबोधित किया गया। वाह रे चरित्रवान् समाज।"

लखनपाल का मुँह लाल हो गया। स्वर में कठोरता आ गई—"पाश्चात्य जगत् ने हमें कुछ नहीं दिया, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वहाँ का आदमी अत्यंत कर्मठ, ईमानदार और अपने समाज को ठगने की वृत्ति से दूर है। राष्ट्र-प्रेम उसके जीवन का मंत्र है।"

बाबा उस समय बाहर की ओर देख रहे थे, और कान लखनपाल की बातों पर लगाए थे। जब लखनपाल रुक गया, तब उन्होंने कहा—"बेटा, तुम्हारी बात में यथेष्ट सत्यता है।"

लखनपाल ने कहा—"बाबा, हमारा धर्म और नीति सदा से दुर्बल रही है। इसी ने हमारा पतन कराया है।"

बाबा ने शांत स्वर में कहा—"ठीक है, किंतु जिस धर्म और नीति को तुम हमारे पतन का कारण समझ रहे हो, वह हमारी सनातन नीति व धर्म का विकृत रूप है।"

और बाबा, तुम यह भी मानते हो कि यदि हमारे धर्म-गुरु, समाज के नेता जागरूक होते, विवेकशील होते, तो यह महान् देश आज पद-दलित न हुआ होता।"

बाबा ने अपने स्वर पर ज़ोर देकर कहा—"मानता हूँ, मानता हूँ बेटा !"

उसी समय रूपवती ने कहा—"लेकिन बाबा, मैं नहीं मानती।"

लखनपाल हँस दिया—"जानता हूँ, तुम न मानोगी। अपने को बदल लिया है, परंतु संस्कारों के प्रभाव को न बदल सकोगी। यह आसान भी नहीं है।"

सुनकर बाबा हँस दिए। सरदार गाँव से लौट आया। सभी का ध्यान उसकी ओर चला गया। बातों का प्रवाह रुक गया।

---

# छब्बीस

किसी व्यक्ति के विषय में ऐसी धारणा एकाएक नहीं बनाई जा सकती कि उसे हमने पूर्णतया समझ लिया है। नगर से दूर, उस पर्वतीय उपत्यका में, सरदार को जिस अवस्था में पाया, वह सचमुच ही उसके लिये जिज्ञासा की बात थी। उस वन में, जहाँ नर-भक्षक पशुओं का निवास था, सरदार को निर्भीक रहता देख रूपवती सोचती, आख़िर यह सरदार कैसा व्यक्ति है ? क्या चाहता है ? किसी अवसर पर, अपने स्थान पर, बाबा ने रूपवती से कहा था—"सरदार रहस्य से भरा है। एक पहेली है। यह एकाएक सुगमता से नहीं समझा जा सकता।" उस वन में सरदार को एक त्यागी और योगी के रूप में देखकर अनायास ही रूपवती के मन में यह भाव फिर उठ आया कि क्या सचमुच यह सरदार उसकी बुद्धि की कसौटी पर परखा जा सकता है ? क्या इस उलझी पहेली को वह सुलझा सकती है ? वह कह रही थी, मैं इस व्यक्ति को कभी न समझ सकी। जिसे क्रूर डाकू के रूप में देखा, उसे एक त्यागी के रूप में देखकर वह हतप्रभ हो गई। उस घोर वन में मानव-कल्याण की कामना लिए हुए सरदार को देखकर वह मानो स्वतः ही जीवन के अँधेरे में खो गई।

दूसरे दिन प्रातः ही बाबा और लखनपाल वन के पास के गाँव में चले गए थे। सरदार स्नान-ध्यान में लगा था। रूपवती कुटी के द्वार पर बैठी हुई उस वन की भव्यता और भयंकरता निहार रही थी। सरदार की कुटी जिस स्थान पर थी, उसके तीन ओर जल भरा था। चौथी ओर भी जल था, परंतु कम मनुष्यों के आने-जाने के लिये लकड़ी के तख्तों का रास्ता बना हुआ था। पिछले दिन सरदार ने बताया था कि इस कुटिया के पास यह जलाशय न होता, तो सुरक्षा संभव न थी। कभी कोई भी हिंस्र पशु आ सकता है। सरदार पूजा-आसन पर बैठा ध्यान-मग्न था, और रूपवती द्वार पर बैठी इन्हीं विचारों में खोई हुई थी। एकाएक वह चौंक पड़ी। बरबस उसके मुँह से चीख़

निकल गई। चीख़ सुनकर सरदार ने दृष्टि उठाई। वह मुस्किराया। रूपवती से बोला—"डरो नहीं। यह कुछ न बोलेगी, यह 'चंपा' है। इसका नित्य ही यहाँ आना-जाना रहता है।" उसने आती हुई एक शेरनी को लक्ष कर कहा—"अरी चंपा! आ गई तू! बैठ। यह मेरी बहन है।"

तभी उस शेरनी चंपा ने मुँह उठाया। उसकी मशाल के समान जलती हुई आँखें—उसका वह रौद्र रूप, मानो साकार काल ही रूपवती के पास आ गया हो—उसका भक्षण करने के लिये ही वहाँ आकर बैठ गया हो। रूपवती की साँस रुक गई। शरीर शिथिल पड़ गया। सिर घूमने लगा। तभी सरदार ने अपनी माला एक ओर रख लोटे में रक्खा दूध एक मिट्टी के प्याले में उँडेला, और चंपा के सामने रख दिया। फिर स्वयं उसकी पीठ और मुँह पर प्यार से हाथ फेरने लगा। उसने रूपवती से कहा—"बहन, इस सुनसान वन में ये वन्य पशु ही मेरे साथी हैं। भाग्य से ही यह चंपा मुझे मिली है। मैं जब यहाँ आया था, तो यह बीमार थी। अकेली इस जल-कुंड के किनारे पड़ी रहती थी। मैंने इसका उपचार किया। इसके बदन पर एक बड़ा ज़ख़्म था, उसे अपने हाथों से धोया, और ओषधि लगाई। शनैः-शनैः इसने स्वास्थ्य लाभ करना आरंभ किया।

रूपवती ने उत्सुकता से पूछा—"किंतु इसका चंपा नाम क्यों रक्खा तुमने?"

सरदार मुस्किराकर बोला—"इस कुटिया के द्वार पर एक चंपे का पेड़ लगा था। अपने डाकू-जीवन में मैंने उसे पानी देकर सींचा था—उसकी कोपलें साफ़ की थीं। मेरे यहाँ से जाने के बाद वह वृक्ष सूखकर नष्ट हो गया। इस बार जब मैं आया, तो उस वृक्ष के स्थान पर यह रुग्ण शेरनी पड़ी मिली। बलात् मैं इसे चंपा कहकर ही पुकारने लगा।"

रूपवती ने कहा—"तुम्हें भय नहीं लगा इसके पास जाते ?"

सरदार ने हँसकर कहा—"मैं डरा अवश्य था। कई दिनों तक झिझकता रहा। गाँववालों ने भी मुझे रोका, परंतु मैं इस शेरनी की पीड़ा देख न सका, और एक दिन प्राणों को हाथ में लिए इसके पास जा पहुँचा। यह भूखी मृतप्राय बीमार पड़ी थी। इसके ज़ख़्म पर पक्षी आकर चोंचें मारते।

यह अतिशय दु:खी और पीड़ित थी बेचारी। जब मैं इसके पास पहुँचा, तो एक कटोरे में थोड़ा दूध ले गया था। इसी मिट्टी के पात्र में इसे दूध दिया। इसने तुरंत ही पी लिया, और अपनी जीभ से मेरे पैरों को चाटना शुरू कर दिया। मैं इसके आत्मसमर्पण के भाव को समझ गया।

रूपवती ने कहा—"ये हिंस्र पशु भी ममता पहचानते हैं—दया का मर्म समझते हैं।"

सरदार ने अपने स्वर पर ज़ोर देकर कहा—"मनुष्य की अपेक्षा ये जानवर अधिक उपकार मानते हैं—ममता और दया का वास्तविक अर्थ समझते हैं।"

वह बोला—"लगभग एक मास तक मैं इस शेरनी की सेवा करता रहा। अब यह पूर्ण स्वस्थ है, और वन में आखेट कर अपना निर्वाह करती है, परंतु जो दूध मैंने एक बार इसे पिलाया, यह रोज ही उसे पीना चाहती है। किसी दिन नहीं मिलता है, तो झोपड़ी के अंदर घुसकर खोजती है।" वह हँसा—"बड़ी चतुर है, यह चंपा।"

रूपवती ने शेरनी की ओर देखा—"क्यों चंपा ?"

चंपा ने अपना मुँह उठाया, मानो वह रूपवती की बात सुन रही हो। उसने दूध पी लिया था, और अपनी जिह्वा से अपना मुँह साफ़ कर रही थी।

रूपवती ने कहा—"भैया, मुझे तो भय लगता है!"

सरदार ने कहा—"कोई कारण नहीं। तुम इससे बोलो। इसके शरीर पर हाथ फेरो।" फिर बोला—"जानती हो, इसके बदन पर ज़ख़्म किसने किया ? इसके शेर ने। गाँव के एक व्यक्ति ने बताया था, शेर बड़ा ख़ूँख़्वार था। एक बार जब ये दोनो एक नाले को फाँदने लगे, तो शेर न फाँद सका, चंपा फाँद गई। शेर खिसिया गया। नर था न, नारी के प्रति दंभ और क्रूर भाव उसके मानस में बलात् उठ आया। उसने इस बेचारी की पीठ नखों से नोच डाली।"

"वह शेर अब कहाँ है ?"

"बीमार होकर मर गया।"

"तो अब यह अकेली है—निराश्रित बेचारी!"

सरदार का मन और मस्तिष्क किसी और जगह पहुँच गया था। रूपवती की बात मानो उसने सुनी ही न हो। कुछ क्षण बाद एक लंबी निःश्वास छोड़कर बोला—"कितनी विचित्र समस्या है। नर और नारी समाज में एक होकर भी एक नहीं। नर ने सदा ही नारी को ठगा है। नर का स्वार्थ-भाव सदा नारी के मार्ग में पत्थर रखता रहा है, और नारी उसके लिये अपना सर्वस्व विसर्जित कर देती है।

वह बोला—"किंतु यह भी सत्य है, जब नारी अपना नारीत्व खो देती है, हृदय में पाप को जन्म देती है, तो वह पुरुष का जीवन नष्ट कर देती है। इसीलिये लोग कहते हैं कि नारी संदिग्ध है—संदेह की गठरी।"

सुनकर खिन्न भाव में रूपवती बोली—"हाँ, भैया! नारी का यह दुर्भाग्य है, और उसके इस दुर्भाग्य का स्रष्टा पुरुष ही है।"

सरदार को जैसे चेतना आई—"नहीं, नहीं, रूपवती! अपना दुर्भाग्य नारी ने स्वयं निर्मित किया है। उसने स्वतः ही अपने आपको नर को समर्पण कर दिया है। नर भोग का आकांक्षी रहा है, और नारी उस भोग-क्रिया में योग देती है। संभवतः मा बनने के लिये नारी की यह आकांक्षा उसके पतन का कारण है।"

रूपवती ने अन्यमनस्क भाव से कहा—"शायद!"

सरदार ने दृढ़ स्वर में कहा—"यही सत्य है।"

रूपवती को यह बात तर्क-संगत न लगी। वह मुस्किराई—"अच्छा, यही सही।" तभी उसके सम्मुख उसके अतीत का चित्र उभर आया। उसके मन ने कहा—'हाँ, मा बनना चाहती है—बच्चे जनना चाहती है यह नारी!" उसे याद आया, वह भी विवाह के बाद मा बनने के लिये लालायित थी। उसने सोचा, नारी का यही कर्तव्य है। इसी में उसका सम्मान है। यही नारीत्व की माँग भी है।

सहसा सरदार को लगा कि उसने कठोर बात कह दी है। अत्यंत मृदुल स्वर में उसने कहा—"मैं यह भी मानता हूँ, नारी की माँग स्वाभाविक है, प्राकृतिक है, किंतु उसे मा बनने से पूर्व भली भाँति समझ लेना चाहिए।

उसे दीर्घसूत्री होना चाहिए, अन्यथा स्वर्ग-तुल्य गृहस्थ-जीवन उनके लिये भार बन जाता है। पुरुष के लिये वह ऐसा कड़ुआ ग्रास बन जाता है, जिसे वह न थूक पाता है, न निगल।"

कुछ क्षण रुककर सरदार पुनः बोला—"यदि पुरुष क्रूर है स्वेच्छाचारी है।" तो नारी भी ईर्ष्यालु है, स्वार्थ के दलदल में फँसी है। बहन, यह क्योंकर संभव है कि एक मा दूसरे की संतान को अपनी संतान न समझे, उसे प्यार न करे, परंतु आज ऐसा ही होता है। 'सौत' शब्द इसी गंदी भावना का नाम है। परंपरा से हमारे देश में नारी जगत्-माता कहलाई है। यदि नारी ने अपनी उस प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण बनाए रक्खा होता, तो आज देश नीचे न गिरता। यहाँ का व्यक्ति तेज-पुंज और गौरव-पूर्ण रहता। जो राक्षसी वृत्ति आज हम मानव में पाते हैं, मैं कहता हूँ, उसकी जन्मदात्री नारी ही है।"

रूपवती सरदार की बातें बड़े ध्यान से सुन रही थी, मानो उसकी बातों की गहराई में उतर रही हो। सहसा किसी वस्तु का स्पर्श पाकर वह चौंक उठी। उसने देखा, चंपा उसके पास आकर अपनी जीभ से उसके पैर चाटने लगी है। भय से वह काँप उठी। उसे पैर सहसा हटाने का साहस न हुआ। चंपा के नथनों से जो दुर्गंध आ रही थी, उससे वह और भी उद्विग्न हो उठी। उसने सरदार की ओर देखा। भय और याचना का विचित्र सामंजस्य था उसकी दृष्टि में। सरदार ने मुस्किराकर कहा—यह अपना स्नेह प्रकट कर रही है तुझ पर रूपा। अपने-पराए की ख़ूब पहचान है इसे।"

रूपवती ने कंपित स्वर में कहा—"मेरे तो प्राण निकले जा रहे हैं, और यह प्यार जता रही है।"

सरदार हँस दिया। वह "शेरनी को लक्ष्य कर बोला—"रहने दे, चंपा! दूध पी लिया। अब जा।"

चंपा ने अपना मुँह उठाकर सरदार के फैले हुए हाथ पर रख दिया, मानो उसकी बात का अर्थ समझ गई हो।

सरदार ने कहा—"रूपवती, पशु भी हृदय और भावना समझते हैं, यह चंपा तो नितांत हिंस्र पशु है। कभी, किसी क्षण भी, मेरा भक्षण कर सकती

है, परंतु संभवतः इसके अंतर में बैठे परमेश्वर ने उसे समझा दिया है कि मैं इसका क्या हूँ। तेरी ही जैसी यह चंपा भी मेरी बहन बन गई है। नित्य अपने भैया के पास आती और जी भर देखकर लौट जाती है।" कहते हुए उसने चंपा का मुँह सहलाया—"यह भी संस्कारों का प्रसाद है, रूपवती, जाने किस जन्म का संयोग हमें कब और किस स्थिति में मिला देता है।

रूपवती ने शेरनी की ओर देखते हुए कहा—"हाँ, भैया।"

सरदार ने चंपा से कहा—"अब जा चंपा! शाम को आना। दो मेहमान और आए हैं, उनसे भी भेंट कर जाना।"

तभी रूपवती यह देखकर चकित रह गई कि चंपा उसी समय उठकर चल पड़ी। रूपवती बोली—"अरी चल दी, चंपा!"

शेरनी ने मुड़कर रूपवती की ओर देखा, और जलाशय-पार वन के अंतराल में छिप गई।

एक साँस भरकर, रूपवती बोली—"तो तुम अकेले नहीं हो भैया।"

सरदार ने भी साँस भरी—"मैं कभी अकेला नहीं, जब कोई साथ नहीं होता, तो परमात्मा साथ रहता है।"

रूपवती मुस्किराकर बोली—"भावनाओं का विशाल समूह तुम्हारे अंतर में भरा है।"

सरदार भी मुस्किरा दिया—"तो भावना के अतिरिक्त इस मानव के पास है क्या? जीवन के साथ यही आती और यही जाती है। यही भगवान् की सबसे बड़ी देन है मनुष्य को।"

रूपवती मानो पूर्ण रूप से भक्ति-रस में डूब गई। बोली—"भगवान् ने तो सभी कुछ दिया है मनुष्य को।"

सरदार ने भावना के प्रवाह में बहते हुए कहा—"हम सब भगवान् की माया हैं—उसी की कल्पना हैं। समस्त सृष्टि में भगवान् डोलता है। यहाँ आकर मैंने भगवान् का विस्तृत रूप देखा है—इस प्राणी जगत् का रहस्य समझने का प्रयत्न किया है, जिसे विरला ही समझ पाता है। किंतु मुझ-जैसा तुच्छ व्यक्ति क्या इस जीवन की गहराई में पूरी तरह उतर सकता है? न,

कदापि नहीं ! मुझे भला, इस जीवन का शाश्वत आध्यात्मिक स्वरूप पूर्ण रूप से किस प्रकार देखने को मिल सकता है !"

रूपवती ने व्यथित होकर सरदार की ओर देखा, और कहा—"न भैया, तुम सफल हो—जागरूक हो। तुमने अवश्य जीवन का मर्म पा लिया है।"

सरदार ने उदास स्वर में कहा—"न बहन, ऐसा नहीं हुआ।"

रूपवती ने प्रश्न किया—"तुम जीवन को साधना मानते हो? तुम पुनर्जीवन में भी विश्वास रखते हो?"

सरदार ने कहा—"हाँ, मैं मानता हूँ। मानव के विश्वास का एकमात्र पथ साधना है।"

"तो भैया !" रूपवती हँसकर बोली—"तुम इस जीवन में यदि सफल न भी हुए, तो न सही। तुमने साधना से तो कभी मुँह नहीं मोड़ा। न सही इस जन्म में, दूसरे जन्म में तुम्हें अपनी साधना का फल अवश्य मिलेगा।"

सुनकर सरदार हँस दिया। उसके नेत्रों में चमक थी। सफ़ेद और काले बालों की मिश्रित दाढ़ी से आच्छादित उसके मुख पर एक विचित्र आभा झलक रही थी। वह बोला—"हाँ, बहन ! इसी आशा पर अपना बेड़ा खे रहा हूँ। मैं जीवन के चारो ओर भटककर भी अपने लक्ष्य को खोज रहा हूँ।" कहते हुए सरदार का स्वर भारी हो गया। आँखें भर आईं। नेत्रों से आँसू उसकी दाढ़ी में छिपने के लिये बाहर ढुरक आए।

देखकर रूपवती कातर हो उठी। उसे लगा कि सचमुच सरदार नन्हे बालक-सा सरल—अबोध है। उसके मन में बरबस ही यह विचार उठा कि वह उसका सिर अपनी गोद में रख ले, और उसके सिर के बालों को प्यार से सहलाए। ममत्व-पूर्ण नेत्रों से उसने सरदार की ओर देखा। और बोली—"तुम जीवन का उद्धार चाहते हो—मोक्ष? क्यों भैया !"

सरदार के मुख पर एक अलौकिक ज्योति चमक उठी। वह तुरंत बोला—"नहीं रूपवती ! मैं मोक्ष नहीं चाहता। मैं जीवन को गतिशील बनाना चाहता हूँ। मैं तो सिपाही हूँ। युद्ध मेरा स्वभाव है, यही मेरा ध्येय

है। मैं जीवन को होम देना चाहता हूँ दूसरों के कल्याण के लिये—निर्बलों की रक्षा के लिये। पीड़ितों का आशीष ही मेरा कल्याण करेगी।"

रूपवती ने हँसकर कहा—"तो तुम्हारे इस बलिदान के पीछे भी स्वार्थ की भावना है? तुम आशीष चाहते हो?"

गंभीर भाव में सरदार ने कहा—"निश्चय ही! मैं भी याचक हूँ। मानव-दुर्बलता का क्रीत दास!" कहते हुए उस वज्र-हृदय सरदार की बहती हुई आँखें और अधिक वेग से प्रवाहित होने लगीं। वह अत्यंत पीड़ित स्वर में बोला—"मैं पीड़ितों की पीड़ा में मिल जाना चाहता हूँ। बहन! इसीलिये मैं यहाँ आया हूँ।"

रूपवती ने अपने आँचल से सरदार की आँखें पोछीं, और स्नेह-सिक्त स्वर में बोली—"मेरे भैया! तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण हो, मेरी यही एकांत शुभाकांक्षा है।"

---

# सत्ताईस

बाबा, रूपवती और लखनपाल जिस उद्देश्य को लेकर सरदार के पास पहुँचे थे, वह पूरा न हो सका। सरदार उनकी बात स्वीकार करने की स्थिति में न था। रूपवती सरदार को पुन: कर्म-क्षेत्र में ले जाना चाहती थी। लखनपाल का कहना था, योग और समाधि की क्रियाएँ इस जीवन के लिये नहीं हैं। जो व्यक्ति जनता-जनार्दन की सेवा में लगा हो, पीड़ितों के आँसुओं में जिसका जीवन भीग चुका हो, उसे एकांत में बैठकर तप करने की आवश्यकता नहीं। वह जनता का पुजारी है। जनता की पूजा उसका ध्येय है। सरदार का इस विषय में भिन्न मत था। वह भगवत्-पूजा में लीन होना चाहता था, भगवान् की प्राप्ति के लिये नहीं, अपितु आत्मशुद्धि के निमित्त, विकार-शून्य होने के निमित्त। उसने बाबा और रूपवती से स्पष्ट कह दिया कि वह अभी यहीं रहेगा। हाँ, समय आने पर अवश्य पहुँच जायगा।

एक दिन लखनपाल और रूपवती सरदार से बातें कर रहे थे, तभी जमींदार विक्रम का उल्लेख आने पर सरदार अतिशय गंभीर हो गया। उसके माथे में बल पड़ गए। आँखें कपाल पर चढ़ गईं। रोष-पूर्ण स्वर में वह बोला—"विक्रम इस देश के उस समाज का प्रतिनिधि है, जो सहस्रों वर्षों से इस विराट् देश का शोषण कर रहा है—मातृत्व और भ्रातृत्व की भावना को इस देश से मिटा देने का प्रयत्न कर रहा है।

लखनपाल ने कहा—"मामाजी, पैसे का यही शाप है!"

सरदार ने कहा—"हाँ, पैसा ही आज सब कुछ है। व्यक्तित्व का अस्तित्व लुप्तप्राय हो गया है।"

रूपवती बोली—"हमारे देश के मध्यम वर्गीय समाज ने विदेशियों को हटाने के लिये—देश के उत्थान के लिये जितना बलिदान किया, उसे फल मिलना तो दूर, आज उसी का शोषण हो रहा है। आज उसके सम्मुख जीवित रहने का प्रश्न आ गया है।"

सरदार बाहर की ओर देखते हुए बोला—"इस विशाल देश का शोषितों द्वारा शोषण हो रहा है। आज इस देश की नैया का कोई माँझी नहीं रहा। एक था, वह भी चला गया। वह अमर संन्यासी अनायास ही मार दिया गया। उस नेता ने एक दिन इस देश के युवकों से बलिदान माँगा था। उसकी अमर वाणी की हुंकार में कितना तेज था। बलिदानों का ढेर लग गया। वेदी ख़ून से भर गई।

रूपवती बोली—"भैया, भारत फिर वही दिन देखेगा—इस देश को फिर बलिदान देना पड़ेगा।"

सरदार गंभीर था। बोला—"इस संसार में बलिदान तो सदा से ही होते रहे हैं। यह वैध प्रणाली है। परंतु किसी विशिष्ट और परम उद्देश्य को लेकर बलिदान हो, तो वह देश और उसकी संस्कृति के लिये वरदान होता है। हमारा पिछला बलिदान—वह स्वातंत्र्य युद्ध विश्व के इतिहास की एक अमर कहानी है—एक उज्वल पृष्ठ है।"

उसी समय सरदार को पुनः विक्रम का स्मरण हो आया। वह रूपवती को लक्ष कर बोला—"विक्रम को चुनाव में हराने के लिये तुम्हें अधिक सचेत होना पड़ेगा। उसने जिस प्रकार पहले तुम्हारा अंत करना चाहा था, संभव है, अब फिर प्रयत्न करे। संभव है, इस बार लखनपाल के जीवन पर भी उसका आक्रमण हो।"

रूपवती ने गंभीर होकर कहा—"गाँव में रहते मुझे भी यही भय लगा रहता है।"

सरदार ने समझाया—"विक्रम शहर में भी तो अपना जाल फैला सकता है। उसके पास पैसा है। वह कभी अपना काम कर सकता है।"

लखनपाल ने कहा—"मामाजी, मैं भय नहीं खाता। मुझे जीवन का मोह नहीं। कुछ क्षण रुककर वह रोष-पूर्ण स्वर में बोला—"क्या विक्रम के भय से हम अपना कर्तव्य-पथ छोड़ देंगे!"

रूपवती ने कहा—"विक्रम मुझे हराने के लिये हर प्रयत्न करेगा।"

सरदार इस बात को सुनकर अत्यधिक गंभीर हो गया। लगा कि उसके अंतराल में कोलाहल व्याप्त हो गया हो। उसने कहा—"हाँ रूपवती! उसकी शक्ति का ह्रास नहीं हुआ है। हमारा देश कंगाल और भूखा है। जिस व्यक्ति के सामने चुग्गा डालो, वही अपना सिर झुका देता है। हमारे देश में वोट भी पैसे से ख़रीदा जाता है।"

लखनपाल ने भारी मन से कहा—"वोट जनता का अधिकार-पत्र है, उसका मोल करना देश के साथ कितनी बड़ी ग़द्दारी है, हमारी अशिक्षित जनता यह नहीं समझ पाती।"

सरदार ने कहा—"किंतु अभी तो यही होगा। सरकार कोई कठोर नियम बनाए, तो सुधार हो सकता है।"

रूपवती ने कहा—"यहाँ के उम्मीदवार जितना रुपया ख़र्च करते हैं, उससे समाज-निर्माण का काम भली भाँति हो सकता है। कितने ही निराश्रितों को आश्रय, भूखों को अन्न, नंगों को वस्त्र और अशिक्षितों को शिक्षा देने का प्रबंध किया जा सकता है इस धन से।"

सरदार ने कहा—"हाँ, परंतु जिनके पास पैसा है, वह प्रायः उसका सदु-पयोग नहीं जानते। वे नहीं समझते कि उनका पैसा उन्हीं का नहीं, समाज का भी है—देश का भी है। वे तो अपनी मान-प्रतिष्ठा के लिये उस पैसे को पानी के समान बहाते हैं।"

लखनपाल ने कहा—"पैसे के अभाव में कितने ही योग्य व्यक्ति प्रकाश में नहीं आ पाते। उन्हें रास्ता नहीं मिलता। सरमाएदार पथरीली चट्टान के समान उनके रास्ते में खड़े रहते हैं। यह भी एक समस्या है कि ऐसे व्यक्ति किस प्रकार हटाए जा सकते हैं।"

सरदार ने उत्साह-पूर्ण स्वर में कहा—"भैया, तुम तो पढ़े-लिखे हो, मुझसे अधिक समझते हो। ज़माना बदल रहा है—समाज का कारवाँ द्रुत वेग से आगे बढ़ रहा है। मुझे तो दिखाई पड़ता है, दूर क्षितिज में आँधी उठ रही है। यह आँधी सरमाएदारी को उड़ा ले जायगी। समाज के बहुत से जीर्ण संस्कार मिट जायँगे, और क्रांति का घोर नाद कानों में गूँजता

होगा। प्रतिहिंसा-रूपी सदियों की दबी हुई मानव-मन की ज्वाला भक्-भक् करती हुई जल उठेगी। परंपराएँ नष्ट हो जायँगी।"

आतुर स्वर में रूपवती बोली—"तो भैया! ऐसी दशा में क्या यह विश्व रहेगा? जब परंपराएँ नहीं रहेंगी, तो विश्व की एकता नष्ट न हो जायगी?"

सरदार की आँखें जल उठीं। उनमें क्रोध झलक उठा, मानो हृदय का दावानल आँखों में उतर आया हो। कर्कश स्वर में बोला—"कहाँ है विश्व की एकता, कहाँ है समाज का भाई-चारा! पड़ोस में लाश पड़ी हो, क़फ़न न हो, अनाथ बच्चे भूखे हों, उनके प्राण निकल रहे हों, दूसरा पड़ोसी—वह ऊँचे महल का वासी—क्या इतना सहृदय है, ऐसा विवेकशील है कि पड़ोसी के आर्त नाद में अपने को मिला दे—सहयोग का हाथ बढ़ाए?" उसने पुनः कहा—"नहीं, हमारे संस्कार और हमारी परंपराएं तो पहले ही मिट चुकी हैं। चाँदी-सोने की सिल्लियों के नीचे दबकर चूर-चूर हो गई हैं। मैंने सुना था, धर्म और विवेक हमें बल देते हैं—जीवन देते हैं, परंतु मैं तो अब समझता हूँ, धर्म ने हमें कुछ नहीं दिया। वह भी पैसेवालों के हाथ की कठपुतली है। इतना कहते हुए सरदार की मुट्ठियाँ बँध गईं। अवरुद्ध स्वर हो गया। वह क्रोध और घृणा से अभिभूत हो काँपने लगा। उसने फिर कहा—"तुमने यह तमाशा देखा, जो धनिक, ज़मींदार, कारखानेदार लाखों-करोड़ों रुपया नर-समाज का शोषण कर अर्जित करते हैं, वही धर्म के नाम पर मंदिर, मस्जिद और गिरजे का निर्माण कराते हैं। उन पर सोने के कलश चढ़ाते हैं। मंदिर की प्रतिमाओं के आभूषण हीरे, पन्ने और पुखराज के बनवाते हैं, मानो भगवान् को घूस देना चाहते हों। भला, सोचो तो, कितना धूर्त है वह। तुम कहोगी, मूर्ख है वह, परंतु मैं कहता हूँ नहीं, वह प्रपंची, छद्मवेशी और चतुर है। वह धर्म की भावना का परिष्कार करके शोषितों के मुँह पर धर्म-रूपी ताला लगाता है। वाह! चोर ही उपदेश देता है—'चोरी करना पाप है। किसी का ख़ून करना अन्याय है।' कैसी विडंबना है, वह लुटेरा डाकू और ख़ूनी समस्त मानव-समाज और धर्म का निर्माता बनता है। वह समाज का संचालक और उद्धारक कहलाता है। भला क्यों, केवल इसलिये कि उसके

पास पैसा है—बल है। पैसा ही आज के युग का एकमात्र संबल है। जिसके पास पैसा नहीं, उसका जीवन हेय है, अर्थ-हीन है। उसे जीवित रहने का अधिकार नहीं। कहावत है, जिसके पास पैसा वही समाज का पंच।"

लखनपाल ने कहा—"आप ठीक कहते हैं। भूखे, निराधार और निरस्त्र मानव को उन्हीं के द्वारा धर्मोपदेश सुनाया जाता है, जिन्होंने उन्हें त्रस्त और क्षुभित बनाया है। राजप्रासाद की पथरीली दीवारों से भूखे समाज को आदर्श का उपदेश दिया जाता है—राष्ट्र-धर्म के लिये मरो, मानव-कल्याण के लिये बलिदान दो।"

सरदार ने कड़ुए भाव में मुस्किराकर रूपवती की ओर देखा, मानो वह लखनपाल की बात का समर्थन कर रहा हो।

रूपवती झुँझलाहट भरे स्वर में बोली—"किंतु इसका कोई हल भी है ?"

सरदार ने सहज भाव से कहा—"इस देश को एक कुशल शल्य-चिकित्सक चाहिए। समाज-रूपी शरीर का ऑपरेशन होना चाहिए।"

उसका सड़ा हुआ अंग काट दिया जाय, तभी देश को नवजीवन मिलेगा। देश उठेगा। विश्व का भ्रातृत्व बढ़ेगा।

रूपवती ने साँस भरी, और कहा—"मैं नहीं जानती कि क्या होगा। सोचती हूँ, यदि नीचे का समाज विजयी हुआ, तो क्या जिस गंदगी का आज हम परिष्कार चाहते हैं, वह फिर न फैलेगी ?"

सरदार ने कहा—"यह आगे की बात है। अभी तो रोग का निदान करना है। रोग दूर करना है। अभी यह रोग न फैले, यह अन्य व्यक्तियों को भी सोचना है।"

लखनपाल ने कहा—"नहीं, यह भी हमें करना है, मामाजी ! देश का बोझ हमारे कंधों पर भी है।"

सरदार ने हर्षित होकर कहा—"मुझे तुम्हारी बात सुनकर ख़ुशी हुई। देश के युवकों को यही शोभता है।"

उसी समय बाबा ने हाँफते हुए झोपड़ी में प्रवेश किया, और भर्राए स्वर में बोले—"आज मौत के मुँह से बचकर आया हूँ। एक जंगली हाथी से रास्ते में मुठभेड़ हो गई थी……"

बाबा अपनी बात पूरी न कर पाए थे कि उनकी विचित्र भाव-भंगिमा देख सभी हँस पड़े।

---

# अट्ठाईस

सबको हँसते देखकर बाबा को बड़ा कौतूहल हुआ। उन्होंने गंभीर होकर कहा—"क्या तुम लोगों को मेरी बात पर विश्वास नहीं हो रहा है? वह मदांध हाथी मुझ दुर्बल और वृद्ध संन्यासी को अपनी सूँड़ से पकड़ता और पैर-तले दबाकर टुकड़े-टुकड़े कर देता।" बाबा ने नितांत निर्मम और विषम स्वर में कहा—"मैंने यह आज ही समझा कि मुझ-जैसे संन्यासी को भी अपना प्राण प्यारा होता है। यह तो जंगली जंतुओं की बात है, परंतु मैं तो मानव-समाज में भी नित्य यही देखता हूँ। जीवन-भर अनुभव करता रहा हूँ कि हिंस्र मानव से इसी प्रकार निर्बल व्यक्ति भी त्राण पाना चाहता है। वह जीवन के क्षण-क्षण में उस दंभी निशाचर की दृष्टि से दूर रहता है।"

अपनी आखों में हास्य-भाव लिए सरदार ने कहा—"बाबा, आदमी भी तो पशु है। शिकार करता है। आदमी मारता है, खाता है।"

बाबा ने गंभीर होकर कहा—"हाँ, आदमी भी शिकार करता है।"

उसी समय, अपने स्वर पर क्षोभ लिए हुए, लखनपाल ने कहा—"फिर मनुष्य अपने को विवेकशील क्यों कहता है? धर्म माननेवाला ढोंगी!"

आसन पर बैठकर, इतनी देर में, बाबा का मन शांत हो गया था। वैसे उनका ध्यान अब भी जंगल की ओर था। कुटिया के बाहर जलाशय में मछलियाँ और कछुवे तैर रहे थे। वे कभी-कभी अपनी गर्दन उठाकर कुटिया की ओर देखते। उसी ओर देखते हुए बाबाजी लखनपाल की बात सुनते रहे, और निरालंब व्यक्ति के समान नितांत कातर स्वर में बोले—"बेटा, यह धर्म और विवेक न रहता, तो क्या यह आदमी अब तक जीवित रह पाता? जीव और जगत् का इतिहास निर्माण करता?"

बीच में ही बात काटकर, अपेक्षाकृत अपने स्वर पर ज़ोर देता हुआ, लखनपाल बोला—"बाबा, इस मानव-समाज का जो मूल तत्त्व है, वह तो नहीं रहा। इसका सांस्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक उत्थान जाने कब का एक

गया है। मैं कहता हूँ, मानव की आर्थिक चेतना ने हमारे विवेक को भी क़ैद कर लिया—उस पर चमकता हुआ चाँदी का पर्दा डाल दिया। आज का मदांध, स्वार्थी मनुष्य-समाज पशु-समाज से ऊपर न उठ सका। आपने देखा कि हाथी मदांध और क्रूर बना हुआ सामने आया, और निकल गया। ऐसी परिस्थिति आपके सामने आ गई थी कि यदि वह हाथी आपको देख पाता, तो संभवतः आप पर प्रहार करता—आपको चोट पहुँचाता। यह भी हो सकता था कि वह आपके प्राण ले लेता। परंतु वह तो जानवर था, मनुष्य की वाणी में बुद्धि-हीन था। उसकी यह स्वभावगत चेष्टा थी। किंतु यह आदमी—यह विवेकशील प्राणी—धर्म और विवेक का चोला पहनकर नित्य नए शिकार करता है, छोटी-बड़ी सभी मछलियाँ अपने काँटे में फँसाता है।" लखनपाल ने साँस भरी, और कुटिया के बाहर फैले वन की ओर देखता हुआ बोला—"निःसंदेह स्मृति के आरंभ से ही इसी परंपरा का जन्म हुआ है। संघर्षशील मानव अपने आर्थिक विकास के हेतु दूसरों का वध करता रहा है। मनुष्य सदा ही युद्ध-प्रिय और प्रतिस्पर्धी रहा है। जो आगे बढ़ रहे हैं, उन्हें पीछे कर देने, अवसर पाए, तो मार देने तक की बात यह अपने हृदय में सोचता रहा है। मेरा कहना है, जब तक इस परंपरा का लोप न होगा, मनुष्य न उदार होगा, न विवेकशील कहलाने का अधिकारी होगा।"

बाबा ने साँस भरी। उन्हें इस समस्या का कोई उपाय न सूझ रहा था। बोले—"किंतु इसका उपाय क्या है?"

लखनपाल ने तेज़ स्वर में कहा—"उपाय तो है। थोथे धर्म का बंधन हटा दो। मनुष्य को स्वतंत्र कर दो। ईश्वर की आशा छोड़ दो।"

इतना सुनकर चकित भाव से बाबा ने लखनपाल की ओर देखा। तदंतर किंचित् रोष-पूर्ण स्वर में कहा—"धर्म नहीं रहेगा, मानव-मन से आध्यात्मिक भाव मिट जायगा, तो निरे जंगलीपन के अतिरिक्त हममें क्या शेष रह जायगा?" जिस सामाजिक और आर्थिक न्याय की हम माँग कर रहे हैं, उसका आधार भी मनुष्य का यही आदर्श धर्म है।"

लखनपाल बोला—"तो बाबा, यह मनुष्य सदा खिन्न और दुखी रहेगा। पैसेवाले हमें धर्म का भय दिखाकर पीस डालेंगे।"

बाबा ने कहा—"बेटा, साठ वर्ष से ऊपर के इस जीवन में एक बात मैं अवश्य समझा हूँ, दुनिया के इस संघर्ष में पैसा भी अपना महत्त्व रखता है। विश्व की सामाजिक व्यवस्था को पैसे ने ही संतुलित रक्खा है। पैसे ने मनुष्य से कुछ लिया है, तो कुछ दिया भी है। पाप और पुण्य, हिंसा और अहिंसा का सामंजस्य इस भौतिक लोक में सदा-सर्वदा रहा है। हमें दोनों की ही आवश्यकता है। दोनों ही हमारे आधार हैं। जिस पैसे को तुम मिटा देने की बात कहते हो, इसने भी मानव-सभ्यता का परिष्कार किया है—बल दिया है। पैसा और स्पर्धा की भावना ने ही मनुष्य को प्रगति-पथ का पथिक बनाया है।

बाबा की बात सुनकर, क्षण-भर के लिये, उस मंडली में सन्नाटा छा गया। सभी मौन रहे। सभी जैसे जड़ हो गए।

बाबा ने फिर कहा—"मैं अभी गाँव गया था। कई परिवारों से मिला। उनसे मिलकर मैं सचमुच ही प्रसन्न हुआ। प्रकृति के इस विराट् प्रांगण में नगरों के कोलाहल से दूर, उस साधन-हीन गाँव में मुझे सभी नंगे, भूखे और कृश व्यक्ति दीखाई पड़े, परंतु इतना होने पर भी मैंने उनमें संतोष का भाव पाया। एक निर्धन परिवार ने बहुत ही श्रद्धा एवं प्रेम से शुद्ध गाय के दूध से अतिथि-सत्कार किया।"

सरदार ने कहा—"यहाँ के व्यक्ति बड़े ही सरल और सीधे हैं, बाबा! अतिथि-सत्कार करना जानते हैं।"

बाबा ने कहा—"मैंने यहीं जाना कि पैसा न होने पर भी आदमी अपनी आवश्यकताएँ निभाता है। संतोष बहुत बड़ा धन है।"

लखनपाल ने कहा—"जीवन है, तो इसकी आवश्यकताएँ भी हैं। आज के बहुव्यसनी समाज ने मनुष्य की इच्छाएँ जाग्रत् कर दी हैं। इस गाँव में जो व्यक्ति रहते हैं, इच्छाएँ उनकी भी हैं, परंतु लाचारी है। बरबस इच्छाएँ मारी जाती हैं।" वह अपने स्वर पर जोर देकर बोला—"बाबा,

आज के युग का यही शाप है। सरमाएदारी की कुटिल नीति ने ज़रूरतें बढ़ा दी हैं। मानव को दास बनाए रखने की इस नीति से अधिक कठोर भला और कौन-सी प्रणाली है। नए-नए आविष्कार होते हैं, मनुष्य की नई-नई इच्छाएँ और आवश्यकताएँ जन्म लेती हैं, और तभी बँटवारे के लिये खींचा-तानी आरंभ हो जाती है। कारख़ानेदार और ज़मींदार कहते हैं कि ज़मीन हमारी, पैसा हमारा है, और मज़दूर-किसान कहता है, मेहनत हमारी, उपज हमारी। इसका न्याय कैसे हो? सरकार को पैसा चाहिए। पैसा सरमाए-दारों के पास है, अतएव उन्हीं का पक्ष लिया जाता है।" कहते हुए लखनपाल मानो चीख़ पड़ा—"यह मशीन-युग है, विज्ञान का युग है; परन्तु मेरा अपना मत यह है कि यह इच्छाओं और आवश्यकताओं का युग है।

रूपवती दत्तचित्त होकर अपने पुत्र की बात सुन रही थी। पुलकित हृदय से उसने पुत्र की ओर देखा। वह चकित रह गई उसके विचार सुन-कर। उसे जीवन में प्रथम बार यह अनुभव हुआ कि उसका पुत्र कायर नहीं। उसमें दृढ़ता है, तेज है, शौर्य है, और उसके अंतर में आग है। अपने पुत्र के प्रति इतना सम्मान रूपवती ने पहले कभी अपने हृदय में नहीं देखा था। बात करते हुए लखनपाल का मुँह आग के अंगारे के समान तप रहा था। रूपवती के मन में बरबस ही भाव उठा कि वह अपने पुत्र का क्रोध से तपा हुआ मुखड़ा प्यार से चूम ले। ममता का स्रोत बह चला।

तभी लखनपाल कह रहा था—"बाबा, यहाँ अतिशय ग़रीबी और बे-रोज़गारी है। भेड़ों के ऊन पर इतना पैसा नहीं मिलता, जिससे गुज़र हो सके, किंतु जो इनसे ऊन ख़रीदते हैं, मालामाल बन जाते हैं। वे ज़रूरत-मंद को झुकाते हैं। पैसे का यही सबसे बड़ा दुर्गुण है। "वह बोला—बाबा, आप मेरी बातों से ऐसा न समझिए कि मैं धर्म में आस्था नहीं रखता। मैं स्वीकार करता हूँ कि इंसान का आध्यात्मिक दृष्टि-कोण भी प्रीतिकर है, उपादेय है, परंतु मेरा कहना है कि उसने जन-साधारण को कुछ दिया नहीं, लिया-ही-लिया है। सभी जानते हैं कि इस युग में आर्थिक विकास सर्वोपरि है, लेकिन बंदर-बाँट द्वारा उसे कुछ विशेष व्यक्तियों ने समेटकर अपने

पास रख लिया। इस प्रतिस्पर्धात्मक जीवन में मानव कैसे शांत रहता? कितना दुर्भाग्य है कि कर्म ने भी ऐसा दुष्कर्म करने पर उन हत्यारों का ज़रा भी अवरोध नहीं किया। असलियत यह है, स्वार्थ सर्वोपरि रहा। पैसा संघर्ष का जनक रहा। जब धर्म जन-साधारण की सहायता नहीं कर सका, इंसान को इंसानियत नहीं दे सका, तो उसका अर्थ क्या? पाप-पुण्य के चंद श्लोक सुनने से लाभ क्या? अपने पिता की निर्मम हत्या क्या मैं इस जीवन में भूल सकता हूँ?"

बाबा ने शांत स्वर में कहा—"बेटा, यह समाज-व्यवस्था का दोष है, संस्कृति या धर्म का नहीं। जिन व्यक्तियों के हाथों में सत्ता है, उनकी स्वेच्छाचारिता का जब प्रतिरोध नहीं किया जाता, उनका उत्साह बढ़ता जाता है, अहम्मन्यता पनपती है, और दिन-दिन समाज-व्यवस्था बिगड़ती जाती है। मानव मानव के रक्त का प्यासा होता जाता है।"

लखनपाल ने कहा—"किंतु बाबा उस प्रतिरोध का नेतृत्व कौन करे? समाज के श्रेष्ठ नेता और शासक इतने चतुर हैं—इतने जागरूक हैं कि जनता को ऐसा अवसर ही नहीं देते कि वह समझे कि उसका अधिकार क्या है।" कुछ क्षण रुककर ,वह आवेश में बोला—"परंतु अब यह नहीं होने पाएगा। धर्म-प्राण गुरुओं की वाणी के प्रति भी लोगों में उपेक्षा का भाव आ गया है। अज्ञान का परदा उठ चुका है। जन-साधारण ने भी वास्तविकता को समझ लिया है।"

बाबा ने कहा—"एक दिन धर्म-गुरुओं ने देश का सबल और सफल नेतृत्व किया था, पर आज उन्हीं का कैसे पतन हुआ?"

लखनपाल ने कहा—"बाबा, वे राव-राजाओं के हाथों बिक चुके हैं। उनका यही हाल होना था। चाँदी-सोने के आक्रमण ने उन्हें भी सताया। भारतीय संस्कृति के ग्रंथ जब तक ऋषियों की तपोभूमि में रहे, उज्ज्वल रहे, पुनीत रहे, परंतु राजमहलों में जैसे ही उनका पदार्पण हुआ, उन्हें रत्न-जटिल सिंहासनों पर रक्खा गया, उनका रूप ही बदल गया।" कहते हुए लखनपाल मुस्किराया, और सरोष बोला—इतिहास साक्षी है, सारनाथ के मंदिर में साठ हज़ार ब्राह्मणों ने यवन-सम्राट् की नंगी तलवार के समक्ष अपने

सिर झुका दिए, धर्म ने कायर बना दिया उन्हें। वीरभोग्या वसुंधरा का पाठ हमने कभी ग्रहण नहीं किया। विना रोए तो मा भी बालक को दूध नहीं पिलाती। हमें अपना अधिकार छीनना होगा। डटकर मुक़ाबला करना होगा समाज के श्वेत वस्त्रधारी डाकुओं से।"

बाबा हँस दिए—"तुम जवान हो। तुम्हारा यह जोश स्वाभाविक ही है, किंतु हमें विद्रोह की नहीं, जनता के हृदय के परिवर्तन की आवश्यकता है।"

लखनपाल ने कहा—"विद्रोह करना हमारा लक्ष्य है। वैसे मैं अपने हृदय की बात कहता हूँ। मैं तो यही चाहता हूँ, एक धर्म मानव-धर्म का स्वरूप स्वीकार किया जाता। विश्व-भर का इंसान एक कुटुंब होकर रहे।"

बाबा ने कहा—"समस्त विश्व एक दिन यही मानेगा। मानवता सर्व-मान्य होगी, और मानव-धर्म सर्वोपरि होगा।"

लखनपाल ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह अपने ही विचारों में डूबा रहा।

---

# उन्तीस

बाबा और लखनपाल में लंबी चर्चा होने के अनंतर सरदार एक बार भी न बोला। वह मौन ही रहा। यह देखकर रूपवती को सचमुच ही अचरज हुआ। कई बार उसके मन में आया कि सरदार को टोके, कुछ कहे, किंतु सरदार के मुख पर उस समय उदासी सन्निहित थी, उसकी मुखाकृति कठोर हो गई थी, इसलिये रूपवती को कुछ कहने का साहस नहीं हुआ। सरदार जैसे वहाँ न था, उसका पार्थिव शरीर ही था। उसके मन और प्राण कहीं और चले गए थे। सहसा उसे कुछ याद आया। वह एक झटके से उठ खड़ा हुआ। डंडा उठाया, और बाहर जाने लगा। तभी, बरबस, रूपवती ने पूछा—"क्यों भैया, कहाँ चले ?"

सरदार ने उत्तर दिया—"ज़रा गाँव जाऊँगा।"

रूपवती ने कहा—"मैं भी चलूँगी।"

"चलो।" सरदार ने साधारण भाव से कहा, और रुक गया।

लखनपाल ने भी तभी कहा—"मामाजी, मैं भी चलूँगा।"

सरदार ने उसकी ओर देखे बिना ही कहा—"अच्छी बात है, चलो।"

रूपवती चलने लगी, तो बोली—"बाबा अकेले रहेंगे ?"

बाबा ने हँसकर कहा—"तुम लोग जाओ, मुझे कोई कष्ट न होगा। संध्या-वंदन में भी लगना है अब मुझे।"

हँसकर रूपवती ने पूछा—"बाबा, यदि चंपा आई, तो ?"

बाबा भी हँस दिए—"जो प्रभु की इच्छा होगी, होगा।"

तीनो ने बाबा को प्रणाम किया, और कुटी से बाहर निकल गए।

रास्ते में सरदार ने भारी मन से कहा—"मैं जिस जगह जा रहा हूँ, वहाँ दो दिन से नहीं गया। तुम लोगों में ही ध्यान बँटा रहा। वहाँ जाने की सुधि ही न रही।"

रूपवती ने उत्सुकता से पूछा—"किसी के यहाँ जा रहे हो ?"

सरदार ने कहा—"हाँ, एक दुखी, असहाय वृद्धा के पास।" वह बोला—"उस वृद्धा को मेरी आवश्यकता है, और मुझे उसकी है। उसने मुझे बेटा कहा है, और मैंने उसे मा!" वह थोड़ा मुस्किरा दिया—"सुगमता से दोनो का अभाव पूरा हो गया।"

रूपवती खिलखिलाकर हँस दी—"तुम्हारा नाता तो सभी जगह चलता है। सभी से कोई-न-कोई स्नेह-बंधन हो ही जाता है।"

लखनपाल ने दूर हिमाच्छादित पर्वत पर अपनी ठिठुरती दृष्टि डालते हुए कहा—"यही ममता है—यही संसार! जीवन ऐसे ही चलता है।"

तीनो गाँव में प्रविष्ट हुए। संध्या हो चली थी। दिए जल चुके थे। छोटा-सा गाँव, और उसके छोटे-छोटे मकान! मानो विशाल जगत् का एक सूक्ष्म अंग हो। कुछ मकान खपरैलों के और कुछ फूस के यत्र-तत्र फैले थे। एक छोटे-से जीर्ण-शीर्ण मकान के सामने रुककर—सरदार ने पुकारा—"मा!" और दोनो मा-बेटे को साथ लिए उस घर के अंदर प्रविष्ट हो गया। एक अँधेरी कोठरी के द्वार पर उसने फिर पुकारा—"अरी मा!"

भीतर से एक क्षीण आवाज़ आई—"बेटा!"

सरदार अंदर चला गया। वृद्धा की चारपाई के पास पहुँचकर बोला—"अँधेरा क्यों कर रक्खा है?"

वृद्धा ने क्षीण स्वर में कहा—"अब तो मेरे जीवन में ही अँधेरा हो चला है।"

सरदार को जैसे यह सुनने की आशा न थी। वह अप्रतिभ होकर बोला—"अच्छा, अच्छा, दिया कहाँ है?...आग है?"

वृद्धा ने हाथ का इशारा कर आग का स्थान बता दिया। सरदार ने आग जलाई, और दिए की बाती को प्रकाश दिया। दीपक यथास्थान रखकर बोला—"अब बता, कैसी तबियत है? कुछ आराम है? तेरे बदन का दर्द····बुखार,····?"

वृद्धा ने एक ठंडी साँस भरकर कहा—"वही हाल है बेटा!"
तभी रूपवती और लखनपाल की ओर प्रश्न-सूचक दृष्टि से देखा और उसने

रूपवती ने पूछा—"मा, तुम्हें क्या रोग है ?"

उत्तर सरदार ने दिया—"इसे बुखार है, जोड़ों में दर्द है। शरीर थक चुका है। दिखता है, अंत-काल समीप आ गया है।

रूपवती ने कहा—"इलाज हो रहा है किसी का ?"

सरदार ने बताया—"हाँ, गाँव का वैद्य दवा दे देता है।" कहते हुए सरदार ने दीवार के आले से एक तेल की सीसी उठाई। तेल कटोरी में लेकर गरम किया, और वृद्धा के पास जाकर बोला—"मा, ला, तेल मल दूँ। मैं कल नहीं आ पाया, परसों भी......। ये मेहमान आ गए थे न।"

वृद्धा ने पूछा—"ये कौन हैं भैया ?"

सरदार ने परिचय दिया—"यह मेरी बहन है और यह भांजा।"

"अच्छा-अच्छा, बैठ बेटी ! चटाई खींच ले।" वह रूपवती से सस्नेह बोली—"यह तेरा भाई रोज़ ही मेरे पास आता है। दवा लाता और मुझे खिलाता-पिलाता है। मेरी बड़ी सेवा करता है। मेरे लिये तो देवता स्वर्ग से उतर आया है।"

सरदार ने कहा—"अच्छा, अब मुझे तेल मलने दे, तारीफ़ के पुल मत बाँध।" कहते हुए सरदार वृद्धा के घुटने पर तेल मलने लगा। कुछ समय बाद जब उसने कटोरी का सारा तेल बदन पर मल दिया, तो सिकाई करने लगा। इस प्रकार, लगभग एक घंटा वह वृद्धा की सेवा करने के उपरांत खड़ा हुआ। हाथ धोए, और वृद्धा से पूछा—"और दूध ? ग्वाला दूध लाया था ?"

बुढ़िया ने कहा—"हाँ, लाया था। वह रक्खा है।" कहते हुए उसने हाथ से इशारा किया।

सरदार ने लोटे में रक्खा दूध उठा लिया, और उसे गरम किया। बुढ़िया को दूध पिलाने के उपरांत उसने बड़े स्नेह से पूछा—"कोई और काम तो नहीं है ? मैं आज सांयकाल ज़रा जल्दी जाऊँगा, मा !"

बुढ़िया ने कहा—"हाँ, बेटा ! ठंड बढ़ रही है। अँधेरा भी बढ़ रहा है। रास्ते में हिंस्र पशु........"

सरदार ने हँसकर कहा—"जानवरों से मुझे डर कम लगता है। मैं अभी मरूँगा नहीं, तू निश्चिंत रह।"

वृद्धा को कोई उत्तर न सूझ पड़ा। उसने एक ठंडी साँस भरी, और आँखें कोठरी की छत की ओर उठा दीं।

सरदार ने रूपवती से कहा—"आओ, चलो, लौट चलें। बस, मुझे यहीं आना था। इतना ही काम था।"

उस समय लखनपाल किन्हीं विचारों में डूबा था। बात सुनकर वह चौंक पड़ा—"हाँ, चलो, चलें।" कहते हुए वह उठ खड़ा हुआ।

मकान से बाहर निकलकर सहसा सरदार ने कहा—"अभी एक जगह और काम बाक़ी है। वहाँ भी चलना है। अंधी अतरो........"

अपलक भाव में, उस अँधेरे में ही, पास चलते हुए सरदार को देखकर रूपवती ने पूछा—"यह अतरो कौन ? कोई लड़की है ?"

सरदार ने कहा—"हाँ, एक दुखी लड़की। कुमारी ! जन्मांध ! निराधार !"

आगे बढ़ते हुए सरदार ने कहा—"इस अतरो की भी एक दर्दनाक कहानी है। मँगनी हो चुकी थी, तभी गाँव में चेचक फैली। उसी में मा चली गई, बाप चला गया। दोनो ही विधाता को प्रिय हुए। बेचारी निरालंब हो गई।"

"राम-राम !" एकाएक पीड़ित स्वर में रूपवती बोली—"भगवान् जब आँख फेरता है, तो सभी ओर से फेर लेता है। दयावान् परमेश्वर भी कैसा कठोर बन जाता है।"

सरदार ने कहा—जहाँ दयावान् प्रभु की दया नहीं, उधर इंसान भी देखना पसंद नहीं करता। यही इस अतरो का हाल है। यही इस बुढ़िया का भी। कोई भी उनकी ओर आँख उठाकर नहीं देखता।" उसने लखन-पाल को लक्ष कर कहा—"यह वृद्धा जाति की शूद्र है। कंगाल है। कोई भी गाँववाला इसके पास नहीं फटकता लखनपाल ! इन गाँवों में भी, जहाँ

जीविका का कोई हेतु नहीं, सर्वत्र निर्धनता का ही साम्राज्य है, छूत-अछूत के झूठे आडंबरों का बोल बाला है।"

लखनपाल ने कहा—"मामाजी, यहाँ भी घोर अँधेरा है। अंधा क्या जीवन की सचाई देख सकता है? धर्म का यही स्वभाव है। वह नेत्र भी ले लेता है!"

उदास भाव में सरदार ने कहा—"सभी ओर अँधेरा है।" वह बोला—"जिस शिक्षा को लोग आज के युग की सौगात कहते है, उसने भी क्या हमें कुछ दिया है? हमारा पतन कर दिया हे। चरित्र छीन लिया है।" सरदार रुका, और एक मकान के अंदर उन दोनों को लेकर प्रविष्ट हो गया। जाते ही उसने पुकारा—"अतरो!"

अतरो ने कहा—"कौन? भैया! आ गए तुम, आओ।"

सरदार ने कहा—"मैं कल नहीं आ पाया।"

अतरो ने कहा—"मैंने सुन लिया है। मेहमान आए हैं।"

सहसा सरदार ने आश्चर्य से पूछा—"अरे! यह दिया किसने जलाया, तूने?" सरदार ने कहा—"दिखता है, अब तू ठीक है। मेरे आने की ज़रूरत नहीं है अब।"

अतरो ने कहा—"हाँ, अब तो ठीक हूँ। उठ-बैठ लेती हूँ।" वह आतुरता से बोली—"पर तुम तो, मैं चाहती हूँ, रोज़ आओ, भैया!"

सरदार हँस दिया—"तू मुझे देख पाती, तो कहती, यह आदमी नहीं, राक्षस है। सच, तू डर जाती। मुझसे दूर होना चाहती।

अतरो ने कहा—"भैया, सुनती हूँ, अंधा भी देखता है। वह शरीर का रूप नहीं देखता, तो उस शरीर की आत्मा अवश्य देखता है—उसकी पवित्रता और कोमलता के दर्शन करता है।" वह बोली—"भैया, यही मैं भी करती हूँ, मैं भी देख पाती हूँ कि तुम्हारी आत्मा कोमल है, महान् है।"

सरदार ने कहा—"तू तो बड़ी सयानी हो गई है।"

उसी समय रूपवती ने सरदार की ओर देखा, और कहा—"तो यह अतरो अकेली रहती है—निरालंब?"

सरदार ने धीरे से कहा—"हाँ ।"

"तो यह मेरे साथ क्यों न चली चले । गाँव में मेरे साथ रहे ।"

"यह शायद पसंद नहीं करेगी । अपने घर को कैसे छोड़ देगी ?"

चिंतित भाव में रूपवती बोली—"ऐसे किस प्रकार इसकी ज़िंदगी कटेगी ? अभी इसकी आयु ही क्या है, पूरी बीस वर्ष की भी तो न होगी । मैं कहीं विवाह करा दूँगी इसका । इतनी सुंदर और सुघड़ लड़की कहीं भी अपना जीवन सुख से काट देगी ।"

सरदार ने कोई उत्तर न दिया । उसने लखनपाल को लक्ष कर कहा—"देखा तुमने, यह है तुम्हारे देश का चित्र ! कितना नग्न—कितना भग्न !" वह बोला—"एक दिन मुझे यह अतरो खून से लथपथ गाँव के बाहर पड़ी मिली थी । बाहर से आए कुछ दुराचारियों ने इस बेचारी को भ्रष्ट कर दिया ।" उसके स्वर में कठोरता आ गई थी—"वासना-सिक्त समाज क्या कभी उठेगा! नहीं, यह देश अभी तो और अँधेरे गह्वर में गिरेगा ।" कुछ क्षण रुककर वह पुनः बोला—"तभी से यह अतरो डरी हुई है । इस विशाल संसार में इसे कहीं भी ठौर नहीं । निर्धन और नेत्र-हीन तो यह है ही, परंतु इसकी यह सुंदरता, रूपवान् चेहरे की बनावट, जो भी इसे देखता है, आकर्षित होता है । इसकी ओर झुकता है ।" वह साँस भरकर बोला—"लखनपाल बाबू, इस हिंदू-समाज में दुखी पुरुष और अबला नारी सदा से ही निराश्रित, पीड़ित और उजड़े हुए रहे हैं । यही कारण है कि विशाल देश आज भी पतित है, कुष्ठ रोगी है । यहाँ सद्‌भावना नहीं, प्रेम नहीं, चरित्र नहीं । देखते हो तुम, यहाँ कहीं भी मानवता नहीं ।"

मानो अपनी साँस के साथ बहुत-सी पीड़ा बहाकर लखनपाल बोला—मामाजी, लक्ष्मी-पूजन करनेवाली जाति से और आप किस वस्तु की कामना कर सकते हैं ? जो जाति पत्थरों का पूजन करे, कंकड़-पत्थरों पर जल चढ़ाए, चौराहों पर मस्तक झुकाए, वह मानव-देहधारी इंसानों का पूजन नहीं कर सकती । उसकी परम भावना तो पत्थरों ने छीन ली । उसकी आस्था परलोकस्थ और अपरोक्ष जीवधारी जीवन की ओर लग गई । इस समाज

का व्यक्ति तो अपना परलोक सुधारना चाहता है। वहीं की कल्पना करता है। स्वर्ग पहुँचना चाहता है। जन्म-मरण के पिंड से छूटना पसंद करता है।" उसने फिर साँस भरी— "तब तक भला, आप ही बताइए, ऐसा व्यक्ति किस प्रकार इस जीवन के प्रति—इस समाज के प्रति—न्याय करेगा? न, वह तो निरंतर ही यहाँ के समाज को ठगेगा। ऐसा व्यक्ति भगवान् को भी ठगेगा। वह क्षण-भर के लिये भी नहीं सोच सकेगा कि जीवन के प्रति न्याय क्या है, हत्या क्या है, जीवन का उद्धार क्या है।"

एकाएक अतरो ने पूछा—"यह कौन ?"

सरदार ने कहा—"यह मेरा भांजा है।"

अतरो ने तुरंत ही कहा—"तुम तो कहते थे, मेरे कोई नहीं इस जीवन में? ओह !"

सरदार हँस दिया—"हाँ, री ! यहाँ कौन किसका है ? वैसे सभी हैं। तू है।"

अतरो ने उदास स्वर में कहा—"मैं कौन ! मैं अंधी ! तीन मे, न तेरह में !"

सरदार ने कहा—"तू देखती है, खूब देखती है।"

तुरंत ही अतरो बोली—मैं देखती, तो पहचानती कि तुम लोग जो बात कहते हो, वह मन से कहते हो, या ऊपर से ही सीखी-पढ़ी कहते हो !"

इतना सुना, और सरदार के साथ लखनपाल तथा रूपवती भी हँस दिए।

रूपवती बोली—"अतरो समझदार है।"

अतरो ने पूछा—"यह .........?"

"मेरी बहन !" सरदार ने कहा।

एकाएक उत्साहित भाव में अतरो बोली—"ओह !" उसने हाथ जोड़े—"नमस्ते !"

रूपवती ने कहा—"नमस्ते! " और उसने पूछा—"अरी अतरो, तू हमारे साथ चलेगी ? यहाँ से दूर जायगी ?"

अतरो ने कहा—"मैं कौन? भगवान् जहाँ चाहेगा, ले जायगा।" पुन:बोली—

"जिस प्रकार भगवान् ने तुम्हारे भैया को मेरे पास भेज दिया, इन्होंने मुझ मरती हुई को जीवन दिया, उसी प्रकार अब मुझे अपने पर नहीं, दूसरों पर भरोसा करना पड़ेगा।"

सरदार ने खड़े होकर कहा—"अच्छा अतरो, अब हम जायँगे। रात हो गई, ठंड भी बढ़ गई है।"

उदास भाव में अतरो बोली—"इच्छा तुम्हारी।"

तीनो चले, तो अतरो ने फिर हाथ जोड़कर नमस्ते की, और कहा—"कल आना। इन्हें भी लाना।"

रूपवती ने कहा—"मै ज़रूर आऊँगी, तुझसे बातें करूँगी।"

---

# तीस

जो सरदार सदा लूट-मार और हिंसा में संलग्न रहा, उसी को मानव-सेवा के कर्म-क्षेत्र में निरत—जिंदगी की एक नई और अभूतपूर्व धारा में प्रवाहित—देख रूपवती का मानस खिल उठा। उसने सरदार को अपना भाई ही नहीं, वरन् अपने जीवन-पथ का निर्देशक और बौद्धिक तथा यौगिक गुरु भी मान लिया था।

रात गए जब वह गाँव से लौटकर कुटिया में आई, उसके मन:-स्थल में आनंद की हिलोरें उठ रही थीं। बार-बार उसके मन में आता कि वह सरदार के चरणों पर गिर जाय, उसके चरणों पर अपना सिर रखकर कहे—"हे महामानव! तुम धन्य हो, तुम्हारा जीवन धन्य है।"

मन में सरदार के प्रति अपार श्रद्धा लिए रूपवती अपनी शय्या पर पड़ी थी। लखनपाल भी एक ओर सो रहा था। बाबा गीता-पाठ में निमग्न थे। उसी समय रूपवती ने देखा, एकाएक सरदार अपने बिस्तर से उठकर बाहर की ओर चल दिया।

सरदार कुटिया के बाहर आकर खड़ा हो गया। ठंड बहुत पड़ रही थी। चारो ओर चाँदनी छिटकी हुई थी। उस चाँदनी में वन की शोभा अपूर्व लग रही थी। चारो ओर निस्तब्धता छाई थी, मानो आकाश और पृथ्वी में चुपचाप आँख-मिचौनी हो रही हो। रूपवती ने सरदार को कुटिया के बाहर एकांत-भाव से खड़े देखा। उसे जिज्ञासा हुई कि वस्तुत: इस मानव के अंतर में क्या है? हिंसा? किंतु नहीं। यह सरदार अब निश्चय ही हिंसक नहीं रहा—क्रूर भी नहीं। इसके जीवन के कण-कण में मानव के उद्धार और कल्याण की भावना ही सन्निहित है। यह तो मानव के रौरव में—उसी के कठोर निनाद में—आत्मसात् हो गया है। इसका अपना क्या शेष है? उसकी अपनी कौन सी आकांक्षा है?

रूपवती उठकर बैठ गई। लखनपाल खुर्राटे भर रहा था। बाबा के

हाथों की गीता एक ओर ढुलक गई थी। उनकी आँखें बंद थीं। शायद सो गए थे बैठे-ही-बैठे। रूपवती अपने बिस्तर से उठ खड़ी हुई। वह कुटिया से बाहर आई, और सरदार के पास आकर उसने धीरे से पुकारा—"भैया !"

चौंककर सरदार ने मुँह फेर लिया, किंतु रूपवती की दृष्टि से सरदार के अश्रु-पूर्ण नेत्र छिपे न रह सके। वह अत्यंत आकुल स्वर में बोली—"तुम रो रहे हो, भैया ?"

सरदार ने अश्रु-पूर्ण दृष्टि रूपवती के मुँह पर गड़ाते हुए कहा—"हाँ बहन, मैं रोता हूँ—अक्सर रोया करता हूँ। मैं इस संसार में शायद रोना ही लेकर आया हूँ।"

"पर भैया, तुम्हीं ने एक बार कहा था, जीवन रोने के लिये नहीं, हँसने के लिये है; फिर तुम क्यों........क्यों भैया ?"

"तुम ठीक कहती हो रूपवती ! जीवन रोने के लिये नहीं है, यह मैं आज भी मानता हूँ—स्वीकार करता हूँ। इस जीवन-सागर में विविध प्रकार की तरंगें उठती हैं; उनसे खेलना, उन्हीं में आनंद का अनुभव करना हमारा कर्तव्य है।" सरदार ने मुस्किराने का असफल प्रयत्न करते हुए कहा।

"पर ......" रूपवती का कंठ अवरुद्ध हो गया।

"बहन, मैं इसलिये नहीं रोता कि मुझे कोई कष्ट है, कोई अभाव है। मैं तो अपनी सभी इच्छाओं का दमन कर चुका हूँ। रूपवती, मैं केवल इसलिये दुखी हूँ—इस कारण रोता हूँ कि इस मानव-जगत् में कर्मयोग के नाम पर, प्रारब्ध की दुहाई देकर, जो लूट मची है, उसे रोकने का मुझे कोई उपाय नहीं सूझ रहा। इस विश्व का तीन-चौथाई मानव आज जीवन से तंग आ चुका है। वह इस जीवन से मुक्ति चाहता है—मरना चाहता है। भला क्यों ?........ क्यों ?" कहते हुए सरदार ने अपना कठोर हाथ रूपवती के कंधे पर रक्खा, और पुन: बोला—"तेरा लखनपाल ठीक ही कहता है कि सरमाएदारी ने भ्रूण-हत्याओं का ढेर लगा दिया है। मानव की सिसक, पीड़ा और चीत्कार सब वैभव-पूर्ण सरमाएदारी के अट्टहास में खो गए। आज तूने देखी थी वह बुढ़िया और वह लड़की अतरो ? सरमाएदार समाज की कृपा से ही उनका

यह हाल हुआ है, किंतु कितना दुर्भाग्य है कि निर्धन मज़दूर-समाज भी अपने साथियों का अपमान करता है, वह भी असहायों के पेट पर लात मारता है। कैसी विडंबना है, एक दुखी ही दुखी को ठगता है।" कहते हुए सरदार ने रूपवती के कंधे पर से हाथ हटा लिया, और व्यंग्य से हँसते हुए धीमे स्वर में बोला—"दिखता है, मनुष्य के पारंपरिक संस्कार मिट गए। वह और भी अधिक स्वार्थी बन गया—आज वह पशुओं की कोटि में आ गया है। इसी कारण तो लूटा-खसोटी, छीना-झपटी का ताँता बँध गया है। आज का मनुष्य पामर और हृदय-हीन हो गया है।"

"किंतु भैया ! इसका निदान क्या है ?"

"यह मैं भी नहीं जानता। समस्या जटिल है—घिनौनी, क्रूर।"

"किंतु इस समस्या का समाधान असंभव तो नहीं। केवल लगन की आवश्यकता है, उत्साही, कर्मठ कार्यकर्ताओं की आवश्यकता है, और इस सबके साथ आवश्यकता है राज्य-सत्ता के सक्रिय सहयोग की।"

सुनते ही सरदार के हाथों की मुट्ठियाँ बँध गईं। वह सरोष बोला—"राज्य-सत्ता अपना कर्तव्य कभी न पहचानेगी। वह धनिकों के हाथ की कठ-पुतली-मात्र है।"

"तो राज्य धनिकों के हाथों चलेगा ?"

"निश्चय ही। यही तो होगा, और हो ही रहा है।"

"तो यह प्रजातंत्र, जनता का राज्य...............क्या यह सब बहाना है, ढोंग है ?"

सरदार ने अपने ओठ चबाए—"हाँ।"

"लखनपाल कहता था, यह सब अब नहीं होगा। सरमाएदारी का शीघ्र ही अंत होगा। राज्य जनता का होगा। यदि ऐसा न हुआ, जनता का अधि-कार उसे न मिला, तो ख़ून बहेगा, देश में आतंक छा जायगा।"

खिन्न होकर चिंतित भाव से सरदार बोला—"यदि ऐसा हुआ, संहार-चक्र चला, तो निर्धन और मध्यम वर्ग का ही अधिक सफ़ाया होगा। पुलिस और सेना की शक्ति से भला कैसे लोहा लिया जायगा ? जो कहते हैं, वह

करते नहीं। मरनेवाले मरते नहीं। निरीह और अपंग जनता ही उस विद्रोह की आग में झोंक दी जायगी। समस्या का निपटारा इस प्रकार न होगा। आवश्यकता है, हृदय-परिवर्तन की। क्या हृदय-परिवर्तन हिंसा से संभव है ?"

रूपवती को लगा कि वास्तव में सरदार की बात में तथ्य है। वह समस्या की गहराई में डूब गई।

सहसा सरदार ने कहा--"बाबा ने आज मुझसे कहा है, मैं पुनः कार्य-क्षेत्र में उतरूँ, पर सोचता हूँ, मैं क्या करूँ, कैसे करूँ ? मैं जन्म-भर डाकू बना रहा। उद्देश्य भले ही अच्छा रहा हो, किंतु समाज की दृष्टि में निश्चय ही मेरा अपराध अक्षम्य है। पुलिस आज भी मेरी खोज में है। वह मुझे बंदी करना चाहती है। कभी-कभी मेरी इच्छा होती है कि अपने को पुलिस के हवाले कर दूँ, पर संभवतः जीवन से मोह मुझे भी हो गया है। मैं अभी कुछ दिन और जीवित रहना चाहता हूँ।"

रूपवती ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह एकाएक सरदार की ओर देखने लगी।

तभी सरदार ने पूछा—"तुम कल जा रही हो ?"

रूपवती ने कहा--"हाँ, मुझे जल्दी पहुँचना है। गाँव में चुनाव-कार्य आरंभ हो गए हैं। विक्रम ने कई लाख रुपए इस कार्य में होम देने का निश्चय किया है।"

सरदार ने उपेक्षा के भाव से कहा--"वह मूर्ख है। जीवन-भर हर वस्तु का मोल पैसे से ही करता रहा है। वह सदा दूसरों को छलता रहा है, परंतु मेरा मत है, वह स्वयं ही सदैव छला गया है। उसका पतन मुझे निकट दीखता है।"

"परंतु अब मेरा क्या कर्तव्य होगा भैया ?"

"इसका निश्चय तुम्हारे हाथ है। तुम्हारा पग बढ़ चुका है, और पथ विस्तृत हो गया है।"

"भैया ! इसका श्रेय तुम्हीं को है। मेरे अंतर् की आत्मा इसे सदा स्वीकार करती है। लेकिन, मुझे अब अपनी नहीं, लखनपाल की चिंता है। तुमसे

यह भी पूछना था कि उसके भविष्य का कार्य- म अब क्या हो ? क्या विवाह''' गृहस्थ....?''

उद्विग्न होकर सरदार बोला—''मा होने के नाते तुम अवश्यलखनपाल के विवाह की बात सोचोगी ; पर मेरा मत है, अभी उसका विवाह मत करो। लखनपाल को ऐसे ही चलने दो। उसमें प्रतिभा है, लगन है, नए युग की चेतना है। उसे बंधन में बाँधकर उसके मार्ग में अवरोध मत पैदा करो।''

''लखनपाल उग्र स्वभाव का है। मुझे भय है कि........''

''यह तो स्वाभाविक है। वह युवक है। अन्याय के विरुद्ध शांत भला वह कैसे रह सकता है ? उसको यही शोभता है।'' सरदार ने हँसकर कहा।

एकाएक रूपवती ने अपने अंतर् की शंका का समाधान करने के हेतु सह-मते हुए पूछा—''और तुम्हारा वह दल......वह सशस्त्र क्रांति ?''

सुनकर सरदार एकाएक गंभीर हो गया। उसे लगा कि इस प्रश्न ने उसके अंतर् का घाव कुरेद दिया है। सहसा कोई उत्तर वह न दे सका। उसे मौन देखकर रूपवती बोली—''क्षमा करना भैया ! तुमने मुझे कुछ न बताया, परंतु मैं यह अनुमान अवश्य लगा सकी हूँ कि तुम्हारे अंतस्तल में कोई बात अवश्य है। किसी नई योजना के प्रकाश से तुम्हारी आत्मा आलोकित हो रही है।''

सरदार शांत-सरल स्वर में बोला—''मैं अभी अपनी साधना में रत हूँ। अभी कुछ मास और यहीं रहना चाहता हूँ।''

कातर स्वर में रूपवती ने कहा—''किंतु भैया, मुझे तुम्हारी सहायता की आवश्यकता है, लखनपाल तुम्हारे निर्देश की प्रतीक्षा में बैठा है, और बाबा की आँखें भी तुम्हारी ओर लगी हुई हैं।''

सरदार आवेश में बोला—''अब तुम निर्बल नहीं हो। अपने मार्ग पर, जिस पर चलकर तुम इतना आगे बढ़ आई हो, सजग और निर्भय रहकर बढ़ती जाओ। कर्तव्य पर दृढ़ रहो, कोई तुम्हारा कुछ न बिगाड़ सकेगा। समाज के दुखी, पीड़ित इंसानों की वाणी सुनो, और उसमें अपने को मिला दो।

रूपवती, यही अवसर है, अपना जीवन सफल कर लो। बहन बनकर, मा बनकर पीड़ित जनता की सेवा में अपने को होम दो।"

सहसा रूपवती ने सरदार के चरण पकड़ लिए, और अत्यंत आह्लाद-पूर्ण स्वर में बोली—"भैया, मैं प्रस्तुत हूँ। मैं प्रत्येक कठिनाई का सामना करूँगी, और अपने जीवन को दुखियों और निस्सहायों की झोली में डाल दूँगी।"

सरदार का हृदय भर आया। उसने रूपवती को सस्नेह उठाया, और उसके दोनों कंधों को पकड़ते हुए बोला—"यह क्या करती हो बहन! मैं इस योग्य नहीं। तुम्हारा यह भैया तो नितांत अमानवीय है—घृणित, हत्यारा। जाओ, और निर्भय होकर अपने कर्म-क्षेत्र में कूद पड़ो।"

वह पुनः बोला—"मेरे नए कार्य के लिये यही स्थान उपयुक्त है। यहीं, पर्वत की तलहटी में, मैंने एक कंदरा खोज ली है। पिछले दिनों कुछ युवकों की एक टोली आई थी। उसमें कुछ मेरे पुराने साथी भी थे। वे सभी शस्त्र-विद्या-निपुण, देश-सेवा का व्रत लिए, यहाँ तक आ पहुँचे थे। लगभग पंद्रह दिन वे सब यहीं रहे।"

रूपवती ने आश्चर्य से पूछा—"तो तुम्हारा कार्य आरंभ हो गया?"

"हाँ, इस चुनाव-युद्ध में मेरे साथी सदा तुम्हारे साथ रहेंगे। जनता में न आएँगे, परंतु तुम्हारी सहायता के लिये सदा तत्पर रहेंगे। विक्रम तुम्हारा बाल भी बाँका न कर सकेगा।"

"मुझे उसकी चिंता नहीं। मुझे अब गाँव में रहना है। गाँव को ही अपना कार्य-क्षेत्र बनाना है। यह मेरा अटल निश्चय है।"

"हाँ, तुम्हारी वहीं आवश्यकता है।"

उसी समय बाबा ने पुकारा, और रूपवती के साथ सरदार कुटिया के अंदर चला गया। जब वह वहाँ पहुँचा, तो बर्फ़ के समान उसका बदन ठंडा हो रहा था। रूपवती भी काँप रही थी। उन दोनों को देखते ही बाबा ने कहा—"सरदार, तुम्हारा आज भी यह मत है कि शस्त्र-बल से ही देश का कल्याण हो सकता है, क्यों?"

सरदार अपने बिस्तर पर बैठता हुआ बोला—"भय बिन प्रीति न

होई।' शस्त्र-प्रयोग द्वारा हत्या मेरा उद्देश्य नहीं। उद्देश्य है केवल समाज के शत्रुओं को भयभीत करना।''

बाबा ने व्यंग्य से कहा—''यह तो मै जानता हूँ। तुम्हारे यहाँ रहने का अर्थ भी समझता हूँ।''

सरदार ने दृढ़ता-पूर्वक कहा—''कोई भी कार्य हो, यदि हेतु साफ़ है, आत्मबल प्रखर है, तो सफलता निश्चित है।''

बाबा ने भारी मन से कहा—''सशस्त्र क्रांति प्रायः निर्जीव एवं अस्थायी रहती है।''

''जिस क्रांति की अभी भूमिका भी निर्मित नहीं हुई, उस पर यह वाद-विवाद क्यों ?''

बाबा ने बाहर छिटकी चाँदनी की ओर देखते हुए कहा—''तुम जिस आत्मचिंतन और आत्मबल के संचय में लगे हो, परमात्मा तुम्हें सहायता दे, किंतु यह न भूलना कि देश को तुम्हारी आवश्यकता है, तुम्हारी हिंसात्मक क्रांति को नहीं।''

''बाबा, यही तो मेरा संकल्प है—मेरे जीवन की पूजा है।''

सुनकर बाबा का रोम-रोम पुलकित हो उठा। उन्होंने मन-ही-मन मुग्ध भाव से सरदार को आशीर्वाद दिया।

---

# इकतीस

[illegible] अथवा दैव-इच्छा से ही लक्ष्मी और जमींदार की पुत्री विमला दिन-दिन एक दूसरे के निकट आती जा रही थीं। विमला प्रायः गाँव में ही रहने लगी, और जब-तब लक्ष्मी के घर जा बैठती। कभी-कभी लक्ष्मी को संदेह होता, यह जमींदार की पुत्री अपने किसी लक्ष्य की पूर्ति के लिये ही उसके यहाँ आती है, परंतु विमला के किसी भी आचरण से लक्ष्मी अपने इस संदेह की पुष्टि न कर सकी। एक दिन भी वह न समझ सकी कि इसमें उसका क्या स्वार्थ है---क्या कामना है। यद्यपि वास्तविकता यही थी।

विमला लखनपाल को अपनी अपेक्षा लक्ष्मी के अधिक निकट मानती थी। बरबस ही उस यौवनमयी भावुक विमला ने लक्ष्मी के निकट रहकर अपने लखनपाल का सामीप्य पाने का प्रयत्न कर रही थी। विमला का जीवन वैभव में पला था। अधिकार पाना और अधिकार स्थापित करना ही उसके जीवन का उद्देश्य रहा, किंतु इसके विपरीत लक्ष्मी के समक्ष अधिकार का प्रश्न नहीं था। उसके मन में त्याग की भावना थी, जीवन का भोग उसके लिये गौण था। और, जब विमला उससे यह सुन पाती कि यह सब उसने लखनपाल से सीखा है, तो वह दंभी कुमारी अपने कौमार्य का बोझिल भार उठाए मानो अपने आप में ही क्षत-विक्षत हो उठती। उसकी आकांक्षाएँ मर-सी जातीं। बरबस अंतर् की वेदना उभर आती---चीत्कार कर उठती। वह सोचती, मुझे लखन-पाल नहीं मिलेगा। वह इस लक्ष्मी के पास से नहीं डिगेगा। विमला का अंतर् एक कोलाहल से भर जाता। उसे लगता कि सचमुच गाँव की उस फूहड़ और अपढ़ लक्ष्मी ने उसका सम्मान चूर-चूर कर दिया है---उसका अपमान किया है। और, आश्चर्य की बात तो यह थी कि विमला ने अनेक बार प्रयत्न करके भी लक्ष्मी के मुख से यह कभी न सुना कि वह लखनपाल से प्रेम करती है---ऐसा प्रेम, जिसमें वासना हो, अनुरक्ति हो, कामना हो। लक्ष्मी ने सदा यही

कहा कि हम दोनों अकस्मात् ही एक दूसरे से स्वार्थ-वश परिचित नहीं हुए हैं। हमारे जीवन के इस सोपान में एक लक्ष्य निहित है—एक सरल और सुबोध भावना है। हमने एक दूसरे के स्वर सुने हैं। उन स्वरों की कोमलता, लय और गत का अनुभव किया है। लक्ष्मी ने बताया—"लखना और मैं बचपन से एक दूसरे को जानते-समझते हैं। हमारे इस जीवन के संस्कार निश्चय ही पूर्व-जन्म से बने हैं। पिछले जन्म की प्रेरणा और साधना का फल हमें इस जीवन मिला है—हमने एक दूसरे को पाया है।"

हरे-भरे खेत की मेड़ पर बैठकर जब एक दिन ये बातें चल रही थीं, विमला ने कहा था—"तो लक्ष्मी बहन, तुम भी एकाकी हो, अकेली हो। यह कैसा दुर्भाग्य है कि जीवन की इस सुहावनी बेला में तुम वैधव्य का दुख झेल रही हो।"

सुनकर लक्ष्मी की आँखें भर आईं। रुँधे कंठ से उसने कहा—"बहन, यह जीवन एक खेल है, जिसमें खिलाड़ी कभी हारता, कभी जीतता है। सोचती हूँ, इस जीवन के खेल में मुझे हारना ही था। मेरे प्रारब्ध में इसी तरह एकाकी जीवन बिताना ही लिखा था।"

विमला तुनककर बोली—"मैं यह नहीं मानती। यह तो घिसी-पिटी परंपरा है। तुम्हारे मन में उसी सड़ी हुई भावना का अवशेष है।"

सुनकर लक्ष्मी मुस्किराई—"नारी ने सदा ही यह बोझ ढोया है। भारतीय नारी की यही परंपरा रही है। वह सदा अपने कर्तव्य पर दृढ़ रही है। इसी में उसकी महत्ता है।"

कड़ुवे भाव से मुस्किराकर विमला बोली—"हाँ, सुनती हूँ कि भारतीय नारी का यही धर्म है—यही परंपरा रही है।" कहते हुए विमला के स्वर में क्षोभ आ गया। पीड़ित स्वर में वह बोली—"लक्ष्मी बहन! तुम तो पुरानी सदियों की बातें करती हो। क्या तुम भी भारतीय नारी की उसी रूढ़िगत परंपरा के समक्ष अपना सिर झुकाती हो? स्वार्थी पति ने जिस नारी का सर्वस्व छीनकर उसे ठुकरा दिया, उसी नारी ने

सदा उसकी ठोकर को चूमने का प्रयत्न किया। क्या यह न्याय है? जिस देश की तुम रहनेवाली हो, वहाँ नारी का जितना अपमान हुआ है, कदाचित् इस भू-खंड पर कहीं नहीं हुआ। धर्म और समाज की मर्यादा की आड़ में पुरुष ने सदा-सर्वदा नारी का शोषण किया है, उसके नारीत्व का अपहरण किया है इस नर-राक्षस ने!"

विमला की क्रोध-पूर्ण वाणी सुनकर लक्ष्मी मुस्किराई—"बहन, तुम क्रोध में हो—प्रतिक्रिया की भावना लिए हो। तुम पुरुष-समाज की जिस बर्बरता की बात लेती हो, उसके विषय में लखनपाल ने मुझे कई बार बताया है कि भारत ही में क्यों, समस्त भू-खंड में नारी के साथ पुरुष ने ऐसा ही बलात्कार और अत्याचार का क्रूर तांडव किया है। नारी-जीवन कहीं भी सुरक्षित नहीं रहा है। इसको सब जगह झिकझोरा गया है, जलाया गया है। नारी का जीवन तुम्हारे देश में ही क्यों, सर्वत्र अँधेरे में रक्खा गया है।"

चिढ़कर विमला ने कहा—"ऐसा ही सही, पर मैं पूछती हूं, फिर भी नारी उस पुरुष का पूजन करे—उसे देवता समझे?'

लक्ष्मी मुस्किरा दी—"हाँ, यही तो नारी की महत्ता है। वह इसीलिये देवी है, मा है!"

"मेरी दृष्टि में यह जड़ता है, मूर्खता है।" विमला ने आवेश में कहा।

सुनते ही लक्ष्मी की आँखें फैल गई। "ओह! तुम कितनी कठोर हो! वास्तविकता से दूर! बहन, नारी के इसी त्याग ने संसार को जीवन दिया है, क्या यह नहीं मानोगी? मैं कहती हूं, मदांध पुरुष फिर भी नारी का महत्त्व सदा से मानता आया है—उसे स्वीकार करता है। वह समझता है, नारी के बिना उसका जीवन अधूरा है, व्यर्थ है। क्या इस बात का तुम्हारी दृष्टि में कुछ भी मूल्य नहीं?"

विमला ने शांत स्वर में कहा—"इसमें भी पुरुष का स्वार्थ है। वह केवल वासना की पूर्ति चाहता है।"

"हे परमात्मा!" एकाएक पीड़ित स्वर में लक्ष्मी बोली—"तुम सचमुच अति कठोर हो। तुम वास्तविकता को समझने के लिये चेष्टित नहीं। नारी

ने अपना सर्वस्व देकर ही एक अधिकार पाया है—बहन का अधिकार, पत्नी का अधिकार, मा का अधिकार। मा बनने के लिये ही नारी ने अपना सब कुछ दे डाला है। उसने अपने पेट से जहाँ दानव पैदा किए, देवताओं का निर्माण भी उसी के द्वारा हुआ है। बताओ, यह गौरव क्या पुरुष को मिल सका ?"

विमला उपेक्षा-पूर्वक कर्कश भाव से हँस पड़ी—"भोली बहन, मा बनकर ही नारी ने धोखा खाया है—अपना जीवन नष्ट किया है। इस दुनिया में अनेक पुत्रों ने नारी—अपनी तथाकथित माताओं—का सौदा किया है, लक्ष्मी ! वास्तविकता देख, औरत कुतिया है। सोरी के समान बच्चे पैदा करना इसने अपना लक्ष्य बना लिया है। संडास में पड़ा हुआ कीड़ा जिस प्रकार आनंद का अनुभव करता है, उसी तरह इस नारी ने, इस घृणित परिस्थिति में अपने को डालकर, झूठे दर्प का अनुभव किया है। यही उसके जीवन की महत्ता है—गौरव है ? मैं कहती हूँ, यह मूर्खता है, कायरता है, अंधी भावना है।"

लक्ष्मी की आँखें उस समय खेत पर लगी थीं। खेत के चित्ताकर्षक, हरे-भरे, लहलहाते अनाज के पौधों को देखकर उसके मानस में सहसा एक विचार उठा, वह उत्साहित होकर बोली—"तुम पृथ्वी मा की ओर देखो। अपनी छाती पर भारी आघात सहकर भी हमें अन्न प्रदान करती है, और आनंद का अनुभव करती है।"

विमला ने कहा—"देखती हूँ, और यह भी अनुभव करती हूँ कि जिस प्रकार पुरुष ने अपनी जननी—नारी का दुरुपयोग किया है, उसी तरह माता वसुंधरा की कोख का भी सदुपयोग नहीं किया। माता वसुंधरा अपने पुत्रों को अनाज के रूप में जीवन के कण प्रदान करती है—अपने सभी पुत्रों को इन्हें पाने का निमंत्रण देती है, परंतु तुम देखती हो, इन्हें सब नहीं पाते। सभी पुत्र इस पृथ्वी माता पर अधिकार नहीं रखते। सभी अनाज को अपना नहीं कह सकते। यह केवल पैसेवाले पुत्रों की ही संपत्ति है।"

एकाएक हर्ष और आश्चर्य से लक्ष्मी बोली—"विमला, यह तुम कह रही हो, तुम !"

"हाँ बहन, मैं। ज़मींदार की पुत्री होने के कारण मैं शर्मिंदा हूँ। धनी पिता ने मा वसुंधरा के निर्धन पुत्रों पर जो-जो ज़ुल्म किए हैं, उन्हें याद करके सिसकती हूँ।"

"बलवान् सदैव विजयी रहे हैं। इसके लिये दुख क्यों?"

विमला ने अपने स्वर पर ज़ोर देकर कहा—"वे डाकू हैं, लुटेरे हैं—मदांध भेड़िए!"

लक्ष्मी रूक्ष भाव से हँस दी। कुछ बोली नहीं।

तदंतर लक्ष्मी ने कहा—"यह बताओ, तुम्हारा विवाह........"

बीच में ही बात रोककर विमला बोली—"मेरा विवाह!" अपने सूखे ओठों पर जीभ फेरकर पुनः बोली—"मेरा विवाह शायद कभी नहीं होगा। इस जीवन में तो नहीं।"

लक्ष्मी ने विमला के कंधे पर स्नेह से हाथ रक्खा, और बोली—"वाह, क्यों नहीं होगा? तेरे लिये तो कोई राजा आएगा ख़ूब सज-धजकर। साथ में जाने कितनी बड़ी बारात लाएगा। मेरी विमला तो किसी राजमहल की रानी बनेगी।"

"राजमहलों की हक़ीक़त मैं ख़ूब जानती हूँ। कितने ही राजाओं को देख चुकी हूँ। मैं समझती हूँ कि उनकी रानियाँ किस प्रकार फूलों की सेजों पर आग के अंगारों का अनुभव करती हैं। वे जीवन-भर जलती हैं। एक चलती-फिरती लाश के अतिरिक्त उनका कोई महत्त्व नहीं।" आवेश में विमला बोली—"जहाँ वैभव है, वहीं मद है, प्रमाद है, वासना है।"

ईर्ष्या:भाव में विमला पुनः बोली—"जनता का पैसा वे अपने भोग में ख़र्च करते हैं, और जीवन-भर वासना में डूबे रहते हैं। एक राजा कई-कई रानियों का पति बनता है। समाज की अनेक अबला नारियों का जीवन नष्ट करता है।"

लक्ष्मी ने कहा—"फिर भी तुम्हें कहीं तो जाना होगा। इस जीवन में किसी-न-किसी पुरुष के संबल की आवश्यकता तो तुम्हें पड़ेगी ही।"

विमला ने कहा—"मानती हूँ। यही तो एक समस्या है। मेरी ही नहीं, संपूर्ण नारी-जाति की समस्या है।"

"हाँ बहन, ऐसी ही परंपरा है।"

"समाज की अन्य परंपराओं के साथ एक दिन इसका भी अंत हो जाना है।"

लक्ष्मी अवाक् रह गई। "इसका भी अंत !" वह बोली—"तो फिर समाज की व्यवस्था का क्या रूप रहेगा ? यह विश्व की धुरी किस धरातल पर टिकेगी ? क्या नर-नारी का यह शाश्वत, नैसर्गिक संबंध समाप्त हो सकेगा ?"

विमला रुक्ष भाव से हँस पड़ी—"तुम जिसे शाश्वत और नैसर्गिक संबंध कहती हो, वह कोरा कलंक रह गया—शाप बन गया है।"

"इतना मानकर भी मैं यह स्वीकार नहीं करूँगी कि इस नर-नारी के लिये जीवन की इस रीति को छोड़ और कोई व्यवस्था भी है। समाज का यही शाश्वत विधान है। हाँ, पुरुष और नारी के संबंध अच्छे बनें, इसके लिये अवश्य प्रयत्न करना चाहिए।"

विमला ने निराश स्वर में कहा—"देख, क्या होता है। अभी तो संघर्ष चल रहा है—नारी का जीवन जल रहा है, सड़ रहा है।"

"निरुत्साहित होने की आवश्यकता नहीं। आशावादी बनो बहन ! हमारा भविष्य उज्ज्वल है। हमें उठना है, आगे बढ़ना है। आओ, चलें। अँधेरा हो चला है। मुझे घर पहुँचना है।"

---

# बत्तीस

विक्रम का परिवार पुश्तों से ज़मींदारी का उपभोग करता आया था, अतएव उस परिवार के प्रत्येक व्यक्ति में, यहाँ तक कि नौकरों-चाकरों में भी, अहं-भाव का झूठा और थोथा दंभ कूट-कूटकर भरा हुआ था; परंतु समूचे देश के साथ उस छोटे-से गाँव का समाज भी अब तेज़ी के साथ आगे बढ़ रहा था, और अपने में एक नई चेतना का अनुभव कर रहा था।

ज़मींदार विक्रम अपने सम्मान को मिटता हुआ स्पष्ट देख रहा था। वह देख रहा था कि किसान—उसकी रिआया—अब उसका प्रभुत्व स्वीकार नहीं करती। गाँववाले अब उसका अस्तित्व नहीं मानते। कदाचित् यही कारण था कि विक्रम स्वतः ही अपने आप पर झुँझला उठता था। ज्यों-ज्यों उसकी आयु बढ़ती जाती थी, उसका मिज़ाज चिड़चिड़ा होता जा रहा था। यद्यपि जहाँ तक आर्थिक स्थिति का संबंध था, विक्रम काफ़ी सुदृढ़ और आगे बढ़ चुका था। उसका पुत्र भी योग्य व्यवसायी था। वह अन्य ज़मींदार-पुत्रों के समान व्यसनी और ख़र्चीला न था। मिल के मुनाफ़े में प्रतिवर्ष वृद्धि हो रही थी।

किंतु, ज़मींदार विक्रम के लिये यह संतोष का विषय कदापि नहीं था। वह खिलाड़ी था। जीवन में जय-पराजय देखता आया था। शासन करना ही उसका स्वभाव था। रिआया से अपने प्रति 'जी सरकार' और 'जी हुज़ूर' सुनना उसका अभीष्ट था, परंतु आज कोई इस प्रकार उसको संबोधित नहीं करता, उसके सामने आकर पहले-जैसी चाटुकारी न करता था। पहले ज़मींदार के यहाँ किसानों द्वारा प्रत्येक फ़सल पर गाँव में पैदा होनेवाली सभी वस्तुएँ सौग़ात के रूप में प्रचुर मात्रा में पहुँचतीं, किंतु अब किसानों ने उस चिर-परंपरा को बंद कर दिया था। उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि ज़मींदार से उनका नौकर-मालिक का संबंध

नहीं, बल्कि इंसान से इंसान का संबंध है। यह सब देख ज़मींदार खीझ उठता था।

चुनाव-कार्य आरंभ हो चुके थे। विक्रम के आदमी चारो ओर फैल गए थे। वे प्राण-पण से इस बात का प्रयत्न कर रहे थे कि ज़मींदार को बहुमत प्राप्त हो, ज़मींदार विजयी हो। फल-स्वरूप विक्रम की ओर से मुक्त-हस्त पैसा बाँटा जाने लगा। किंतु विक्रम देख रहा था—अनुभव कर रहा था कि जैसे उसके जीवन को दबी हुई समूची सड़ाँध एकबारगी फूट निकली है। उसके विरोध में जो सभाएँ होती, उनमें उसका हर प्रकार का प्रतिरोध किया जाता, उसके समस्त काले कारनामे जनता के समक्ष खोल-कर रक्खे जाते। जनता को यह भी ज्ञात हुआ कि ज़मींदार विक्रम ने ही रूपवती के पति का ख़ून कराया। रूपवती को भी डाकुओं द्वारा मरवा देने का प्रयत्न किया। डाकू-सरदार को इसी कार्य के हेतु उसने पाँच हज़ार रुपए दिए। जनता ने यह भी सुना कि विक्रम के आदमियों ने ही कांग्रेस में रूपवती का डेरा जला डाला था, उसने बार-बार उसकी हत्या करने का प्रयत्न किया। इन दारुण और हृदय-द्रावक घटनाओं को सुनकर ज़मींदार विक्रम के विरोधी बढ़ रहे थे। विक्रम रुपया पानी की तरह बहा रहा था, किंतु उसका यह रुपया उसके पापों पर पर्दा न डाल पा रहा था।

आत्माभिमानी ज़मींदार का पग उठ चुका था, अब उसके पीछे हटने का प्रश्न ही न रहा। वह मन-ही-मन पछता रहा था। सहयोगियों के आश्वा-सन और प्रोत्साहन भी उसे सांत्वना न दे पा रहे थे। विक्रम सोच रहा था, इस जीवन में यह कीचड़ न उछलती, तो ठीक था। जो कुछ है, वह पर्दे में ही छिपा रहता। यही मेरे लिये श्रेयस्कर था। किंतु हाय रे लालच ! असेंबली की वह मृग-मरीचिका ! यही विचार उसे बार-बार टंकोरते, उसका उपहास करते। वह उस मृग-मरीचिका तक पहुँचने के लिये अपना सर्वस्व देने को सन्नद्ध था। मानो उस सम्मान को प्राप्त करने में ही उसके जीवन की सबसे बड़ी साध की पूर्ति थी।

घर में पुत्र और पत्नी का चुनाव के लिये कोई विरोध न था, किंतु

ज़मींदार को जितनी आशा अपनी पुत्री से थी, उस पर पानी फिर गया। विमला ने इस चुनाव-युद्ध में पिता का न कोई समर्थन किया, और न विरोध ही। किंतु, एक दिन जब चुनाव-चर्चा चली, तो विमला ने मा और भाई के समक्ष ही पिता को संबोधित कर कहा—"मुझे आपसे ऐसी आशा न थी। आपने मेरा सिर समाज के सामने झुका दिया। लखनपाल की मा के साथ आपने ऐसा बर्ताव किया...... राम ! राम !! फिर भी आपने चुनाव-युद्ध में भाग लिया। सचमुच आपके चाटुकार मुसाहिबों ने आपको ठग लिया—आपको पथ-भ्रष्ट किया।"

अपने स्वभाव के अनुरूप, उस समय, विक्रम अपने प्रति किसी प्रकार की टीका-टिप्पणी सुनने के लिये प्रस्तुत न था। वह कपड़े पहनकर कहीं जाने को था। बाहर मोटर तैयार खड़ी थी। चाय पीने के ही लिये बैठा था। पुत्री की बात सुनकर वह जैसे चकित रह गया। सभी असमंजस में पड़ गए। मानो सभी का ख़ून सूख गया, किंतु विक्रम के क्रोध का पारावार न रहा।

उसी समय विमला ने फिर कहा—"पिताजी, एक व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिये, अपने प्रभुत्व की रक्षा के लिये किसी नारी के पति की हत्या करता है, उस नारी के करुण क्रंदन को बंद करने की बात भी सोच सकता है, तो....."

एकाएक क्रुद्ध भाव में विक्रम का हाथ जेब से बाहर निकला। हाथ में पिस्तौल थी। वह चीख़ पड़ा—"यह बकवास बंद कर विमला की बच्ची !"

पिस्तौल देखकर विमला ने सर्पिणी के समान फुफकारकर कहा—"तो आप मुझे भी मारना चाहते हैं? मारिए। मैं प्रस्तुत हूँ। देखती हूँ, अंधे हो रहे हैं आप—अपना विरोध सुनने में भी असमर्थ हो गए हैं। झूठे और चाटुकार व्यक्तियों ने आपका विवेक निःशक्त कर दिया है।"

विक्रम ने फिर चीख़कर कहा—"चुप नहीं रहेगी, कुल-कलंकिनी !"

विमला भी आवेश में काँप रही थी। वह अतिशय क्रोध में थी। तुरंत ही बोली—"यह मेरी वाणी नहीं, मेरी आत्मा की है। मैं इसे नहीं रोक सकती। मैं अपनी आत्मा की वाणी पर बलात्कार नहीं कर सकती। मैं कहूँगी—चिल्लाऊँगी। तुम मेरे पिता हो, इसलिये तुम्हें पाप के खड्ड में

गिरने से रोकने का प्रयत्न करूँगी । मैं समाज के सामने चिल्लाऊँगी—मेरा पिता दोषी है, पापी है ।"

"विमला !" विक्रम ने चीत्कार किया, और साथ ही धाँय ! पिस्तौल ने आग उगली । धुआँ सर्वत्र फैल गया । गोली विमला के माथे को ज़रा-सी छीलती हुई सामने दीवार में गड़ गई । गोली के आघात से विमला के माथे से ख़ून बह निकला । ख़ून से उसकी साड़ी भीग गई । आरक्त मुख से विमला बोली—"पिस्तौल में और भी गोली होगी, चलाइए । फिर मारिए । कहे देती हूँ, मेरी आत्मा मेरे मरने के बाद भी यही कहेगी, आप योग्य पिता नहीं, योग्य मानव नहीं, इंसानों की दुनिया में इंसान नहीं ।"

ज़मींदार ने क्रोध से चीख़कर पत्नी और पुत्र को संबोधित किया—"इस कमबख़्त को हटा दो । हटाओ इस साँपिन को मेरी आँखों के सामने से ।"

पुत्र ने पिता की बाँह पकड़ते हुए कहा—"आपको कलक्टर से मिलने जाना है । समय हो गया है । आप जाइए ।" वह इस अप्रत्याशित घटना से अतिशय भयाकुल हो गया था ।

विक्रम ने पिस्तौल जेब में रख ली, और वहाँ से जाते हुए बोला—"ओह ! मैं न जानता था कि मैंने साँपिन को पाला है—इस डाइन को । "वह द्रुत वेग से चला गया । जब गाड़ी के स्टॉर्ट होने की ध्वनि आई, तभी मा ने ठंडी साँस ली । उसने करुण दृष्टि से विमला की ओर देखा । माथे से बहता हुआ ख़ून देखते ही उसका हृदय भर आया । उसने अति करुण स्वर में विमला से कहा—"तेरे मन में क्या है, बेटी ! क्या........"

एकाएक चीख़कर विमला बोली—'मै मरूँगी । मैं जीवित नहीं रहना चाहती ।"

मा ने सहसा क्रोध में कहा—"तो किसी कुएँ में जा गिर—नदी में डूब मर !"

अपने पूर्ववत् स्वर में विमला ने कहा—"मैंने कोई पाप नहीं किया । पाप तुमने, पिता ने और भाई ने किया है, अपने स्वार्थ के लिये तुम सबने मिलकर

समाज का खून चूसा है। तुमने नारीत्व को कलंकित किया है, पिता को ठगा है—उन्हें ग़लत दिशा की ओर संकेत किया है। मैं पूछती हूँ, तुम्हें पत्नी और मा बनने का क्या अधिकार था ? मैं तुम सबके मुँह स्याही से पोत दूँगी। भाई को पिता का रुपया चाहिए, इसलिये चाटुकारी करता है, परंतु मुझे उनसे क्या चाहिए !"

सुरेश ने ज़ोर से चिल्लाकर कहा—"विमला !"

उसी स्वर में विमला चिल्लाई—"तुम चुप रहो।"

मा ने पुत्र की ओर देखकर कहा—"तू हट जा। मत लग इसके मुँह।"

सुरेश ने कहा—"मा, लखनपाल ने इसका दिमाग़ बिगाड़ दिया है। इसके ऊपर उसी का रंग चढ़ा है !"

विमला ने बिजली के समान कड़ककर कहा—"भैया, मान-मर्यादा की भी एक सीमा होती है। जिस प्रकार मैं अपने पिता को सच्ची बात सुना सकती हूँ, तुमसे भी कह सकती हूँ। तुम हीन हो—कायर हो।"

सुरेश ने कोई उत्तर न दिया। क्रोध में कोई अप्रिय बात न हो जाय, इस भय से वह कमरे के बाहर चला गया। बहन पर उसे अतिशय क्रोध था, किंतु मा की ममता ने ज़मींदार-पत्नी पर अब तक अपना पूर्ण आधिपत्य जमा लिया था। उसने सदय होकर कहा—"बेटी, विमला ! तू पागल न बन ! इतनी सयानी हुई, इतना पढ़-लिख गई, फिर भी पिता और बड़े भाई के मुँह लगती है—जिनकी तू प्यारी और दुलरी है, उन्हीं को कलंकी बताती है ! चल, साड़ी बदल ले। तेरे माथे पर पट्टी बाँध दूँ। देख तो, तूने क्या-से-क्या कर डाला ! भगवान् ने बड़ी कृपा की, नहीं तो जाने क्या हो जाता। तेरा पिता......हे परमात्मा !"

विमला ने सरोष कहा—"मेरा पिता जेल में होता, यही न ! मा, मैं आज कहती हूँ, यही दशा रही, तो मेरे पिता और भैया, दोनो एक दिन जेल जायँगे। यह घर मिट जायगा—तबाह हो जायगा।"

मा को पुनः क्रोध आ गया। बोली—"तो तू यही चाहती है ?"

विमला की आँखें बरस पड़ीं—"आज सोचती हूँ, मै किसी निर्धन के

घर जन्म लेती, तो अधिक सुख पाती—आत्मसम्मान की क़ीमत समझ पाती।" कहते हुए उसका क गवरुद्ध हो गया। उसके अंतर का रोष आँखों में उतर आया, और आँसू बनकर गालों पर बह निकला। उसी अवस्था में उसने कहा—"अब तो गाँव में निकलना भी दुश्वार हो गया है। अपना ही गाँव पराया-सा हो गया—अपने ही आज शत्रु बन गए। कल जब गाँव से निकल रही थी, तो लोग मुझे सुनाकर कह रहे थे—'यह है ख़ूनी बाप की बेटी! ज़माने-भर का ख़ून किया है इस ज़मींदार ने। पापी, नराधम मेंबरी के लिये खड़ा हो रहा है! जनता को सुनाकर कहता है—मैं सेवक हूँ, सेवा करने का अवसर चाहता हूँ। झूठा, लंपट कहीं का!' उसने उसी करुण और वेदना-सिक्त स्वर में पुनः कहा—"मा, तुम्हीं बताओ, यह सब सुनना क्या मुझे शोभता है? बात झूठी होती, तो मैं उन लोगों का मुँह नोच लेती—उनके मुँह पर थूक देती, परंतु......"

सुरेश पास के कमरे से विमला की बातें सुन रहा था। पास आकर बड़े स्नेह से बोला—"यह चुनाव है, विमला! इस समय सभी बातें चलती हैं। झूठे-सच्चे, सभी लांछन प्रतियोगी उम्मीदवार पर लगाए जाते हैं।"

विमला ने कहा—"वे झूठे नहीं, झूठे हम हैं—स्वार्थी, ख़ूनी।"

सुरेश ने सुना, और कड़ुवे भाव में मुस्किराकर रह गया, कुछ बोला नहीं। मा ने कहा—"चल, उठ, कपड़े बदल।" कहते हुए मा ने विमला की बाँह पकड़ी, और उसे ले चली। अपने कमरे में पहुँचते ही वह मा के वक्ष पर मुँह रखकर फूट-फूटकर रोती हुई, बोली—"मा, तुम मेरा गला घोंट दो, मुझे मार दो। तुम्हीं ने तो मुझे नौ मास अपनी कोख में रक्खा था, मुझे वैसी ही उज्ज्वल रहने दो, शापित मत बनाओ। मेरे पिता सचमुच ही क्रूर हैं। दंभी हैं। अंधे हैं। मुझे उनसे बचाओ।"

मा ने आतुर भाव में विमला का सिर सहलाकर कहा—"अच्छा, अच्छा, अब शांत हो तू! आराम कर!" और, उसने नौकर को आवाज़ दी—"अरे मँगलू, ओ चमेली! जाने कहाँ मर गए सब-के-सब!"

उसी समय कई नौकर भागे आए। सभी सहमे हुए थे। कोठी में जो

कांड हो गया था, उससे सभी डरे हुए थे। मालिक की बिटिया ने आज कैसा रूप धारण किया, कितना विद्रोह था उसके अंतर् में। सभी यह देखकर चकित थे। चमेली ने आगे बढ़कर विमला को नई साड़ी दी।

मालकिन ने कहा—"तू विमला के पास बैठ।" तभी अन्य नौकरों की ओर देखकर कहा—"और, तुम सब क्या देख रहे हो ? जाओ, अपना-अपना काम करो। मेरे लिये चाय ले आओ। और देखो, बिटिया के लिये एक गिलास में गरम दूध। थोड़ा बादाम का हलुआ भी बना लाना। जाओ, जल्दी करो।"

विमला बिस्तर पर पड़ी थी। माथे का ख़ून धोकर पट्टी बाँध दी गई थी। जब वह आँखें मूँदे पड़ी थी, तभी मा ने उसकी ओर देखा। बंद आँखों के कोर से पानी बहता देखकर विमला के सिर पर सस्नेह हाथ रक्खा, और कहा—"बेटी, विमला !"

विमला ने पलकें खोलीं। आँसुओं का भरा वेग गालों पर ढुलक आया।

मा ने कहा—"अब कातर न बन। मन शांत कर अपना।"

विमला ने पीड़ित स्वर में कहा—"मा, मुझे पिताजी का ध्यान आता है। उनकी अवस्था दयनीय है। वह अतिशय दंभी और अविवेकी हैं। उनका कोई सच्चा साथी नहीं है। उनका पुत्र भी उन्हें ठीक सलाह नहीं देता। मुझे उनके कल्याण की कामना है।"

उसी समय ज़मींदार विक्रम कमरे के द्वार पर आ गया था। उसने पुत्री की बात सुनी। उसका मन पश्चात्ताप की अग्नि में झुलस रहा था। वह विमला के निकट आया, और बड़े प्रेम से अपना हाथ विमला के मस्तक पर रख दिया।

विमला की मा ने कहा—"तेरे पिता हैं, बेटी !"

विमला ने कहा—"पिताजी.......!" और वह आगे बोल न सकी।

ज़मींदार विक्रम का कंठ अवरुद्ध था। मुँह से बोल न फूटा। उसने आगे बढ़कर पु ी का सिर अपनी गोद में ले लिया, और बच्चों की भाँति फफक-कर रो पड़ा।

---

## तैंतीस

आशा के विपरीत ज़मींदार विक्रम ने यह स्वीकार कर लिया कि मेरे पास कोई अच्छा सलाहकार नहीं है। उसने कहा—"बेटी, मेरी प्रभुत्व की भावना ही मेरा दोष है। अधिकार प्राप्त करना ही मेरा स्वभाव है। पैसा पाकर आदमी कभी सत्य के दर्शन नहीं कर पाता। झूठ और छल ही उसके दंभी जीवन के मूल-मंत्र हैं।"

दोषी पिता के मुँह से अप्रत्याशित-सारगर्भित बात सुनकर मानो विमला के मन का रोष पिता के पश्चात्ताप के आँसुओं में बह गया। निदान, उसका विद्रोही मन शांत हो गया। उसने जीवन में प्रथम बार पिता को रोते देखा था। वह जानती थी कि उसके पिता उसे कम प्यार नहीं करते—उसकी किसी आकांक्षा को अधूरी नहीं रहने देते। उसने प्रसन्न भाव में कहा—"पिताजी, जीवन भी एक खेल है—मनुष्य की पाठशाला। इस जीवन में आदमी कुछ-न-कुछ सीखता है—पढ़ता है।"

"तू ठीक कहती है, बेटी !"

"और आप यह भी मानते हैं कि लखनपाल की मा ने साधारण समाज में जन्म लेकर भी आज देश और समाज में विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया है। मा, वह आज देश का नेतृत्व कर रही है। देखिए तो, वह किन कठिन परिस्थितियों में रहकर भी अपने कर्तव्य-पथ पर डटी रही। इस चुनाव में मुझे तो उसी के जीतने की आशा दीखती है। उसके पास धन-बल नहीं, जनता का बल है। आपके पास केवल धन-बल है, जो हर वस्तु प्राप्त कर सकता है, परंतु जनता का हृदय नहीं।"

"मानता हूँ कि जनता का बल दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता, किंतु धन-बल भी अपना विशेष महत्त्व रखता है।"

पत्नी ने कहा—"जनता का भरोसा करना वृथा है।"

सहारा पाकर विक्रम ने कहा—"निःसंदेह ! जनता तो मूर्ख है। वह अपने वोट का मूल्य नहीं समझती, वह तो हँकाई जाती है।"

विमला ने कहा—' पिताजी, आज परिस्थिति बदल गई है। अंधकार में पड़ी हुई जनता अब जाग उठी है। वह अब अपने व्यक्तित्व का मूल्य आँकना जान गई है।"

जमींदार ने सहसा पूछा—"अभी रूपवती गाँव में नहीं आई ? सुनता हूँ, आजकल वह शहर में भी नहीं है।"

विमला ने कोई उत्तर न दिया, वह मौन रही, लखनपाल ने उसके पत्र का उत्तर नहीं दिया, शायद इसीलिये। किंतु वह है कहाँ ? अन्यत्र कहाँ जा सकते हैं ये लोग ?

तभी पत्नी ने कहा—"गाँव की साधारण-सी औरत थी। शहर में गई, तो पढ़-लिख गई। नेतागिरी करने लगी। जनता की आँखों में चढ़ गई।"

"उसे तुमने देखा है, मा ?" विमला ने सहसा पूछा।

"मैंने नहीं देखा।"

"मैंने देखा है। वह बड़ी स्नेहमयी एवं मधुर-भाषिणी है, किंतु जब सभा में भाषण देती है, तो जैसे आग बरसाती है। उसकी वाणी जैसे सभा-स्थल में जाते ही बदल जाती है।"

"और उसका बेटा लखनपाल ?"

"उसका क्या कहना, वह तो आग है—ज्वालामुखी।" विमला ने आत्म-विभोर होते हुए कहा।

उसी समय जमींदार विक्रम एक लंबी साँस भरकर खड़ा हो गया, और बाहर जाते हुए बोला—"बेटी, अब तो मैं अखाड़े में उतर आया हूँ, पीछे नहीं हट सकता—जो बात कह दी, उसे वापस नहीं ले सकता।"

विमला ने पिता की ओर देखकर कहा—"मैं यह नहीं कहती पिताजी ! मेरा तो केवल आपसे यही निवेदन है कि आप अपना जीवन बदल दीजिए। समय बदला है, देश ने करवट बदली है, तो आप भी अपने को बदल डालिए।"

विक्रम ने मुस्किराकर कहा—"यह तो करना ही होगा। समय के साथ अपने को बदलने में ही बुद्धिमत्ता है।"

विमला ने कहा—"पिताजी, आज का व्यक्ति पैसे से नहीं खरीदा जा सकता। उसे अपने कार्यों से ही अपना बनाया जा सकता है। उसका मन जीतना होगा सेवा और त्याग से।"

"यह सत्य है—अमिट है। आपकी महत्ता के लिये आपकी इस पुत्री को अपना बलिदान देने में भी हर्ष होगा।"

हँसकर बाहर जाते हुए विक्रम ने कहा—"पगली बिटिया!"

इस प्रकार क्षण-भर में पिता-पुत्री के मध्य जो बीभत्स और अप्रिय कांड हुआ था, स्वतः ही शांत हो गया। बहन को उसी अवस्था में छोड़ सुरेश मिल चला गया था। स्वभावतः उसका मत बहन से भिन्न था। वह सदा विमला के विरोध में ही अपना मत देता था, किंतु उस दिन जब वह अपनी बहन को उस घायल अवस्था में छोड़ गया, विक्रम ने प्रथम बार भाई-बहन के बीच इस कटुता का अनुभव किया। दोपहर को जब सुरेश भोजन करने गया, तो विक्रम ने उपेक्षा-भाव से, प्रतारणा देते हुए, कहा—"इतने निर्दय हो तुम, इतने कठोर कि विमला के चोट लगी, और तुमने मिल का रास्ता पकड़ा।"

सुनकर सुरेश लजा गया। वह खिसियाए हुए स्वर में बोला—"मुझे काम था। ज़रा ज़रूरी जाना था।"

उस समय तुम्हारे लिये सबसे बड़ा काम घर में था। तुम्हारी बहन के सिर से खून बह रहा था, और तुम्हें ज़रूरी काम दिखाई दे रहा था!"

पास बैठी हुई मा ने कहा—"हाँ, बेटा! ईश्वर ने खैर की, अन्यथा बात-की-बात में जाने क्या हो जाता! उस समय तुझे विमला के पास ही रहना था।"

सुरेश ने कहा—"मा, उसकी भी बातें अजीब होती हैं। वह बरबस क्रोध दिलाती है। उसे पिताजी के काम में न बोलना था।"

विक्रम ने मुस्किराकर कहा—"वह भी मेरी पुत्री है। पुत्र के समान ही उसका भी अधिकार है, बेटा! उसे ज़रूर बोलना था। उसे यदि मेरी कोई

बात अप्रिय लगे, तो मुझसे कहने का उसे पूरा अधिकार है। मैं जब यहाँ से गया, तो रास्ते में ही मुझे अपने दोष का आभास हो गया था।"

सुरेश ने चकित होकर पूछा—"आपका दोष क्या था ?"

जमींदार विक्रम गंभीर हो गया। उसने बँधे हुए स्वर में कहा—"मुझ-जैसे मग़रूर और मदांध व्यक्ति को मेरी पुत्री ने आज झिझोडकर जगा दिया—मुझे चेतना प्रदान की। उसने बताया, मैं अपने आपमें भले ही बड़ा बनूं, परंतु जनता मुझे ऐसा नहीं मानती—मुझे आदर की दृष्टि से नहीं देखती।

"यह आपका भ्रम है, पिताजी ! जनता मूर्ख है। वह प्रायः दूसरों को अपने से श्रेष्ठ नहीं मानती।"

सुनते ही एकाएक मा ने विरोध किया। वह बोली—"यदि ऐसा होता, तो आज गांधी-जवाहर-जैसे महान् व्यक्तियों का श्रेष्ठत्व जनता स्वीकार न करती।"

सुरेश ने कहा—"मा, एक गड़रिया हज़ारों भेड़ों को अकेला चराता है। यही हाल जनता का भी है। सहसा किसी का अस्तित्व स्वीकार कर लेना उसका स्वभाव है। यही मानसिक दुर्बलता कहलाती है।"

मा बोली—"तुम जिसे दुर्बलता कहते हो, मैं उसे श्रद्धा कहती हूँ। किंतु उस श्रद्धा का दुरुपयोग हो, जनता के साथ छल हो, तो इसका क्या उपाय है ? माना आज यही हो रहा है। आज के कुछ मदांध नेता—जिन्होंने एक दिन विदेशी शासन के डंडे खाए, जेल की पीड़ा सही—आज राज्य-सत्ता का प्याला पीकर मदहोश हो चले हैं, और अन्य शोषकों के समान जनता को ठगने लगे हैं। परंतु जो नेता वास्तव में महान् हैं, श्रेष्ठ हैं, उनको जनता सदा श्रद्धा की दृष्टि से देखती रहेगी।"

सुरेश ने स्वर पर जोर देकर कहा—"मा ! यह जनता की अंध-श्रद्धा है। मैंने कहा न, जनता मूर्ख है। जिन लोगों ने कभी शासन का अनुभव नहीं प्राप्त किया, उनसे क्या आशा की जा सकती है ? इस चुनाव में इसीलिये तो दूसरे स्वतंत्र संपन्न व्यक्ति भी खड़े हो रहे हैं। यदि उनको देश ने चुना तो देखना तुम, आज वे कतिपय मदांध शासक उनके विरोध से भय खाएँगे,

और देश की स्थिति मजबूत बनेगी। उन्हें जनता की रुचि का ज्ञान है। उन्होंने धन और समाज से अपने संबंध रक्खे हैं। वे जानते हैं, धन कैसे पैदा होता है—समाज कैसे आगे बढ़ता है।"

इतना सुनकर मा मौन रह गई। वह पुत्र से बहस नहीं करना चाहती थी। उसे अधिक ज्ञान भी नहीं था। विक्रम भोजन समाप्त कर चुका था। सुरेश की बात सुनकर बोला—"कुछ नहीं कहा जा सकता कि देश कहाँ जायगा। ऊँचे उठेगा या नीचे गिरेगा।"

सुरेश ने कहा—"यदि पुराने व्यक्तियों के हाथों में सत्ता पुनः गई, तो देश निश्चित रूप से नीचे गिरेगा।"

उसकी मा ने कहा—"पर जिस संपन्न समाज से जनता पहले सेही दुखी है, उस पर कैसे विश्वास किया जाय? ज़मींदारों और कारखानेदारों ने क्या जनता की ओर कभी देखा? सभी कहते हैं कि इन्होंने अपना स्वार्थ छोड़ कुछ नहीं किया। अँगरेजों के साथ मिलकर देश के साथ ग़द्दारी की, और अपने स्वार्थ का पेट भरा। देश की उन्नति की ओर उनका कभी ध्यान नहीं गया।"

सुरेश ही-ही कर हँस दिया और ज़ोर से बोला—"तो मा, तुझ पर भी रंग चढ़ गया! ज़रूर हमारे घर में कम्युनिज़्म घर कर रहा है।"

"यह कम्युनिज़्म क्या बला है?"

"जिसका नारा है, सरमाएदारों को मार दो, मज़दूर और किसानों को ज़मीन और कारखानों का मालिक बना दो।"

चकित होकर मा ने कहा—"यह कैसे होगा? माल जिसका है, उसी का तो रहेगा!"

सुरेश फिर ज़ोर से हँस दिया। बोला—"मेरी भोली मा, डाकू भी यही कहता है कि माल मेरा है। पैसेवाले ने माल जनता से छीना है, तो मैंने..."

मा बोली—"वाह-वाह! तो ऐसे क्या समाज चलेगा? देश मिट जायगा इस प्रकार तो।"

ज़मींदार विक्रम ने गंभीर स्वर में कहा—"और, आज क्या देश उठ रहा

है ? चोरी और डकैतियों का जोर बढ़ रहा है । आज कोई भी निरापद् नहीं है—न घर में, न बाहर ।"

पत्नी बोली—"राम-राम ! राक्षस-राज्य आ गया !"

विक्रम ने कहा—"कलियुग का चौथा चरण आरंभ हो गया है न !"

सुरेश ने कहा—"मुझे नित्य आशंका रहती है कि मज़दूर मिल में आग न लगा दें । इसके लिये पूरी खबरदारी रखनी होती है।" वह बोला—"मा, कहने को मज़दूर की वकालत की जाती है, पर सचाई यह है, मज़दूर तो ऐसा निकम्मा जानवर हो गया है कि काम कम करता है, और पैसे अधिक पाना चाहता है। हमारी मिल में प्रतिदिन बोनस और वेतन-वृद्धि की माँग की जाती है। हमारी ओर से मज़दूरों को सभी सहूलियतें दी जाती हैं । यहाँ तक कि उनके बच्चों की पढ़ाई का प्रबंध भी मिल करती है। रोगी को दवा भी मुफ़्त दी जाती है । पर मजाल क्या कि मज़दूर मिल के प्रति वफ़ादार रहे—मिल की भलाई की बात सोचे ।"

विक्रम ने कहा—"यही किसानों का हाल है । जमींदारी समाप्त हो गई, तो उनका दिमाग़ भी सातवें आसमान पर पहुँच गया है। जमीन मेरी, और मुझी से कहा जाता है, तुम कौन ? भई वाह !"

सुरेश ने कहा—"हवा ही ख़राब चल रही है । चारो ओर क्रांति के स्रोत फूट निकले हैं। परंपराएँ मिट रही हैं। ग़रीब अपनी रोटियों को रोता है, तो अमीर को अपनी प्रतिष्ठा और गौरव की लाज बचाना कठिन हो रहा है, जीवित उसे भी रहना है, रात-दिन उसके समक्ष यही चिंता रहती है ।"

मा ने साँस भरी, और चिंतित स्वर में कहा—"बडा ख़राब जमाना आ रहा है, बेटा !"

सुरेश ने कहा—"इस चुनाव में ही देख लो न, कैसी गंदगी सब तरफ़ उछाली जा रही है !"

विक्रम ने कहा—"लोगों ने हया और शर्म ताक पर उठाकर रख दी है।"

सुरेश—"सभी की इच्छा है कि सरकार उनके हाथों में हो । रस्साकशी चल रही है । इस प्रजातंत्र की यही सबसे बड़ी ख़राबी है ।"

उसी समय नौकर ने आकर कहा—"विमला बीबी को बुख़ार चढ़ा है। बहुत बेचैन हैं।"

मा ने चौंककर कहा—"बुख़ार ! हे राम !"

सुरेश उठ खड़ा हुआ, और विमला के कमरे में पहुँच गया। विमला आँखें बंद किए लेटी थी। जाते ही सुरेश ने अपना ठंडा हाथ उसके मस्तक पर रक्खा। स्पर्श पाकर विमला ने आँखें खोलीं—"भैया !"

"बहन !" सुरेश बोला—"बुख़ार हो गया ? दिखता है, सबेरे की बात का प्रभाव तेरे मन पर पड़ा है।"

उसी समय मा और पिता भी वहाँ आ गए। विक्रम ने आते ही कहा—"मिल से डॉक्टर बुला लो, सुरेश !"

विमला ने क्षीण स्वर में कहा—"न, पिताजी ! मामूली बुख़ार है। उतर जायगा।"

मा ने चिंतित स्वर में कहा—"नहीं-नही, डॉक्टर को तुरंत बुलवाओ। मै तो जानती हूँ, यह कितनी कमज़ोर है। क्रोध करती है, तो काँपने लगती।"

सुरेश ने कहा—"सुबह भी काँप रही थी। अतिशय क्रोध में थी उस समय।"

मा ने कहा—"बाप के ऊपर गई है। यह भी क्रोध करते हैं, तो अंधे हो जाते हैं।" इतना कहते ही उसका स्वर अवरुद्ध हो गया। उसने करुण स्वर में पुनः कहा—"भला, सुबह कोई बात भी थी। झट जेब से पिस्तौल निकाल ली। वह तो भाग्य अच्छे थे इस घर के कि गोली का निशाना चूक गया।"

विक्रम ने खेद-पूर्ण स्वर में कहा—"सचमुच मैं आज अंधा हो गया था।"

उसी समय सुरेश ने नौकर को डॉक्टर को लाने का आदेश दिया। नौकर द्रुत वेग से चला गया।

विमला बोली—"इस जीवन में ऐसी अघट घटनाएँ प्रायः होती रहती हैं, जिनका कोई भी पूर्वाभास नहीं होता। इसीलिये वह घटना कहलाती

है। वह आदमी को झकझोरती है, उसे उसकी भूल का आभास कराती है।"

विक्रम ने कहा—"ठीक ही है। आज मैंने यही अनुभव किया। आज सुबह की घटना के उपरांत मेरा मन अतिशय अशांत रहा। जब तक घर लौटकर नहीं आया, चैन न मिला। कलक्टर आया, और इंतज़ार करके चला गया। मेरा मन ही न हुआ उससे बात करने का।"

सुरेश ने कहा—"जब घर में शांति नहीं होती, तो बाहर जाकर भी आदमी का मन काम में नहीं लगता।"

विमला ने साँस भरी, और कहा—"पर भैया, आज जो कुछ हुआ, वह शोभनीय भले ही न हो, परंतु मैं सोचती हूँ, अच्छा ही हुआ। मुझे आशा है, पिताजी के समान तुम्हें भी अपनी भूल का आभास हुआ होगा।"

सुरेश कहना चाहता था कि यह तेरा मिथ्या प्रलाप है, परंतु वह अपनी बात को पी गया। केवल रुष्ट भाव से मुस्किराकर रह गया।

"आज मेरी बच्ची ने न दूध पिया, न कुछ खाया ही। हलवा बनवाया था, वह भी यों ही रक्खा रहा।" मा ने अपने हृदय की संपूर्ण ममता उँडेलते हुए कहा।

सुरेश हँस दिया—"मा, तुम भी अपनी बच्ची को ही प्यार करती हो, अपने इस बच्चे को भी कभी पूछती हो ?" बाल-सुलभ मुद्रा में वह बोला।

"तू तो पगला है, इतना बड़ा होकर भी बच्चों की-सी बातें करता है।" मा ने कृत्रिम क्रोध दिखाते हुए कहा।

इस वार्ता में ज़मींदार विक्रम का मन नहीं लग रहा था। वह कमरे के बाहर लॉन पर दृष्टि फेरता हुआ जाने किन विचारों में उलझा था।

विमला ने पिता की ओर देखकर कहा—"पिताजी, मैं कुछ न के लये एकांत चाहती हूँ। सोचती हूँ, कुछ दिन कहीं बाहर ही रह आऊँ।"

विक्रम ने चौंककर कहा—"कहाँ बेटी ?"

"कहीं भी। किसी पहाड़ पर ......या......"

"अच्छा, चली जाना।"

किंतु मा ने आपत्ति की। कहा—"इस चुनाव के बाद ही तेरे भैया का विवाह है। ऐसे मौक़े पर तेरा बाहर जाना क्या शोभता है?"

विमला ने कहा—"मा, चुनाव और विवाह के अवसर पर यहीं रहूँगी। अपनी भाभी को पहले मैं ही तो देखूँगी।" कहते हुए उसके चेहरे पर एक मधुर मुस्कान खेल गई।

सभी विमला के इस भोलेपन पर हँस दिए। वज्र-हृदय विक्रम ने करुणार्द्र दृष्टि से अपनी बेटी की ओर देखा। उसका हृदय रो उठा—"मेरी भोली बच्ची! कैसा क्रूर बर्ताव मैंने तेरे साथ किया था आज!"

---

# चौंतीस

एक दिन एकाएक ही रूपवती और लखनपाल गाँव में आए। गाँव का अधिकांश नर-नारी-समाज उनके घर पर एकत्र हो गया। इतने समय बाद गाँव लौटने पर रूपवती को सभी कुछ परिवर्तित दिखाई दिया। उसका मकान क्या बदला, जैसे समस्त गाँव ही बदल गया। उसके सामने के छोटे-छोटे बच्चे अब युवा हो गए थे। छोटी बच्चियाँ सयानी हो गई थीं। उनमें से कितनों ही का विवाह हो गया था, कितनी ही यौवन के भार से लदी अपने माता-पिता के सिर का बोझ बनी थीं। उसी भीड़ में सर्वप्रथम रूपवती ने लक्ष्मी को लक्ष किया। उसने उसका हाथ पकड़ लिया, और पास बैठकर कहा—"मैंने सुन लिया था सब कुछ। तू पढ़-लिख गई, यह अच्छा ही हुआ।"

शिकायत भरे स्वर में लक्ष्मी ने कहा—"तुम तो मुझे भूल ही गईं।"

रूपवती ने हँसकर कहा—"पगली, तुझे भूल जाती ! तेरे ही लिये तो यहाँ आई हूँ।"

इस प्रकार कई दिनों तक रूपवती के घर नर-नारियों का जमघट-सा लगा रहा। दूसरे गाँवों से भी अनेक व्यक्ति आए। रूपवती ने सभी का अभिवादन-सत्कार किया। उसे यह देखकर परम हर्ष हुआ कि गाँव का रूप बदल गया है। पुरानी घिसी-पिटी परंपराएँ मिट गईं, चेतना ने जन्म लिया है। गाँव में शिक्षा का प्रचार हुआ। अनेक युवक शिक्षित हो गए हैं, अपनी बुराई-भलाई समझने लगे हैं, परंतु उसके साथ-ही-साथ चरित्र-दोष का विकार भी अपने हाथ-पाँव फैला रहा था। रूपवती को यह असहनीय लगा, किंतु उसे यह देखकर संतोष हुआ कि अपेक्षाकृत गाँव में पहले की-सी भुखमरी का साम्राज्य नहीं रहा, ज़मींदार ने जिस कपड़े के कारखाने का निर्माण किया, उससे गाँववालों की आय में यथेष्ट वृद्धि हुई। अनेक व्यक्तियों को काम मिल गया।

अपने गाँव तथा आसपास के क्षेत्र में रूपवती ने देखा कि अनुपाततः जन-संख्या में वृद्धि हो रही है, अतः भूख और दरिद्रता का सामना नहीं हो पा रहा है। कतिपय परिवार किसानों के अतिरिक्त कपड़े के कारखाने में भी मजदूरी करते हैं, तब भी भूखे-नंगे हैं। आखिर क्यों ? किस कारण ? इस स्थिति के अंतराल में पहुँचते ही रूपवती का अंतर् चीख उठता। उसने निश्चय किया कि नगरों की भाँति यहाँ भी परिवार-नियोजन का प्रचार आवश्यक है। इस बार शहर जाने पर परिवार-नियोजन-समिति के समक्ष वह इस गाँव के विकास के बारे में अवश्य बातें करेगी। उसने यह भी अनुभव किया कि गाँव में मिल का कार्य आरंभ होते ही आसपास शराब, वेश्या, जुआ तथा अन्य दुष्कर्मों का जाल बिछ गया है। दिन-भर परिश्रम करके, लोहे के दानव से लड़कर, मजदूर जो कुछ उपार्जन करते, उसका अधिकांश दुर्व्यसनों की अग्नि में स्वाहा हो जाता।

चुनाव के प्रसंग में रूपवती ने उस समूचे क्षेत्र में भ्रमण आरंभ कर दिया। वह जिस सभा में भी भाषण देती, वहाँ अपने विषय में कुछ न कहकर उन्हें जागृति का संदेश देती। वह उनसे कहती—"तुम मनुष्य हो, मनुष्य बने रहो—जानवर मत बनो।" वह बताती—"सदियों से मनुष्य पैसे के कारण आदमियत से गिराया गया है। तृषित और क्षुधित बनाया गया है। आज भी स्वतंत्र देश में इसी प्रकार के जहरीले कीड़े रेंग रहे हैं। वे स्वेच्छाचारी और दंभी आज भी देश की आत्मा को झिंझोड़ रहे हैं, और उसे नष्ट कर देना चाहते हैं। रमाएदारी के एजेंट तुम्हें चमकता हुआ पैसा दिखाते हैं, और बदले में तुम्हारा सर्वस्व छीन लेते हैं। तुम्हें चरित्र-हीन बनाते हैं, पथ-भ्रष्ट करते हैं।" रूपवती ने बताया—"ये कारखाने, ये बड़ी-बड़ी मिलें अपनी चिमनियों से जैसा प्राण-घोटू धुआँ उगलती हैं, ऐसे ही जहर-भरा धुआँ तुम्हारे जीवन में भी परिव्याप्त हो रहा है।" रूपवती कहती—"कारखानों का आविष्कार मैं देश के हित में अवश्य मानती हूँ, उन्हें उपयोगी समझती हूँ, किंतु प्रश्न यह है कि उससे जन-साधारण को क्या लाभ होता है ? मैं तो देखती हूँ कि इन कल-कारखानों के रूप में प्राणिमात्र का शत्रु—शोषण की प्रवृत्ति का

ज़हरीला साँप अपना ज़हर समूचे देश में फैला रहा है। वह देश की निर्धन जनता को स्पंदन-हीन और चेतना- शून्य बना रहा है। देखते हैं आप, इन कारखानों से जो मुनाफ़ा होता है, वह हमारे-आपके नहीं, मालिकों के पेट में जाता है। अन्न का तत्त्व वे स्वयं खा जाते हैं, और भूसी अपने कर्मचारियों के आगे डाल देते हैं। मानो वे मनुष्य नहीं, जानवर हैं—प्राण-हीन हैं।" रूपवती कहती—"मजदूरों को उचित वेतन नहीं मिलता। उनके चरित्र-निर्माण-हेतु जीवन की आवश्यकताओं का कोई साधन उपलब्ध नहीं हो पाता। जब ज़मींदार थे, तो वे किसान द्वारा पैदा किया समूचा अन्न स्वयं हड़प कर लेते थे।" अब वही कार्य कारखानेदार कर रहे हैं—सर्वस्व अपने पेट में उतार लेते हैं।"

निःसंदेह, रूपवती के इन विचारों का ग्रामीण क्षेत्रों में अभूतपूर्व स्वागत हुआ। वह जहाँ भी जाती, उसके चरणों में वे किसान श्रद्धा से अपना मस्तक झुका देते। रूपवती उनके बीच में क्या आई, जैसे उन्हें ईश्वर का कोई दूत मिल गया। उसके सहयोगी प्रायः उससे कहते कि वह चुनाव के विषय में कुछ कहे। जमींदार विक्रम के काले कारनामों का भंडाफोड़ करे, किंतु रूपवती ने यह स्वीकार न किया। उसने कई सभाओं में यह स्पष्ट रूप से घोषित किया—"इस चुनाव में आप योग्य पात्र को वोट दें। किसी के कहने से नहीं। रुपए लेकर भी अपना वोट न दें। उसने कहा—"मेरे साथी जमींदार के विरोध में अनेक बातें कहते हैं, और मुझे भी ऐसी ही प्रेरणा देते हैं, परंतु विश्वास कीजिए, आपके समान जमींदार विक्रम भी मेरे लिये भले आदमी हैं। हाँ, आदमी में कुछ कमजोरियाँ अवश्य होती हैं, और उनमें भी हो सकती हैं, परंतु इसका यह अर्थ तो नहीं कि जमींदार विक्रम आगे भी ऐसा ही करेगा। मेरा तो विश्वास है, जीवन के इस उतार पर जमींदार अपनी नीयत और जिंदगी को देखने का ढंग बदल देगा। यह भी हो सकता है कि आपका जमींदार अपने जीवन में आपके लिये कभी कोई शुभ कार्य करे।"

एक बार जब रूपवती एक बड़ी सभा में भाषण देती हुई इसी प्रकार का उल्लेख कर रही थी, तो एक युवक ने, नितांत रोष-पूर्ण स्वर में, खड़े होकर कहा—"आप जिसके विषय में कह रही हैं, क्या उसने आपकी हत्या का

प्रयत्न नहीं किया ? आपके पति की हत्या उसने नहीं की ? हमें सब कुछ ज्ञात हो गया है । पाप क्या छिपाए छिपता है ?"

रूपवती ने उस युवक की ओर देखा, और गंभीर स्वर में कहा—"मेरे भाई ! मैं नारी हूँ—भारतीय नारी । किसी के दोष को क्षमा कर देने में ही भारतीय नारी का गौरव है । इसी शिक्षा से मैंने अपने को दीक्षित किया है । मेरे जीवन का यही ध्येय रहा है ।" इतना कहते हुए रूपवती का मुख लाल हो गया, और उसने अपने स्वर पर ज़ोर देकर कहा—"विश्वास कीजिए, नारी होने के नाते मैं जब भी यह सुन पाऊँगी, ज़मींदार को मेरी सहायता की आवश्यकता है—मेरे ख़ून को चाहता है—आँखें मूँदकर अपना ख़ून उसकी भेंट चढ़ा दूँगी । यदि आवश्यकता पड़ी, तो मैं अपने बच्चे के प्राण भी उस ज़मींदार के चरणों में चढ़ा दूँगी ।"

एकत्र जनता हर्ष-नाद कर उठी—"वाह-वाह ! धन्य हो ! आदर्श की चरम सीमा है ।" आदि शब्दों से वातावरण गूँज उठा ।

रूपवती ने पुनः कहा—"यही भारतीय आदर्श है । आप अपने विपक्षी के दोष भूल जाइए । अपना कर्तव्य देखिए । अपना स्वभाव परखिए । निश्चय ही वह विपक्षी एक दिन आपके साथ होगा—आपके सामने झुक जायगा ।"

रूपवती को गाँव पहुँचाकर लखनपाल शहर वापस लौट गया था । यद्यपि उसकी इच्छा थी कि चुनाव के प्रसंग में वह कॉलेज से एक मास की छुट्टी ले ले, और मा के साथ काम करे, किंतु रूपवती ने यह स्वीकार न किया । उसने कहा—"मेरे लिये चुनाव कोई विशेष महत्त्व की वस्तु नहीं है । मुझ पर ज़ोर डाला गया, अतः मैं खड़ी हो गई हूँ, अन्यथा मेरा इससे तनिक भी लगाव नहीं है ।" उसने बताया—"मेरा जीवन-पथ यह नहीं । मेरा लक्ष सेवा करना है । इसके लिये विधान-सभा में जाना कोई आवश्यक नहीं ।" फल-स्वरूप, लखनपाल अनिच्छा से लौट गया । उसकी इच्छा हुई कि चलते समय वह विमला से मिल ले, किंतु इतना भी अवसर उसे नहीं मिला ।

चुनाव में दोनो ओर संघर्ष चल रहा था । अंतर इतना ही था कि एक ओर पैसा काम कर रहा था, और दूसरी ओर सेवा-भाव । रूपवती इस अव-

सर को इसलिये अपने लिये सुयोग की बात मानती कि उसे जनता का सामीप्य प्राप्त हो रहा था – इसी बहाने उस ग्रामीण जनता से उसका परिचय बढ़ रहा था। उसने गाँव में आने के लगभग पंद्रह दिन बाद ही एक पाठशाला स्थापित की। इसमें गाँव की लड़कियों को पढ़ाना और जीवन की व्यावहारिक बातों का ज्ञान कराना पाठ्य-क्रम में रक्खा। उस पढ़ाई में सफ़ाई और छुआछूत को मिटाने पर अधिक बल दिया गया। जाति-प्रथा को गौण बताया गया। रूपवती का यह मत था कि नारी-शिक्षा ही समाज का आधार है। यदि हमारी मा-बहनें सुयोग्य हों, तो उनकी संतानें भी योग्य हो सकती हैं। स्कूल की लड़कियाँ सप्ताह में एक दिन गाँव के घरों में और जन-पथ पर सफ़ाई का काम करती। उन सुकुमार लड़कियों को देख पुरुष भी आगे आते, किंतु रूपवती का आदेश था, पुरुष कोई आगे न आए। इच्छा हो, तो घरों की स्त्रियाँ आएँ। वे इन भंगी, चमार और अन्य वर्ग की लड़कियों के साथ योग दें। परिणाम-स्वरूप धीरे-धीरे, गाँव के नारी-समाज का संकोच मिट गया। उसमें शिक्षा तथा व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने का भाव उमड़ा। स्त्रियाँ भी घरों से निकलीं। वे भी उस समूह में मिल जातीं।

इस प्रकार गाँवों के लिये वह क्रांतिकारी कार्य-क्रम इतना शीघ्र बिजली के समान चारो ओर फैला कि आपस में विवाद और मतभेद होने पर भी उस पाठशाला का कार्य-क्रम अन्य गाँवों में भी फैलता गया। चुनाव के प्रसंग में रूपवती जिस गाँव में जाती, वहीं पाठशाला स्थापित करती, और उसी गाँव की एक प्रबंध-समिति स्थापित करती। उसका काम चल पड़ा। जिनमें छूत-अछूत का रोग था, वह मिटने लगा। चमार-भंगी मंदिरों और कुँओं पर जाने लगे। अजीब स्थिति थी, पुरुष बाधक बनते, तो नारियाँ उन तर्कों का उत्तर देतीं – "ईश्वर एक है, प्राण एक है, तो फिर मनुष्य-मनुष्य में अंतर क्यों ? यह दुराव क्यों ?

इस प्रकार रूपवती का कार्य-क्रम दिन-दिन सफल होकर द्रुत गति से आगे बढ़ रहा था।

---

# पैंतीस

चुनाव के उस दौर में यद्यपि रूपवती की ओर से किंचिन्मात्र भी प्रतिकार का भाव नहीं उठा, किंतु ज़मींदार विक्रम के सहयोगियों ने प्रभुता और धन के बल पर कई स्थानों पर झगड़े का सूत्रपात किया। मार-पीट की स्थिति तक पैदा हो गई। अवस्था यहाँ तक आ गई थी कि वह परस्पर का संघर्ष समाज में वर्गीकरण के विषैले कीटाणु बरसाने लगा। जहाँ-तहाँ जाति-पाँति का प्रश्न पैदा किया जाने लगा। पीढ़ियों के संबंध भी दोहराए गए। ज़मींदार विक्रम के यहाँ राजसी ठाठ के साथ सहयोगियों का सत्कार किया जा रहा था। शराब के दौर चलते थे। और जूते के बल पर वोट लेने का ऐलान किया जा रहा था। उस समय समूचे देश में ऐसा ही दौर-दौरा था। सर्वत्र वोट पाने के लिये नाना प्रकार के हथकंडों का उपयोग किया जा रहा था।

ऐसे ही वातावरण में, एक दिन, एकाएक ही, बाबा ने गाँव में प्रवेश किया। वह जब रूपवती से मिले, तो अतिशय व्यग्र भाव में बोले—"ज़मींदार की नीयत ख़राब है। संभवतः वह पुनः तुम्हारी हत्या का षड्यंत्र रचे। तनिक सावधान रहने की आवश्यकता है।"

रूपवती ने इतना सुनकर भी अपने मुख पर चिंता का कोई भाव न आने दिया। उसने सरल भाव से कहा—"हाँ बाबा, मैं जिस कार्य में पड़ी हूँ—जिस कर्म-क्षेत्र में उतरी हूँ, उसमें यह भी संभव है। ज़मींदार विक्रम क्या, मुझे कोई भी मार देने की बात सोच सकता है, इसलिये मैं राजनीतिक सुधार से पहले आत्मिक सुधार आवश्यक मानती हूँ, और मैं उसी पथ पर चल पड़ी हूँ। मेरे जीवन की यही साध थी। रूपवती ने एक लंबी साँस भरी, और अतिशय दीन भाव में बोली—"आप देखते नहीं हैं, सहस्रों वर्षों की रूढ़ियाँ सख़्त पड़ गई हैं। ये रूढ़ियाँ समाज को पूर्ण रूप से अपना दास

बना चुकी हैं। मुझे उन्हीं रूढ़ियों को तोड़ना है। उन्हीं कठोर बंधनों पर आघात करना है।"

"पथ कठिन है। समाज अपनी परंपरा में एकाएक परिवर्तन नहीं चाहता। जो छेड़ता है, वही उसका शत्रु बनता है।"

"यही अंध-विश्वास है, अशिक्षा का प्रकोप है।"

"इस देश के महान् धर्म-प्रवर्तक ऋषि दयानंद भी रूढ़ियों को बदलना चाहते थे। जाति का सुधार करना ही उनका लक्ष्य था, किंतु समाज के अगुओं ने उन्हीं को मरवा दिया। एक दुष्ट ब्राह्मण द्वारा उन्हें दूध में विष पीसकर पिलवा दिया गया।"

"किंतु फिर भी वह उदार थे। उन्होंने उस ब्राह्मण को बचाने के हेतु अपने पास का सारा धन होम दिया। वह मरते समय भी उसके उद्धार की कल्पना में डूबे रहे।"

"वह महान् थे—देश के प्राण थे।"

"बाबा, मेरे चारों ओर भी भय मँडरा रहा है। प्रतिरोध बढ़ रहा है। मुझे पग-पग पर अनुभव हो रहा है कि मेरी दिशा संकटमय है, किंतु मुझे कोई चिंता नहीं। बाबा, सरदार भैया से मैंने यही तो सीखा है। संकटों का सामना करते हुए मरना उनके जीवन का लक्ष्य रहा है। यही मैंने उससे सीखा है।"

"सरदार पुरुष है। उसके शरीर और आत्मा में बल है। उसके पिछले संस्कारों द्वारा ही उसे यह बल प्राप्त हुआ है।"

रूपवती हँस दी—"मेरे संस्कारों ने भी मुझे बल प्रदान किया है।"

पुनः गंभीर होकर बोली—"यदि मेरे पूर्व-जन्म के संस्कार अच्छे न होते, तो क्या इस क्षुद्र जीवन में मैं अपना मार्ग इतना प्रशस्त देख पाती। बाबा, अपना इतना उत्कर्ष देखकर ही मैंने समझा है, शक्ति प्रत्येक व्यक्ति में है। आवश्यकता इस बात की है कि उसे प्रोत्साहन मिले—आवाहन मिले। समाज के कतिपय अगुआ स्वार्थ-वश जन-साधारण को अवसर ही नहीं देते—उन्हें उठने ही नहीं देते, अन्यथा यहाँ आज भी अनेक कृष्ण और राम

हैं। अशिक्षा, दरिद्रता और रूढ़िगत हीन संस्कार व्यक्ति को पशु बनाए दे रहे हैं।"

"बेटी, तुम्हारा कहना ठीक है, फिर भी सतर्कता आवश्यक है। ईश्वर तुम्हें सफलता दे।"

उत्साहित होकर रूपवती बोली—"बाबा, मुझे सफलता अवश्य ही मिलेगी। मैंने इस चुनाव को संपन्न कर अपनी कार्य-विधि बना ली है। चुनाव मेरा लक्ष्य कदापि नहीं है। हारना भी मेरे लिये अपमान न होगा। मेरा लक्ष्य तो और ही है। मुझे जनता के संपर्क में आना है। अपना क्षेत्र दिन-दिन प्रशस्त करना है। जितनी सफलता मुझे मिल रही है, अनुपातत: उतने ही विरोध की आशा मुझे करनी चाहिए, परंतु यह तो मेरे लिये अच्छा ही होगा। विरोध कालांतर में दूध के उफान के समान बहकर ठंडा पड़ जायगा, और विरोध की कसौटी पर खरा उतरने पर मेरा निर्दोष व्यक्तित्व जनता के सामने आ जायगा।"

बाबा व्यंग्य से मुस्किराकर बोले—"रूपवती, जिस जनता से तुमने संबंध बनाया है, वह मूर्ख है। उसके क्रूर भाव को तुमने अभी कहाँ देखा है?"

"किंतु उस क्रूर भाव से डरकर भाग खड़ा होना तो कायरता है।"

"जब तक राज्य की ओर से सहायता नहीं मिलेगी, कोई सुधार संभव नहीं।"

उत्साह-भाव में रूपवती बोली—"आज राज्य की नीति भी यही है। वह समाज-सुधार को प्राथमिकता दे रही है। फिर हर बात के लिये सरकार का मुँह नहीं ताकना चाहिए। सरकार कौन है? हम और आप ही तो सरकार हैं।"

"बेटी, यह कार्य जितना सुगम तुम समझती हो, उतना है नहीं। राजदरबार में भी धनिकों का ही प्रभुत्व है। धर्म तथा समाज उन पैसेवालों की इच्छा पर ही चलता है। उन्हीं द्वारा इसकी कार्य-विधि का संचालन होता है।"

रूपवती झुँझला उठी। बोली—"तो बाबा, सुधार न हुआ, अंधकार में

पड़ी जनता को प्रकाश न मिला, तो यह देश फिर दास बन जायगा---सदा भूखा और कंगाल ही रहेगा।" कहकर वह एकाएक मौन हो गई, मानो किसी जटिल समस्या में उलझ गई हो।

कुछ क्षण उपरांत सहसा उसने पूछा---"बाबा, आपको यह कैसे पता चला कि ज़मींदार विक्रम मेरी हत्या करना चाहता है? मुझे तो ऐसा संदेह अब नहीं रहा।" तभी उसने बताया---"अपनी पारिवारिक मर्यादा को तोड़-कर एक दिन ज़मींदार की पत्नी मेरे पास आई थी। उसकी पुत्री भी साथ थी। हम दोनों में जब चुनाव संबंधी चर्चा चली, तो उसने कहा था, 'हमारी कामना है, आप सफल हों,' उसकी पुत्री तो और भी अधिक उत्साहित प्रतीत होती थी। वह चतुर और शिक्षित है। ज़मींदार की पत्नी से मेरी बड़ी सद्भावना-पूर्ण बातें हुईं।"

"यह विक्रम की चाल होगी। उसी ने उन्हें भेजा होगा। वह चतुर व्यक्ति है। तुम्हारी भावी योजनाओं को समझना चाहता होगा। तुमको भ्रम में रखने के लिये कोई जाल रचा होगा।"

रूपवती मुस्किरा दी---"मेरी योजना तो स्पष्ट है। मेरे पास कुछ भी गुप्त नहीं है। इस जीवन में मेरी अपनी कोई साध नहीं है। मेरा एक पुत्र है वह युवक है, अपना पथ स्वयं निर्मित कर सकता है। अपना भला-बुरा समझता है।"

बाबा ने सिर हिलाकर कहा---"हाँ, लखनपाल सुपात्र है। उसका मार्ग प्रशस्त है। वह अपने युग का आदर्श होगा।"

उसी समय गाँव के कुछ व्यक्ति लालमन के साथ आ गए। रूपवती ने उनका अभिनंदन किया, और आसन दिया। तभी उनमें से एक ने बताया---"ज़मींदार एक वोट पर पचीस रुपया देगा। भोजन और सवारी का प्रबंध अलग से।"

रूपवती ने हँसकर कहा---"तब तो अच्छा है। तुम लोगों को आसानी से पचीस रुपए प्राप्त हो जायँगे।"

उस व्यक्ति ने लाल होकर कहा---"वह पचीस रुपए से हमारा ईमान

ख़रीदना चाहता है, हमारा अधिकार ख़रीदना चाहता है। मूर्ख कहीं का !"

रूपवती ने कहा—"रुपए वाले का यही काम है। वह सदा से यही करता आया है। अभावमय समाज को ठगना ही उसका काम है।"

दूसरा व्यक्ति बोला— 'हम रुपया नहीं लेंगे। अपना ईमान नहीं बेचेंगे। हम थूकते हैं उस पैसे पर।"

रूपवती मुस्किरा दी—"भैया, परिस्थिति सब कुछ कराती है। तुम्हारी विवशता भी मैं जानती हूँ।"

लालमन ने आवेश में कहा—"लेकिन जिसको अपने धर्म का ध्यान है, अपनी बात पर अभिमान है, वह अपने सम्मान को क़ीमत अधिक आँकता है। वह परिस्थिति को भी कुचल देता है।"

रूपवती ने कहा—"लक्ष्मी के बापू ! भला सोचो तो, ऐसे आदमी कितने हैं ? ऐसे बहादुर तो उँगलियों पर गिने जा सकते हैं। मेरा फिर कहना है, जब आदमी पर मुसीबत आती है, भूख की ज्वाला पेट में सुलगती है, तो उसकी आत्मा कुंठित हो जाती है। ऐसी अवस्था में क्या बुद्धि साथ दे सकती है ? नहीं, मति भ्रष्ट ऐसी ही दशा में होती है; और, पैसेवालों को जैसे सौग़ात मिल जाती है। वे ऐसे ही अवसर की ताक में रहते हैं। तब अभावमय व्यक्ति को वे इच्छानुसार झुकाते हैं।"

लालमन ने कहा—"किंतु अब समय बदल रहा है। मनुष्य की विचार-धारा बदल रही है।"

रूपवती सक्रोध बोली—"मैं नहीं मानती, धन का आकर्षण अभी भी अखंड है। इस ज़हरीले साँप का फन कुचल देना सुगम नहीं।"

उदास भाव से लालमन ने कहा—"तो फिर देश कभी ऊँचा न उठेगा। स्वतंत्र होकर भी अंधकार में ही पड़ा रहेगा।"

रूपवती बोली—"निःसंदेह, लक्ष्मी के बापू! स्वार्थ सभी को सताता है। जो कल सेवक थे, देश-भक्त थे, आज स्वार्थ के पीछे उन्हें भी भागता देखा जाता है। पैसेवालों ने उन्हें भी ठग लिया है।"

लालमन ने कहा—"शहर आबाद हो रहे हैं, गाँव उजड़ रहे हैं। यहाँ के

आदमी भूखे और नंगे हो रहे हैं। किसान को ही हर कोई आकर सताता है। अभी तो स्वतंत्रता का कोई स्वरूप इन गाँवों में नहीं दिखाई देता।"

रूपवती ने कठिन भाव में कहा—"ऐसा ही रहा, तो कुछ दिन बाद यह भी नहीं दिखाई देगा। इस समय आवश्यकता तो इस बात की है कि जन-समाज चेते, अपने अधिकार को समझे। महात्मा गांधी ने भी देश को यही संदेश दिया था—उस वृद्ध संन्यासी ने देश को यही प्रेरणा दी थी !"

लालमन बोला—"आह ! वह अमर संन्यासी !"

रूपवती ने कहा—"पर इस देश ने उस व्यक्ति का रहना भी स्वीकार नहीं किया। मूर्ख समाज उस महान् आत्मा का भी काल बन गया।"

उसी समय बाबा ने कहा—"बापू का उठना हमारे लिये स्वतः ही मौत बन गया। वह महान् व्यक्ति होता, तो आज देश का स्वरूप ही दूसरा होता। आज जबकि इस देश को एक सबल नेता की आवश्यकता है, हमारा कोई नेता नहीं रहा।"

एक दूसरे किसान ने कहा—"हम अँधेरे में हैं। हमारे जीवन में भी थोड़ा प्रकाश डाल सके, हमें ऐसे नेता की आवश्यकता है।"

बाबा ने कहा—"प्रकाश आ रहा है। तुम्हारे भाग्य का सूर्य उदय होने-वाला है। मुझे पूरा भरोसा है।"

लालमन ने उदास होकर कहा—"भगवान् ही समझता है, क्या होने-वाला है।"

रूपवती ने हँसकर कहा—"तुम्हीं भगवान् हो, तुम्हीं अपने निर्माता हो, हौसला रक्खो।"

लालमन ने रूपवती को देखा, और कहा—"आज तो भगवान् पैसा है, वही निर्माता है !"

बाबा ने कहा—"उसका अस्तित्व मिट जानेवाला है।"

किसी ने बाबा के कथन का प्रतिवाद न किया। उन्हें लगा कि बाबा के कथन ने उनके अंधकारमय जीवन में आशा की एक विमल रेखा खींच दी है, जिसके सहारे वह एक काल्पनिक सुख की अनुभूति प्राप्त करते रहेंगे।

# छत्तीस

पिछले दिनों जब लखनपाल गाँव में था, एक रात्रि गाँव से बाहर, नदी के किनारे, चंद्रमा की धवल चाँदनी में, पास बैठी हुई लक्ष्मी को लक्ष्य कर आनंद-विभोर हो उठा। लक्ष्मी का वह उल्लसित यौवन मानो उसके रोम-रोम में समा गया। नदी में पैर डाले हुए, चंद्रमा की परछाईं को पानी में खेलते देखकर न-जाने किस व्यथा और निराशा के साथ लक्ष्मी ने कहा था—"आह, लखनपाल! मेरा अस्तित्व ही क्या....? हाँ, क्या ?"

भावुक हृदय लखनपाल ने, उस यौवन-भरे युवक ने अपनी बालपन की साथिन लक्ष्मी की आह सुनी, तो वह जैसे सनाका खा गया। वह एकाएक ही लक्ष्मी की व्यथा में खो गया। उसने बरबस ही अपना हाथ लक्ष्मी के सिर पर रख दिया, और उसके रेशम-सरीखे घुँघराले बालों को सहलाता हुआ बोला—"क्या है लक्ष्मी! क्या बात है ?"

लक्ष्मी ने अपनी बड़ी-बड़ी मतवाली आँखें लखनपाल की ओर उठा दीं। "कहती हूँ, अब मेरे जीवन का अर्थ क्या ? इस लक्ष्मी का मोल क्या ?" और उसने अपना सिर लखनपाल के घुटनों पर रख दिया।

लखनपाल के अंतर् में एक आँधी-सी उठ रही थी, और वह बरबस ही उसके तीव्र प्रवाह में बहता हुआ दूर पहुँच गया। सहसा ही लखनपाल ने लक्ष्मी के सिर पर अपना मुँह रख दिया, और एकाएक बोला—"तेरा भी मोल है लक्ष्मी! तेरे जीवन का भी अर्थ है—मेरे लिये।" और आवेश में उसने लक्ष्मी का सिर अपनी गोद में ले लिया। मानो उसे कोई छीने ले रहा हो उससे।

उसी समय लक्ष्मी ने कहा—"मेरा मोल हो या न हो, पर मैं यह अवश्य चाहती हूँ कि तुम्हारी गोद में......इसी तरह......"

लखनपाल ने प्यार से कहा—"इसी तरह जीवन बिता दें, क्यों ?" उसने लक्ष्मी के मुँह पर झुककर, अपनी गरम निःश्वास छोड़ते हुए, पुनः कहा—

"इसका तो तुझे अधिकार है। यह लखनपाल तेरा है, तेरा अपना ही है लक्ष्मी !"

आतुर स्वर में लक्ष्मी बोली—"मैं चाहती हूँ कि इसी गोद में मैं अपने प्राण त्याग दूँ। ऐसा सुयोग मैं क्या कभी पा सकती हूँ ? इस जीवन में भाग्य से ही तुम्हारा यह सामीप्य पा सकी हूँ।

लक्ष्मी के मुँह से यह सब सुनकर लखनपाल क्षण-भर मौन रह गया। उसे लगा कि सचमुच लक्ष्मी के मन में मेरे प्रति संदेह है, भ्रम है। निदान, उसने स्नेह-सिक्त स्वर में कहा—"लक्ष्मी ! तुझे मुझ पर संदेह है? मेरे कथन पर तुझे प्रतीति नहीं होती ? मैं आज कहता हूँ—आज तुझे सुनाता हूँ, तेरी यह भोली सूरत ही सदा मेरी आँखों में बसी रहती है। मैंने निश्चय कर लिया है, तू मेरी बनेगी, तो यह ज़िंदगी की नाव चलेगी, अन्यथा लखनपाल की यह काया खोल-मात्र रह जायगी !"

लक्ष्मी ने अपना मुँह उठाया, और सीधी बैठकर, अवल चाँदनी में रँगे हुए वन की ओर देखकर कहा—"पर तुम मेरे बनोगे, यह किसी को भी अच्छा न लगेगा लखनपाल ! तुम्हारी मा को भी नहीं।"

"मैं मा को समझा लूँगा। मैं उससे कह दूँगा, यह मेरा कर्तव्य है, और लक्ष्मी के प्रति न्याय।"

"लखनपाल !"

"जीवन के इस क्षणिक आवेश में मैं कोई ऐसी भूल नहीं करूँगा, जो पाप कहलाए—व्यभिचार कहलाए। मैं अपने कर्तव्य से विमुख कभी न होऊँगा।"

लक्ष्मी ने कोई उत्तर न दिया, मानो वह भावी जीवन के मधुर स्वप्न में खो गई हो।

लखनपाल जब शहर लौटा, तो उसे लक्ष्मी का एक लंबा पत्र मिला। उसने लिखा था—

"कल ज़मींदार की लड़की विमला मेरे पास आई थी। तुम्हारा एक पत्र भी उसके पास था। वह पत्र उसने मुझे दिखाया, और कहा—'मैंने चाहा था कि हम दोनो जीवन में एक हो जायँ, दो विपरीत धाराएँ एक

हो जायँ। लखनपाल और मेरे घर का बहुत दिनों से चला आया बैर मिट जायगा। मुझे मेरे ही विचारानुकूल पति मिल जायगा।"

पत्र में लक्ष्मी ने अपनी ओर से लिखा था—"मैं सोचती थी, जमींदार की यह लड़की रुक्ष है, दंभी है; परंतु जब से हम दोनो मिली हैं, मैं समझती हूँ, वह इतनी सरल और स्पष्ट है कि एक विवेकशील, कर्तव्यनिष्ठ नारी के अतिरिक्त उसके अंतर् में और कुछ नहीं है। वह तुम्हारे लिये अपने पिता की गोली भी खा चुकी है। गाँव में सर्वत्र इसकी चर्चा है। चुनाव-संघर्ष में विमला तुम्हारी मा का सर्वत्र समर्थन कर रही है। उसके विचारों की अपनी ही एक धारा है। उसने समझा है कि मानव की पीड़ा क्या है—कर्तव्य क्या है?"

पत्र के अंत में लक्ष्मी ने अपनी स्थिति का उल्लेख किया था। लखनपाल ने अनुभव किया कि लक्ष्मी अपनी बात पर आते ही रो पड़ी होगी। आँसुओं की बूदों से पत्र के कुछ शब्द मिट गए थे। लक्ष्मी ने लिखा था—"मैं भी कितनी मूर्ख हूँ कि बरबस तुम दोनो के रास्ते में खड़ी हो जाना चाहती हूँ। मैं नहीं समझ पाई कि तुम्हारा प्रशस्त पथ लंबा है। तुम्हारे जीवन पर उत्तर-दायित्व हैं।" उसने लिखा—"समाज मेरा यह कृत्य स्वीकार नहीं करेगा। और, मुझे पाकर तुम्हारा ही जीवन क्या सुखी रह सकेगा? तुम बिमला के हो, वही तुम्हारे अनुरूप है। मुझे लगता है, उसका जन्म तुम्हारे लिये ही हुआ है।

मानो अनजाने में ही वह पत्र के अंत में लिख गई—"लखनपाल, मैं तो अब रास्ते का एक ऐसा पत्थर हूँ, जिसे कोई भी ठुकरा सकता है। अर्थ-हीन है मेरा जीवन! मैं जानती हूँ, तुम मुझे नहीं मिल सकोगे। तुम जिस ऊँचाई पर खड़े हो, क्या वहाँ से नीचे आकर मेरे पास तक आ सकोगे? नहीं, तुम न आ सकोगे। तुम भ्रष्ट हो जाओगे, वासना के दास कहलाओगे, अपने लक्ष्य से गिर जाओगे।"

पत्र पढ़कर लखनपाल अपने को स्थिर न रख सका। वह इतनी बात सुगमता से समझ गया कि लक्ष्मी अधीर है। उसके कोमल हृदय पर जैसे चोट-पर-चोट पड़ रही है; अतएव लखनपाल पुनः गाँव लौट आने के लिये चंचल

हो उठा। उसने अपने पहले पत्र में मा को लिखा था कि मैं गाँव आकर चुनाव-कार्य देखना चाहता हूँ, किंतु उसको मा ने लिखा—"तुम्हारे लिये चुनाव गौण है। यह तुम्हारा ध्येय नहीं है। तुम अपने कर्तव्य को ओर देखो, अपना पथ प्रशस्त करो।" किंतु, जब लक्ष्मी का पत्र उसे मिला, वह स्थिर न रह सका। उसने मा को पुनः लिखा—"मैं आ रहा हूँ। नौकरी करना ही मेरा लक्ष्य नहीं है। मुझे और भी काम करने हैं। गाँवों में सुधार-कार्य करना मेरा उद्देश्य है।" फल-स्वरूप, कॉलेज से लंबी छुट्टी लेकर लखनपाल गाँव पहुँच गया। उसने आते ही मा से कहा, वह चुनाव को लक्ष्य मानकर नहीं चलेगा। अपना अलग काम करेगा।"

रूपवती ने पुत्र की दृढ़ता देखकर अपना अंकुश हटा लिया, और उसका रास्ता छोड़ दिया।

एक दिन लखनपाल ने मा से कहा—"मा, अब लक्ष्मी मेरे साथ रहेगी। वह भी मेरे साथ काम करेगी।"

रूपवती ने कोई आपत्ति न की, और उसे सहर्ष स्वीकृति दे दी।

लखनपाल सोचता था कि जिस प्रकार लक्ष्मी की मा ने अपनी पुत्री को उसके साथ समाज में काम करने की आज्ञा दे दी, स्वयं उसकी मा उस प्रकार सहमत न होगी, लेकिन आशा के विपरीत, मा की सहमति पाकर, वह एक नई समस्या में उलझ गया। वह यह निर्णय नहीं कर पा रहा था कि लक्ष्मी के लिये यह पथ उचित होगा ? क्या उसके साथ जन-सेवा में लगना ही लक्ष्मी के लिये श्रेयस्कर होगा ? उन दोनों का इस प्रकार मिलना ही क्या कर्तव्य की इतिश्री होगी ? पिछली बार ही लक्ष्मी ने उससे कहा था—"लखनपाल, तुम मुझे मेरा पथ दिखा दो, मुझे रास्ते पर डाल दो, केवल मेरा उद्देश्य मुझे बता दो। किंतु उसका मार्ग ढूँढ़ने में लखनपाल स्वयं खो गया। उस नारी का क्या उद्देश्य हो सकता है, उस युवती का क्या कर्तव्य हो, यही उसके मस्तिष्क में घूम रहा था। इतना पढ़ने-लिखने के बाद भी लखनपाल में इस समस्या का समाधान न कर पा रहा था। वह जिस फलितार्थ की खोज में था, वह उसे प्राप्त नहीं हो रहा था।

उसे याद हो आया कि नगर छोड़ने से एक दिन पूर्व, वह अपने पूर्व-परिचित मास्टरजी के पास पहुँचा था। इधर बहुत दिनों बाद वह उनके पास गया था। उसे देखते ही वह बड़े प्रसन्न हुए। उस प्रतिभावान् युवक को देखकर उनकी पत्नी ने सहज भाव से प्रश्न किया—"अरे लखनपाल, अब विवाह कब करेगा? अकेला ही रहेगा क्या, घर न बसाएगा?"

गुरु-पत्नी के मुँह से विवाह की बात सुनकर लखनपाल अनायास ही मुस्किरा दिया। एकाएक उसने अपना कोई मत नहीं दिया।

तभी मास्टरजी ने उसकी ओर देखकर कहा—"हाँ, तुम्हें अब विवाह कर लेना चाहिए लखनपाल!"

लखनपाल ने कहा—"क्या यह आवश्यक है मास्टरजी?"

मास्टरजी गंभीर हो गए—"इस जीवन में सभी कुछ आवश्यक नहीं होता, परंतु मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज की रीति का अनुसरण करना उसका कर्तव्य है। विवाह भी उसी की एक क्रिया है एक सामाजिक कर्तव्य है।"

पत्नी ने कहा—"और, धार्मिक कर्तव्य भी?"

मास्टरजी ने कहा—"मैं इतनी गहराई में नहीं जाता। विवाह कुछ और हो, तो हो, नर और नारी के जीवन को सुखी बनाने का साधन अवश्य है।"

लखनपाल ने कहा—"मास्टरजी, विवाह वासना और भोग के अतिरिक्त और क्या सिखाता है? मानव-जीवन का यही तो ध्येय नहीं? आज विवाहित जीवन कितना विषम हो गया है व्यक्ति के लिये!"

मास्टरजी ने कहा—"तुमने चित्र का एक ही छोर देखा है। वैसे यह मैं स्वीकार करता हूँ कि आज यह एक समस्या अवश्य है, परिस्थितियों ने सभी कुछ विपरीत कर दिया है।"

पत्नी ने कहा—"मनुष्य ने अपना नैतिक धर्म छोड़ दिया है। स्त्री को भोग की सामग्री बना लिया है, इसी से विवाह भार-स्वरूप प्रतीत होता है।"

इतना सुनकर मानो मास्टरजी अप्रतिभ हो गए। वह बोले—"इस परंपरा का सूत्रपात चिरकाल से हुआ है। हज़ारों वर्ष पूर्व का इतिहास

बताता है कि सदा ही एक ने दूसरे को छलने का प्रयत्न किया है। नारी का दोष कम नहीं रहा।" उन्होंने लखनपाल की ओर देखकर कहा—"भाई, तुम्हें सांसारिक व्यक्ति बनकर रहना है, तो विवाह ज़रूर कर लो। विवाह एक समझौता है, समन्वय है।" इतना कहते हुए वह गंभीर हो गए, और बोले—"किंतु इस समन्वय के अंतकाल में मनुष्य को अपना बहुत कुछ दे डालना पड़ता है। मेरा मत है, विवाह के उपरांत मनुष्य और अधिक चरित्र-वान् रह सकता है। समाज में आदर और विश्वास का पात्र समझा जाता है।"

लखनपाल ने कहा—"मास्टरजी, संभव है, आप ही की बात सत्य हो, कदाचित् विवाह हमारी इच्छाओं का समर्थन हो, विरोध नहीं।"

सुनते ही मास्टरजी ने आवेश-पूर्ण स्वर में कहा—"विवाह विरोध कदापि नहीं हो सकता। उसका नैतिक पहलू भ्रष्ट कर दिया गया है।" इतना कहते हुए मास्टरजी का स्वर तीव्र तर हो गया—"विवाह का वास्तविक अर्थ भुला दिया गया। उसका महत्त्व वासना की आग में जल गया है।"

पत्नी बोली—"हमारे ऋषियों द्वारा निर्मित विधियों पर कौन चला ? अन्यथा विवाह का रूप ऐसा विकृत न होता।"

मास्टरजी ने तेज़ स्वर में कहा—"ऋषिगण मोटी-मोटी पोथी तो लिख गए, क्रियाएँ भी बता गए, परंतु सोने-चाँदी का वे भी तिरस्कार न कर सके। राजाओं को उन ऋषियों ने मुखरित किया। उन्होंने साधुवाद दिया। उनसे दान प्राप्त कर उन्हें दानी और यशस्वी सिद्ध किया।" वह बोले—"इस देश का वह सबसे अशुभ दिन था जब ऋषियों का आशीष पाकर, उन्हें ही अगुआ बनाकर राजा-महाराजाओं ने हीरे-मणियों की बौछारें आरंभ कीं। उन्होंने यह प्रदर्शित करना चाहा कि विश्व की यही अमूल्य निधि है। जिसके पास संपदा है, वही महान् है—निर्माता है। महान् कर्ण का अस्तित्व इसी-लिये है कि वह दानी था।" मास्टरजी ने साँस भरकर पुनः कहा—"ब्राह्मणों ने वह दान स्वीकार कर केवल यही सिद्ध किया कि वे भी याचक हैं—सोने-चाँदी के भूखे हैं ! फल-स्वरूप, साधारण समाज भी इसी प्रतियोगिता में लग गया। प्रत्येक व्यक्ति सोने-चाँदी की कल्पना करने लगा। लूट-खसोट

का बाजार भी गरम हो गया। जो पुरुष नारी को अधिक सजीली और वैभव-संपन्न बना सकता था, वही सफल पति माना गया। नारी ने भी उसी को स्वीकार किया।"

लखनपाल ने कहा - "वह दूषित प्रवाह था - मानव के पतन का आरंभ।"

"नि:संदेह !" मास्टरजी बोले—"हमने नर और नारी के सांस्कृतिक महत्त्व को भुला दिया। हमारे ऋषियों ने बताया था कि विवाह संतान-प्राप्ति के निमित्त है, न कि कामेच्छा की तृप्ति के लिये। किंतु...!"

मास्टरजी ने फिर कहा—"भाई, तुम युवक हो, समर्थ हो। अच्छा है, विवाह करो, घर बसाओ, मा की इच्छा पूरी करो।"

लखनपाल ने कहा—"मैं गाँव जा रहा हूँ। पहले अपने मन की एक आकांक्षा पूर्ण करना चाहता हूँ। पर सेवा-पथ में उतरना चाह रहा हूँ। समय आने पर विवाह के विषय में भी विचार करूँगा।"

हर्षित होकर मास्टरजी बोले—"अच्छा है—सुंदर !"

"मैं अपना कार्य गाँवों में करने को सोचता हूँ। अंधकार वहीं है। वहीं प्रकाश की आवश्यकता है। मैं कल ही जा रहा हूँ। आपसे बिदा लेने चला आया था।"

मास्टरजी ने कहा—"चुनाव भी तो चल पड़े हैं। तुम्हारी मा भी खड़ी हुई हैं। सुना है, जमींदार से टक्कर है। खूब ! एक के पास सेवा-बल और दूसरे के पास धन-बल !"

लखनपाल ने विरक्त भाव से कहा—"किंतु मैं चुनाव के गोरखधंधे में नहीं पड़ूँगा। मा की भी यही इच्छा है।"

हर्षित भाव से मास्टरजी बोले—"यह तो अच्छा है। श्रेयस्कर है। तुम्हारी माता महान् हैं।"

लखनपाल ने कहा—"मेरी मा ने नया जीवन पाया है। सम्भवत: किसी पूर्व-जन्म के संगृहीत पुण्य का ही यह प्रताप है।"

मास्टरजी ने गद्गद कंठ से कहा—"ठीक ही है। अब विवाह करके घर बसाओ, और अपनी मा की यह साध भी पूरी करो।"

लखनपाल ने मुस्किराकर कहा—"मैं मा की साध अवश्य पूरी करूँगा।

आपको आश्चर्य होगा, मा मुझे अभी विवाह-बंधन में बाँधने की इच्छुक नहीं है। उनको सबसे बड़ी साध है कि उनका बेटा उन्हीं को भाँति दीन-दुखियों की सेवा में अपना सब कुछ अर्पण कर अपना जीवन सफल करे।''

गाँव आकर जब लखनपाल ने अपनी आशा के विपरीत मा से इस बात की आज्ञा प्राप्त कर ली कि वह लक्ष्मी को साथ लेकर काम करे, तो उसे बड़ा हर्ष हुआ, किंतु वह एक नई समस्या में उलझ गया। सेवा-पथ पर चलकर वासना का पृष्ठ-पोषण करना क्या अपना गला घोटना न होगा ? जनता की भावना के साथ विश्वासघात न होगा ?

निदान, कई दिनों तक लखनपाल इसी समस्या की गहराई में डूबा रहा—अंधकार में भटकता रहा। तभी, एकाएक उसे सहारा मिला—संध्या के झुटपुटे में हाथ में लाठी और बग़ल में छोटा-सा बिस्तर लिए सरदार मकान के द्वार पर आ खड़ा हुआ।

# सैंतीस

इस बार सरदार अतिशय कृश और गंभीर हो गया था। लगता था, जैसे समाधि-गृह से निकलकर आया हो। मानो कोई कड़ी तपस्या की हो, जिसका तेज उसके दुर्बल मुख पर चमक रहा है। उसी दिन रूपवती एक दूरस्थ गाँव से भाषण देकर लौटी थी। उन दिनों उसके घर पर आने-जाने-वालों की भीड़ लगी रहती थी। उसकी चौपाल चुनाव-प्रचार में काम करने-वालों का निवास-स्थान बन गयी थी। ज़मींदार के यहाँ कार्यकर्ताओं को स्वादिष्ठ व्यंजन और मदिरा मिलती थी, परंतु रूपवती के साथियों को दाल-रोटी और चने चबाकर ही अपना कार्य पूर्ण करने की साध थी।

ऐसे ही समय एकाएक सरदार को अपने मध्य पाकर रूपवती ने संतोष की साँस ली। वह देखते ही हर्षित होकर बोली—"तुम आ गए भैया, अच्छा ही हुआ। तुम्हारी इस समय बड़ी आवश्यकता थी।"

सरदार ने कहा—"मैं सब समाचार पा चुका हूँ। चुनाव-संघर्ष बढ़ रहा है, यह भी सुन चुका हूँ।"

रूपवती ने झुँझलाकर कहा—"वास्तव में भैया, यह खेल भद्दा है। सोचती हूँ, सेवक के लिये इस मार्ग में क्या रक्खा है?"

सरदार मुस्किरा दिया—"यही होना था। तुम्हें भी अपनी पार्टी के हाथों में खेलना था—तुम्हारे द्वारा ही ज़मींदार को हारना अभीष्ट था।"

रूपवती ने कहा—"ज़मींदार नहीं हारेगा। वह अपने को लुटा देगा, और जनता की विवशता का वह पूर्णरूप से लाभ उठाएगा।"

यह सुनकर सरदार गंभीर भाव में क्षण-भर मौन रहा। तदनंतर बोला—"ऐसा नहीं होगा रूपवती! मैं जानता हूँ, ज़मींदार का पाप इस चुनाव में अपनी पूर्णाहुति दे देगा। वह हारेगा।" उसने पुनः कहा—"तुम सोचती हो, दूर पर्वतीय कंदराओं में रहकर मैं कुछ नहीं जान पाया? मुझे तो सब पता

चलता रहा है। मैं सब सुनता रहा हूँ। समय की माँग का जमींदार मुक़ाबला न कर सकेगा।"

रूपवती ने कहा—"जो हो, मैंने अपना क्षेत्र चुन लिया है। लखनपाल भी आ गया है। वह भी गाँव में रहने के लिये कहता है।"

सरदार ने कहा—"वह ठीक कहता है। काम तो यहीं है। शहरों में व्यर्थ का प्रमाद छोड़ और क्या रक्खा है?"

उसी समय लक्ष्मी के साथ लखनपाल वहाँ आया। सरदार ने उन दोनो को भरपूर दृष्टि देखा। उस युगल जोड़ी को देख उसे कुछ अच्छा-सा लगा। दोनो ने सरदार को प्रणाम किया। सरदार ने आशीष दी।

रूपवती ने कहा—"अरे लखनपाल, तेरे मामा भी तेरी बात का समर्थन करते हैं। कहते हैं, गाँवों में ही सेवा-कार्य का क्षेत्र है।"

लखनपाल ने कहा—"मा, बात ठीक है, ग़रीबी यहाँ है, उत्पीड़न यहाँ। जमींदार और सेठ-साहूकारों ने यहाँ के ही समाज को पूर्णरूप से दास बना रक्खा है। लगता है कि उनका मानव-रूप बिलकुल ही छीन लिया गया है।"

लक्ष्मी बोली—"यहाँ का नारी-समाज तो घोर अंधकार में है। वह सदियों पूर्व की बात सोचती है।"

सरदार मुस्किरा दिया—"भारत का उज्ज्वल भविष्य तुम लोगों की ओर टकटकी लगाए देख रहा है। उसका भार तुम्हारे ही कंधों पर है।"

लक्ष्मी ने कहा—"पर मामा, तुम्हारा आशीष हमारा पथ-प्रदर्शन करेगा।"

सुनकर सरदार ने ऊपर आकाश की ओर देखा। वह जैसे लक्ष्मी की बात में तन्मय हो गया।

उसी समय रूपवती ने लक्ष्मी का परिचय दिया—"यह लालमन की लड़की है—लक्ष्मी!"

सरदार ने कहा—"अच्छा, अच्छा!" तदनंतर उसने लखनपाल को लक्ष कर कहा—"लक्ष्मी योग्य है। समझदार है। दिखता है कि मार्ग पर चलना जानती है। बताओ, तुम लोगों का क्या कार्य-क्रम बना है? मैंने सुना

है, तुम दोनो साथ काम करते हो। परंतु यह सोच लो, केवल बातों से इस देश का भला नहीं होगा। उससे समाज को कुछ नहीं मिलता।"

रूपवती ने कहा—"आज की समस्याएँ जटिल हैं। हमें कमर कसकर काम करना होगा।"

सरदार बोला—"जब तक शासक-वर्ग अधिक उदार और विवेकशील नहीं बनेगा, इस देश का भला न होगा, यह भी सत्य है। परंतु कठिनाई यह है कि वही धनिकों के हाथ में खेल रहा है।"

रूपवती ने कहा—"लेकिन भैया, पैसा ही तो जीवन का संपादन करता है, मनुष्य का पथ-प्रदर्शक बनता है। बिना पैसेवालों के देश की गाड़ी कैसे चलेगी ?"

चंचल भाव में सरदार ने कहा—"यह तो पैसे को देखने की परंपरा है। राज्य चाहे, तो मनुष्य की इस विचार-धारा को भी बदल सकता है।"

रूपवती बोली—"ऐसा कम दीखता है। आज विज्ञान के इस युग में पैसा ही सर्वमान्य है।"

लखनपाल ने कहा—"मा, इस वैज्ञानिक-युग ने जहाँ हमें कुछ दिया है, हमारा अपहरण भी किया है। मनुष्य को मशीन का दास बना दिया है। इस मशीन-युग ने मनुष्य का महत्त्व ही घटा दिया है। बेकारी बढ़ाने में इस मशीन का विशिष्ट भाग रहा है। मशीन और मनुष्य की प्रतियोगिता में मनुष्य हार गया है। भूख, बेकारी और दुश्चिंताओं का बोझ बेचारे के सिर पर बरबस लादा जा रहा है।"

उसी समय, अपने स्वर पर कठोरता लाकर सरदार ने कहा—"इसीलिये पापाचार बढ़ा है। चोर, डाकू भी मनुष्य इसी कारण बन गया है।"

लखनपाल ने कहा—"मामाजी, सच्चाई यह है, आज का योरप नए संसार का निर्माण कर रहा है। उसी का निर्देश शेष भू-खंड, बिना अपनी परिस्थितियों को देखे, मान रहा है।"

विरक्त भाव से सरदार ने कहा—"प्रलय की वेला उपस्थित है। नाश अवश्यंभावी है।"

रूपवती ने साँस भरकर कहा---"अजीब स्थिति है।"

रूपवती ने साँस भरकर कहा---"ऐसा कुछ भी तो नहीं है मा ! किसान अपना काम करे, जमीन जोते और आनंद से जीवन व्यतीत करे। व्यर्थ के राग-द्वेष में वह क्यों पड़े।"

रूपवती बोली--"बेटा, तूने अभी देखा कहाँ है ? किसान ही तो आज सर्वाधिक दुखी है--पद-दलित, साधन-हीन।"

लखनपाल ने कहा---"मा, वह ऐसा बनाया गया है। विदेशियों ने अपना पेट भरने के लिये भारतीय किसान के पेट पर पत्थर मारा था।" कहते हुए वह एक क्षण रुका, और पुन: बोला-- 'विदेशी गए, पर उनके एजेंट यहीं रह गए। वे यहीं के वासी हैं। उनकी मनोवृत्ति को बदलना क्या आसान है ? इस गृह-युद्ध के लिये हम लोगों को प्रस्तुत होना है। इस आग में जाने कितनों को जल जाना होगा। आजादी का युद्ध तो हमने लड़ा, परंतु रोटी-कपड़े का युद्ध अभी सामने खड़ा है। जन-क्रांति का यह दावानल कभी भी भड़क सकता है। इस देश का महानाश कर सकता है।"

सरदार ने कहा--"मेरे जीवन के इन शेष दिनों में---बुढ़ापे के इस दौर में--जो कुछ भी मेरे पास होगा, वह सब भेंट कर दूँगा भाई ! मैं भी पीछे नहीं रहूँगा।"

लखनपाल ने कहा--"आप तो आगे रहेंगे ही। आपके पद-चिह्नों पर ही तो हमें चलना है !"

उसी समय सरदार ने लक्ष्मी की ओर देखा और उससे पूछा---"और तू बेटी ? तू तो लखनपाल को पूरा योग देगी !"

लक्ष्मीने ने धीरे से कहा---"हाँ मामाजी !"

सरदार ने कहा "पथ कठिन है। तू कोमल है, तेरा क्षेत्र तो घर ही है।"

रूपवती ने हँसकर कहा---"इसकी रुचि है, तो इसकी इच्छा ही सही।"

इतना सुनकर सरदार ने जाने कैसी रहस्यमयी दृष्टि से रूपवती की ओर देखा, फिर कहा---"यह गाँव है। नगर और गाँव की परंपरा में भेद है।

वैसे नियम सर्वत्र समान हैं। सर्वत्र की व्यापकता को सभी ने स्वीकार किया है। मेरी बात का ग़लत अर्थ न लगाना। फिर भी बद अच्छा बदनाम बुरा।"

रूपवती ने कहा—"ठीक है। जिस समाज का चरित्र नहीं, वह क्या जीवित रहेगा? विदेशियों से यही शाप हमको मिला है।'

यह बात सुनकर तुरंत ही, लखनपाल बोला—"न, मा! हमारा चरित्र स्वयं ही नष्ट हुआ है। विदेशियों ने उससे लाभ उठाया। इस देश के राजा यदि विलासी न होते, साक़ी और शराब के उपासक न बने होते, तो क्या विदेशी इस देश पर अपना शासन जमा पाते? साहस और त्याग की प्रतिमूर्ति राजपूत राजा भी इसी अधोगति को प्राप्त हुए थे!"

सरदार ने कहा—"किंतु वह अवस्था तो अब पार हो गई, इस वर्तमान युग में हम तुम में यदि चरित्र की शुद्धता नहीं, तो क्या किसी उद्देश्य की पूर्ति हो सकेगी? दिखता है, अपनी चरित्र-दुर्बलता के कारण ही हम अतिशय संदिग्ध बन गए हैं। सभी ओर संदेह से ही देखते हैं।

लखनपाल ने कहा—"यह हमारी शिक्षा का दोष है। भौतिक धरातल विक्षुब्ध हो गया है! बहन-भाई भी आज संदेह की दृष्टि से देखे जाते हैं।"

उसी समय सरदार ने साँस भरी—"इस लक्ष्मी के साथ भगवान् ने अच्छा नहीं किया।" उसने लक्ष्मी की ओर बड़ी ही ममत्व-पूर्ण दृष्टि से देखते हुए कहा।

सहसा लक्ष्मी ने रूपवती की ओर देखकर कहा—"चाची, मैं जाती हूँ।"

रूपवती बोली—"हाँ, जाओ बेटी, आराम करो।"

लक्ष्मी चली गई।

सरदार ने लखनपाल को लक्ष्य कर कहा—"मैं नदी पर जा रहा हूँ। चलोगे न?"

लखनपाल सरदार के साथ चलने को उद्यत हो गया।

सहसा रूपवती ने सरदार को लक्ष कर कहा—"आज दिन में एक आदमी बस्ती में आया था। तुम्हारे बारे में पूछ-ताछ कर रहा था। दिखता है, जमींदार को तुम्हारा पता चल गया है। वह ख़बर पा गया है, तुम आए हुए हो। सुनती हूँ, पुलिस का ध्यान तुहारी ओर बराबर लगा है।"

सरदार मुस्किराया। "मुझे पता है। मेरे आदमियों ने मुझे सब-कुछ बता दिया है। मेरे यहाँ आने का अर्थ एक महत्त्व रखता है।" वह बोला—"रूपवती, मेरे जीवन का जो लक्ष है, आज रात तुमको बताना है। मुझे दिखता है कि अंत समीप है। फाँसी का फंदा मेरा आवाहन कर रहा है।"

रुद्ध कंठ से रूपवती ने कहा—"भैया!"

सरदार ने कहा—"बहन, मौत का मुँह मैंने बहुत बार देखा है। अब मुझे उससे भय नहीं लगता।"

रूपवती ने कहा—"तुम्हारा जीवन तुम्हारा नहीं, दूसरों का है। तुम्हारे लोप होने से न जाने कितनों का अहित हो सकता है। इस रूपवती का तो सहारा ही टूट जायगा।"

जाते हुए सरदार ने पुनः मुस्किरा दिया। "तुझे भगवान् ने बेटा दिया है।" कहते हुए वह बाहर चला गया। लखनपाल भी साथ हो लिया।

रात हो गई थी। चारों ओर चाँदनी छिटकी थी। दोनों नदी-तट पर पहुँच गए। सरदार ने हाथ-मुँह धोकर एक स्थान पर आसन लगाया, और संध्या करने बैठ गया। आधा घंटे बाद जब वह निवृत्त हुआ, तो देखा, लखनपाल पास ही एकाग्र होकर चंद्रमा की ओर देख रहा था उसी समय सरदार ने पुकारा—"लखनपाल!"

लखनपाल ने चौंककर कहा—"जी मामाजी!"

"आओ, हम भी बात कर लें। जीवन की गहराई समझें।"

जब लखनपाल पास आकर बैठा, तभी सरदार ने दूर आकाश मे खिलते हुए चंद्रमा की ओर देखते हुए कहा—"भाई, तुम तो प्रोफ़ेसर हो, बहुत पढ़े हो, जानता हूँ कि तुम मुझसे अधिक जीवन का अर्थ समझते हो।"

लखनपाल ने कहा—"मामाजी, किताबों में जीवन का पाठ नहीं मिलता। केवल संकेत मिलता है। आपने वास्तविक जीवन का अध्ययन किया है।"

"हाँ, संघर्षमय जीवन देखा है। उसके उतार-चढ़ाव को समझा है।"

"वही यथार्थ है—जीवन का श्रेष्ठ पाठ है।"

"जीवन का पाठ मुझे बाबा ने दिया। कोई नहीं जानता कि यह बाबा

कौन हैं; मैं भी केवल इतना ही जानता हूँ कि उन्होंने मेरे समान अनेक पथ-भ्रष्ट पथिकों को रास्ता बताया है। बाबा मानवता के मूक सेवक हैं। सेवा ही उस वृद्ध संन्यासी का ध्येय है। उस जीर्ण और सौम्य मूर्ति के अंतर में जो आग धधक रही है, उसके शोलों से मानव की आह के अतिरिक्त और कुछ नहीं निकलता। वह वीतराग वह निर्लोभ....." कहते-कहते उसका कंठ अवरुद्ध हो गया। कुछ क्षण रुककर सरदार ने पुनः कहा—"उसने मुझे गड्ढे से उठाया, और ऊँचे पर्वत पर बैठा दिया। उन्होंने बरबस ही मेरा जीवन प्यार के साथ अपने हाथों में ले लिया।"

"मैंने भी बाबा की भावना को भली भाँति समझा है।"

"तुम्हारी मा का जीवन बदलने में भी बाबा का हाथ रहा है। उन्होंने ही उसके अशांत मन को थपथपाया है।"

सुनकर लखनपाल ने अपना मत नहीं दिया। सिर झुकाकर चुपचाप सरदार की बातें सुनता रहा।

तभी सरदार ने प्रश्न किया—"अब तुम बताओ, तुम्हारा क्या इरादा है? क्या विवाह........लक्ष्मी?" एकाएक सरदार का स्वर कठोर हो उठा—"देखो, लखनपाल! अंतर् की बात को छिपाना पाप है। यदि कोई इच्छा हो, तो उसे प्रकट कर देना अच्छा है। आज लक्ष्मी को देखकर मुझे ऐसा लगा कि तुम दोनों ने जीवन के किसी स्थल पर समझौता कर लिया है।"

"नहीं, मामाजी! कोई समझौता नहीं किया। यह प्रसंग कभी उठा ही नहीं।"

"तो इस ढील का रखना क्या अच्छा है? निश्चय कर लो। जो इच्छाएँ हैं, उन्हें एक सूत्र में बाँध लो।" इतना कहकर सरदार रुका, और तदनंतर लखनपाल की ओर देखकर कहा—"मुझे रूपवती का पत्र मिला था। उसमें तुम्हारा भी उल्लेख था, लक्ष्मी का प्रसंग भी। तुम सोचते होगे कि तुम्हारी मा कुछ नहीं समझती। परंतु उस बुद्धिमती नारी को सभी कुछ पता है। उसने अनायास ही यह जान लिया है कि लक्ष्मी की ही प्रेरणा और आकर्षण ने तुम्हें नगर से यहाँ बुला लिया है। तुम युवा हो, अपना भला-बुरा समझते हो, अतः तुम्हारी मा ने भी अब अधिक विरोध करना पसंद

नहीं किया।" सरदार ने साँस भरी और पुनः कहा—"देखो भाई, तुम्हें विवाह करना है, तो कर लो। लक्ष्मी से ही कर लो। परंतु, इतना मैं तुमसे कहता हूँ, जो ध्येय तुम अपने साथ लिए हो, वह फल न सकेगी। तुम्हारी पूजा अधूरी रह जायगी।"

एकाएक लखनपाल पीड़ित स्वर में चीख उठा—"मामाजी....."

सरदार ने आतुर स्वर में कहा—"मेरा यह कहना तो कदापि नहीं कि विवाह जीवन का पाप है। न, यह भी एक कर्म है। परंतु आज की जो परंपरा है, भला उसमें ऐसी संगति कहाँ ? ऐसा विश्वास कहाँ, इतनी सुविधा कहाँ कि मनुष्य गृहस्थ बनकर भी सेवा-क्षेत्र में उतर सके, और जन-समाज का प्रिय बना रहे।"

लखनपाल ने धीमे स्वर में कहा—"किंतु, यह असंभव तो नहीं है। लगन हो, तो आदमी गृहस्थ बनकर भी कर्तव्य से नहीं डिग सकता आखिर इस समाज का व्यक्ति विवाहित होने के कारण उपेक्षित किस प्रकार ठहराया जा सकता है !"

बात सुनी, तो सरदार किंचित आश्चर्य से लखनपाल की ओर एकटक देखने लगा।

तभी लखनपाल ने फिर कहा—"मामाजी, विवाह करने का कोई विचार मैंने अभी नहीं किया है। लक्ष्मी से भी मैंने ऐसा कुछ नहीं कहा, और न उसने ही ऐसा कोई मंतव्य प्रकट किया है।"

सरदार दृढ़ स्वर में बोला—"न उसने कुछ बताया है, न तुमने ही। तुम दोनों ने जो कुछ कहा-सुना है, वह पर्याप्त है। उसने कहा—'देखो भाई, मैं तुम्हारे तर्क की बात को न मानकर, इतना मानता हूँ कि तुम दोनों समर्थ हो। एक दूसरे के प्रति सदाशय हो। यदि तुम विवाह की बात नहीं उठाते, तो मैं इतना ही कहूँगा कि तुम्हारा यह कर्म व्यभिचार में परिणत हो जायगा। समाज की दृष्टि में यही नैतिक अपराध होगा।"

लखनपाल ने धीरे से कहा—'मैं समझता हूँ। मानता हूँ आपकी बात।"

सरदार ने कहा—"और यह भी मानते हो कि लक्ष्मी को साथ लेकर जन-

सेवा का कार्य करने का अर्थ लोगों की दृष्टि में यही होगा कि तुम दोनों एक दूसरे के प्रति आकर्षित हो। तुम गाँववालों के सामने केवल प्रेमी-प्रेमिका होगे, भाई-बहन नहीं। जो लोग यह बात आज मन में लिए हैं, कल अवसर पाते ही खुल्लमखुल्ला तुम्हें बदनाम कर सकते हैं। लोक अपवाद जब उठता है, तो क्या आसानी से दबाया जा सकता है?"

चिंतित स्वर में लखनपाल ने कहा—"मैं मानता हूँ।"

सरदार बोला—"भावना में मत बहो। कर्तव्य देखो, चाहो, तो विवाह कर लो। फिर समाज के काम में लगो। इस समाज में गंदगी मत पैदा करो। लोगों को उँगली उठाने का अवसर मत दो।"

साँस भरकर लखनपाल ने कहा—"मैं शीघ्र ही निर्णय करूँगा। लक्ष्मी का भी मत लूँगा। हर अवस्था में मैं जन-कार्य से पीछे नहीं हटूँगा मामाजी!

सरदार ने उठते हुए कहा—"मुझे तुम पर भरोसा है। तुम्हारी मा को भी तुमसे बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं।"

लखनपाल ने कहा—"मैं मा की इच्छा के लिये अपना जीवन होम दूँगा, किंतु, उनके हृदय को कभी ठेस न लगने दूँगा।"

"तुम्हारी मा को तुम्हारे ऊपर पूरा भरोसा है। उसे अपने पुत्र पर गर्व है। सरदार ने प्रसन्न होकर कहा, और लखनपाल को साथ लेकर गाँव की ओर चल दिया।

---

# अड़तीस

अब तक अपने जीवन में रूपवती जिन व्यक्तियों के संपर्क में आई, उनमें सरदार ही एक व्यक्ति था, जिसके प्रति अपार श्रद्धा और अपनत्व की भावना उसके मन में घर कर गई थी। जाने कितनी बार उसके मन में यह विचार उठा कि यदि वह उस महान् व्यक्ति पर अपना सर्वस्व भी न्योछावर कर पाती, तो भी पर्याप्त न होता। रूपवती ने यह निकट से देखा, और अनुभव किया कि सरदार ने अनायास ही अपनी मानवीय आकांक्षाओं का गला घोंट दिया है। वह सोचती, हाय! इस व्यक्ति को जीवन में कभी किसी का स्नेह नहीं मिला। कभी किसी नारी ने अपना प्रेम और अभिसार उसे भेंट नहीं किया, और, वही सरदार जाने कितनी नारियों के उत्थान की चिंता लिए इस विषम जीवन का अथाह सागर पार कर रहा है। वह इस भँवर-जाल में इसीलिये फँसा है—इसीलिये तो संघर्ष कर रहा है—कि जन-कल्याण वह अपने जीवन का लक्ष्य बना चुका है, अन्यथा सरदार को किस वस्तु की कमी थी? उसे किस बात का अभाव था? डाके में उसने लाखों रुपया प्राप्त किया, और मुक्त-हस्त समाज के दुखी नर-नारियों में बाँट दिया। वह जिस प्रकार अपने जीवन के प्रथम प्रहर में एकाकी और शून्य था, उसी प्रकार आज भी जीवन की इस दोपहरी में अपने पथ पर अडिग चल रहा है। सरदार ने न कभी शऊर से वस्त्रों का विलास किया, न कभी स्वादिष्ठ भोजन पाकर जिह्वा का आनंद लिया। जिस वासना के पीछे आज का मानव-समाज जानवरों के समान जीवन की एक तुच्छ आकांक्षा में अपने को खपा बैठा है, रूपवती ने अनुभव किया, सरदार उससे सदा शून्य रहा।

उसे याद आया, कई वर्ष पूर्व, जब एक बार सरदार एक बड़ा डाका डालकर लौटा था, तो साथियों को उनका हिस्सा देकर वह सीधा रूपवती

के पास पहुँचा था। उस धन को देखकर नितांत जिज्ञासु भाव से रूपवती ने कहा था—"भैया, इतना धन पाकर भी तुम परेशान हो ? तुम तो अनायास ही लक्षाधीश बन सकते हो ! मैं कहती हूँ, तुम इस संघर्षमय जीवन से तटस्थ क्यों नहीं हो जाते, विवाह क्यों नहीं कर लेते ?"

अपने स्वभाव के विपरीत सरदार उस बात को सुनकर रोष से नहीं भरा। वह मुस्किरा दिया था। रूपवती की ओर देखकर नितांत भावनामयी वाणी में उसने कहा था—"बहन रूपवती ! ठीक तो है, तुझे यही कहना उचित था—स्वाभाविक था। कई और बहनों ने भी मुझसे यही कहा। उन्होंने समर्पण का भाव भी प्रदर्शित किया।" सरदार ने नितांत गंभीर होकर कहा था—"किंतु, मैं तुझसे ही पूछता हूँ, क्या यही मानव के लिये श्रेयस्कर है—यही लक्ष्य है ! विश्वास कर रूपवती, मैंने आज तक किसी नारी को इस दृष्टि से नहीं देखा। मैं ऐसी कल्पना भी न कर सका।"

उसी समय मानो नारी-रूप में पुरुष को उद्वेलित करने की भावना से पूरित होकर रूपवती ने कहा था—"तो क्या तुम्हें नारी के प्रति कोई आकर्षण नहीं ..... कोई....."

धीमे स्वर में सरदार ने कहा था—"शायद नहीं।"

किंतु रूपवती को जैसे विश्वास ही न हुआ। उसने सरदार को फिर टकोरा—"नहीं, तुम कायर हो, इसीलिये तुम्हें नारी की—गृहस्थी की आकांक्षा नहीं हुई, अथवा तुम पत्थर हो—हृदय-हीन हो।"

सरदार ने कोई उत्तर न दिया। वह सहमा-सा कातर दृष्टि से रूपवती की ओर एकटक देखता रहा।

किंतु उस क्षण रूपवती के मन में एक ही भाव झकझोरे मार रहा था कि वह उदार, वह महान्, वह परोपकारी सरदार यदि उससे कुछ कहे—समर्पण के लिये भी कहे, तो कदाचित् उसमें इतना दंभ और साहस नहीं रह गया था कि सरदार को अवहेलना कर सकती—उसको भर्त्सना कर पाती। यद्यपि रूपवती में ऐसा कोई भाव नहीं रह गया था कि वह एक बार फिर समर्पण की बात सोचती, इंद्रिय-भोग की कल्पना करती, किंतु वह सरदार—

वह एकाकी मानव—उसकी दृष्टि में सचमुच ही दया और श्रद्धा का पात्र था। वह महान् था। लेकिन जब उसने सरदार में निरंतर ही नारी के प्रति उपेक्षा का भाव देखा, तो वह स्तंभित रह गई। वह सोचने लगी—"हाय ! यह भी मनुष्य है ! इच्छाएँ होते हुए भी यह उनसे दूर है। बस, एक ही लक्ष्य सामने है, उसी की ओर पग बढ़ाए निर्बाध दौड़ा जा रहा है।"

इतने दिन बाद आज जब गाँव में सरदार फिर उस रात के अवसान में दृष्टि के सामने आया, तो रूपवती के मानस पर विगत घटना चल-चित्र के समान खिंच गई। सत्य है, कुंदन हो, तो ऐसा, जो आग में जितना ही तपे, उतना ही और निखरता जाय।

नदी से लौटकर जब लखनपाल और सरदार भोजन कर चुके, तभी पास-पास बैठे हुए दोनों की रूपवती ने मन-ही-मन तुलना की, तो अपने पुत्र को दरबार के सम्मुख नितांत हीन पाया। वह सरदार की सीमा नहीं देख सकी। सहसा सरदार ने कहा—"रूपवती, मैं मौन भाव से जन-सेवा करता हुआ एक दिन लोप हो जाऊँगा। मैं घर-घर जाकर मानव के अधिकार पाने, उसके अंधकारमय जीवन में प्रकाश लाने की सतत चेष्टा करूँगा। इस बार पहाड़ पर जाकर मैंने यही निश्चय किया है। मैं अब किसी संघर्ष में नहीं पड़ूँगा। उसी समय सरदार ने बताया—"मैं अधिक शिक्षित न होकर भी इस बार यह समझ सका कि भगवद्भजन का आनंद प्राप्त करना भी इंसान की एक चाह है। मुझे भी उस आनंद को पाना है। पर्वतीय स्थान ही अब मेरा क्षेत्र होगा। वहीं मेरे अपने लोग हैं।"

रूपवती ने कहा—"तुम हमसे दूर जा रहे हो ?"

सरदार ने कहा—"यह तो स्वाभाविक है। तुम्हारा पत्र गया, बाबा का आदेश मिला, अतः चला आया। बाबा अब अतिशय वृद्ध हैं। रोगी भी रहने लगे हैं। मुझे दिखता है कि बाबा अब अधिक चलनेवाले नहीं। मुझे उनकी ही चिंता लगी रहती है। उनके दर्शन की लालसा ही मुझे यहाँ खींच लाई है।"

रूपवती ने कहा—"वह यहां भी आराम से रह सकते हैं।"

लखनपाल ने कहा—"हम उनकी सेवा करेंगे।"

सरदार ने कहा—"यहाँ वह नहीं रहेंगे। वह किसीपर बोझ नहीं बनेंगे।"

रूपवती ने साँस भरी, और कहा—"पर भैया, अब तुम भी यहीं रहो न। क्या ऐसा संभव नहीं ?"

सरदार ने कहा—"नहीं। यहाँ मेरे शत्रु हैं। तुम्हारा जमींदार मेरी खोज में है। पुराना काँटा उसके मन में अटका है। वह आज भी तुम्हारा अंत चाहता है। चुनाव होनेवाले हैं। तुम्हें बहुत सतर्क रहने की आवश्यकता है।"

रूपवती ने कहा—"भैया, मुझे चुनाव के प्रति कोई विशेष आस्था नहीं है। हाँ, इस बहाने मैंने अपना क्षेत्र अवश्य निर्मित किया है। जन-जन की जिह्वा पर मेरा नाम आ गया है। मैंने अपना वास्तविक कार्य आरंभ कर दिया है। मेरा जो उद्देश्य चिरकाल से था, वह कार्य-रूप में परिणत हो रहा है। मुझे जमींदार का किंचिन्मात्र भय नहीं।"

सरदार ने तब उन दोनों मा-बेटे को संबोधित करके कहा—"मैं एक बात कहता हूँ, आज बताता हूँ कि जन-सेवा-कार्य करने में मेरा भी बड़ा स्वार्थ रहा है। उसमें मुझे अनुपम आनन्द मिला है। वह आनंद भगवद्भजन अथवा किसी नारी के साथ प्रेमालाप किए जाने से भी बड़ा है। किसी दुर्बल और हीन मानव की पीड़ा में खो जाने का अवसर प्राप्त करना आसान नहीं, उसका आशीष पाना सुगम नहीं, अतएव मैं इस जीवन में वही पाना चाहता हूँ। चाहो, तो तुम भी वही प्राप्त करो। लखनपाल, तुमने जीवन में धन प्राप्त किया, महल निर्मित किए, बच्चे पैदा किये पर वे सभी आनंद अंत काल में तुम्हें तनिक भी आदर नहीं देंगे, सहारा नहीं देंगे, संतोष नहीं देंगे।"

उसने कहा—"इसके लिये यह तनिक भी आवश्यक नहीं कि तुम्हें प्रसिद्धि मिले—तुम्हारा प्रचार हो। मौन भाव से तुम जिस तन्मयता के साथ अपना कर्म करोगे, उतना ही तुम्हारे मानस को आत्मबल प्राप्त होगा। वही बल मरण-काल में भी तुम्हारे साथ रहेगा।" कहते हुए सरदार का वह भाव एकाएक आँखों में उतर आया। उसका स्वर अवरुद्ध हो गया। उसी अवस्था में उसने

कहा—"मेरी इस बहन रूपवती ने जाने कितनी बार मुझसे विवाह कर लेने को बात कही, जीवन भोगने को बात कही, परंतु मैं तो सदा ही मानव की पीड़ा, उसका रुदन और चीत्कार अपने हृदय में गूँजता पाता रहा। मैं एक क्षण के लिये भी ऐसा अवसर नहीं पा सका कि जीवन का आनंद देखूँ—जग का विहाग देखूँ।"

रूपवती ने सरदार की जर्जर आँखों में आँसू देखे, तो उसका मानस भी द्रवित हो उठा। उसके हृदय में एक कोलाहल गूँज उठा। उसकी आँखें भी भर आईं। बरबस उसने पुत्र के समक्ष ही सरदार के चरणों में वे भरी हुई आँखें झुकाकर कहा—"मेरे भैया!" इससे अधिक वह कुछ न कह सकी।

सरदार के मन का उद्वेग जैसे चीत्कार कर उठा। वह रो पड़ा। उसने रूपवती का सिर उठा लिया, और उसे अपनी छाती से लगाकर बच्चे के समान रोता हुआ चीख पड़ा—"मानव रो रहा है—कराह रहा है। नारी का बलिदान...."

यह सब देख, लखनपाल सचमुच ही, असमंजस में पड़ गया। वह गंभीर हो गया। मा रो रही थी, मामा रो रहा था। मानो उन दोनो के प्राणों में समाया हुआ पीड़ा का स्रोत अनायास ही अपना बाँध तोड़कर बह चला था। उसने अपना सिर दीवार पर टिका दिया, तथा कभी छत की ओर कभी जलते दीपक की ओर देखता रहा।

सरदार ने अपनी आँखें पोंछ लीं, और उसी कपड़े से रूपवती की आँखें पोंछते हुए बोला—"मानव रोता है, तो भगवान् रोता है। उसका चीत्कार और करुण क्रंदन ही इस समूचे विश्व-भर में गूँज रहा है।"

लखनपाल ने कहा—"मामाजी, तो यह करुण क्रंदन क्या कभी मिटेगा? मैं सोच नहीं पाता कि इसका कभी अंत भी हो सकेगा।"

सरदार के आँसू सूख गए। वह बोला—"हाँ, नहीं मिटेगा।"

रूपवती ने कहा—"इस संघर्षशील विश्व में सभी कुछ ऐसे ही चलेगा।"

लखनपाल ने कहा—"कभी तो कुछ घटे-बढ़ेगा?"

रूपवती ने कहा—"यह तो समाज की विचार धारा पर निर्भर है।"

सरदार ने कहा—"संघर्ष नहीं रहेगा, तो कर्मण्यता और सेवा-पथ का लोप हो जायगा। फिर भगवान् का नाम भी कौन लेगा? जनता में जनार्दन कौन देखेगा?"

रूपवती ने कहा—"भैया, इस जीवन में तुम—मेरे लिये आशीष बनकर आए हो। मेरे पति की मृत्यु मेरे हृदय पर पत्थर की लकीर खींच गई। उनकी वाणी मुझे आज भी सुनाई देती है। वह जैसे चीत्कार कर रही है, बार-बार कह रही है—बलिदान करो, त्याग करो।"

सरदार मुस्किराया—"कंस न होता, तो भगवान् कृष्ण का नाम भी न लिया जाता। रावण के अस्तित्व ने ही राम का महत्त्व जनता के सामने प्रकट किया। जमींदार विक्रम के पाप ने तुम्हें नया पथ दिखाया, तुम्हें और तुम्हारे पुत्र को जनता की सेवा का अवसर प्राप्त कराया।"

रूपवती ने कहा—"किंतु, अंधकारमय जीवन को प्रकाश तुमसे मिला है।"

सरदार ने कहा—"तुम कभी उसके प्रति प्रतिक्रिया की बात न सोचना। अवसर आए, तो उसके लिये सब कुछ त्याग देना।"

सुनकर लखनपाल जैसे स्तब्ध रह गया। वह सरदार की ओर चकित-सा देखने लगा।

सरदार ने उसके कौतूहल को लक्ष किया, और कहा—"मैं समझता हूँ लखनपाल! तुम सोचते होगे यह डाकू, यह लुटेरा इस प्रकार की बात...।"

लखनपाल ने हँसकर कहा—"नहीं, मामा!"

सरदार ने गंभीर स्वर में कहा—"मेरे जीवन में एक यह नारी आई—तुम्हारी मा। इसने अपने अनुरूप ही मुझसे कहा था, हिंसा जीवन नहीं देती, उसमें त्याग नहीं, जागृति नहीं। और यही अब मैंने उस पर्वतीय स्थान में रहकर अनुभव किया।"

"मैंने तो जानवरों से यह सबक़ पाया। कुछ क्षण रुककर वह बोला—"मैं कल लौट जाऊँगा। चुनाव के बाद तुम दोनों भी वहाँ आना, और अनुभव करना कि विश्व की समूची शांति वहाँ है। सुख वहाँ है, मानव का संतोष

वहाँ है। यहाँ तो इच्छाओं का दलदल है, बर्बरता है। भोग-विलास का ही यहाँ सर्वत्र साम्राज्य है।"

लखनपाल ने कहा—"मैं अवश्य आऊँगा।"

सरदार ने कहा—"अपनी मा को भी लाना। सेवा-क्षेत्र वहाँ भी है।" लखनपाल ने कहा—"पर मामा, मैं नहीं सोच पाता कि यहाँ किस रूप में काम किया जाय कि समाज-सेवा के साथ जीवन-निर्वाह भी हो जाय। वैसे अपनी आवश्यकताएँ नगण्य हैं।"

सरदार ने कहा—"भैया, जीवन की चिंता न करो। अंधकार में पड़े हुए इंसान को प्रकाश प्रदान करो। तुमने जो कुछ पढ़ा और सुना है, वही लोगों को बताओ। उनसे कहो कि तुम्हारे जीवन का सबेरा किसी समय भी आरंभ हो सकता है। रात्रि जा रही है प्रकाश आनेवाला है। उन्हें आत्मबल प्रदान करो, किंतु सबसे प्रथम उनके जीवन में घुल-मिल जाने का प्रयत्न करो। लोगों के गुरु मत बनना, भाई बनना, सहायक बनना। उनके जीवन में मिलने का यही आधार है। यही श्रेष्ठ मंत्र है।"

रूपवती ने कहा—"मैं भी यही सोचती हूँ। पैसा साधन अवश्य है, परंतु पैसे से ही सब कुछ चलता है, यह मैं नहीं मानती। सेवा की सच्ची लगन हृदय में हो, तो सभी कुछ संभव है।"

सरदार ने कहा—"पैसा गौण है। काम करनेवाले को उसकी कमी नहीं रहती। मैं अब डाका नहीं डालता, परंतु मेरे पास पैसा अब भी आता है। धनिक-समाज में एक ऐसा भी वर्ग है, जो सचमुच ही सेवा के लिये दान करता है। पिछले मास ही हजारों रुपया मेरे पास आया, और निर्धन दुखी जनता की सेवा में लग गया।"

रूपवती व लखनपाल ने सरदार की बात सुनकर कोई आश्चर्य प्रकट नहीं किया, मानो उसके विचारों से पूर्णतया सहमत थे।

रात्रि अधिक जा चुकी थी। सरदार ने कहा—अच्छा, अब विश्राम करो। कल सुबह बातें होंगी।"

---

# उंतालीस

दूसरे दिन जब सरदार बिदा लेकर चलने लगा, तो रूपवती ने नितांत दुखी हृदय से, आँखों में आँसू भरे, उसके चरणों को पकड़ते हुए कहा—"भैया, तुम अधिक दिन दूर न रहना। एक तुम्हीं तो मेरे आधार हो, मुझे भूल न जाना।"

रूपवती के उस करुण क्रंदन को सुनकर सचमुच सरदार का हृदय हिल गया। क्षण-भर के लिये वह स्तंभित रह गया। तदनंतर उसने कहा—बहन, हमारे-तुम्हारे मध्य अब यह प्रश्न ही नहीं उठता। हम एक हैं। दूर रहते हुए भी पास रहेंगे।"

इसके उपरांत सभी ने अश्रु-पूर्ण नेत्रों से सरदार को बिदा दी।

सरदार के जाने के बाद भी कई दिनों तक रूपवती को लगा कि जैसे उसके जीवन से कुछ चला गया है—उसका कुछ खो गया है। निःसंदेह इस बार सरदार से उसे जिस प्रकार की प्रेरणा मिली, उस व्यक्ति में उसे जैसी महत्ता दिखाई दी, वैसी कदाचित् ही रूपवती इससे पूर्व देख पाई हो। उसे प्रत्यक्ष लगा कि इस महान् व्यक्ति के अंदर पर-ममता और पर-कल्याण को छोड़ जैसे और कुछ नहीं है। उसमें अहं नहीं है। अपना स्वार्थ नहीं है—मृत्यु की चिंता से दूर। यही कारण था कि रूपवती ने अपने आपको इस सरदार की समता में नितांत हीन और तुच्छ पाया।

इस भावना के उदय होने का एक कारण और भी था। नगर में रहकर जहाँ उसने शिक्षा प्राप्त की, समाज का अध्ययन किया, वहाँ उसे यह अनुभव नहीं हुआ था कि उसकी क्षमता का वास्तविक विस्तार क्या है—उसकी कितनी कीर्ति फैल चुकी है। उसे वहाँ यथेष्ठ सम्मान भी प्राप्त नहीं हुआ था; किंतु जब वह गाँव में आई, चारों ओर घूमी, तो उसे सभी ओर से यथोचित सम्मान मिला। उसके स्वागत में ग्रामीण जनता ने अपनी आँखें बिछा दीं।

परिणाम यह हुआ कि अनायास ही रूपवती के अंतर् में यह भाव समाविष्ट हुआ कि उसका भी महत्त्व है, उसकी भी एक क़ीमत है। अतएव उस नारी को जब अपने प्रति इस आदर का भान हुआ, एक प्रकार का थोथा दंभ उसके अंतर् में कोहरे के समान छा गया। उसे अपने बड़प्पन पर किंचित् अभिमान हुआ।

रूपवती का हीन-भाव रात की ओस के समान विलीयमान हो गया।

अवसर की बात थी कि इसी बीच रूपवती के पास कुछ धनिकों की ओर से दान रूप में यथेष्ट धन भी आया। यद्यपि वह धन सेवा-कार्य के लिये प्रदान किया गया था, परंतु उस पर नियंत्रण रूपवती का ही था। इतनी बड़ी राशि का उसके हाथों वितरण होना उसके लिये गौरव-पूर्ण बात थी।

परंतु सरदार का आना जैसे रूपवती के जीवन-प्रांगण में भूचाल बनकर आया। वह अपनी महत्ता और योग्यता के जिस क़िले की दीवारें खड़ी कर रही थी, सरदार की महत्ता ने उसे गिरा दिया। मानो वह सरदार एक ऐसी तीक्ष्ण आँधी अथवा समुद्र का ज्वार-भाटा था, जिसने अनायास ही उस नारी के दंभ-रूपी महल को गिरा दिया। उसने जितना संचित किया था, उसे बहा दिया। डुबा दिया। रूपवती को यह स्पष्ट रूप से पता चल गया कि भैया बड़ा है, उसका लक्ष्य महान् है। सरदार की तुलना में उसका अपना अस्तित्व तो इस जीवन-सागर में केवल बुद्‌बुदों के समान है। अतएव जब सरदार जाने लगा, रूपवती ने आँखों में पश्चात्ताप के आँसू भर उसके चरणों में अपना मस्तक झुका दिया। निश्चय ही यह उसने अपनी आत्मा की आवाज़ सुनकर ही किया था। वह रूपवती के अंतर् की आवाज़ थी, जिसने अनायास ही उसे जगा दिया। जब रूपवती सरदार के पैरों पर झुकी, तो उसे बीच ही में ऊपर उठाकर वह बोला—"रूपवती! इस जीवन में—इस नारी-जीवन में—जितनी ममता और प्यार की अनुभूति तूने पाई है, उसे बखेर दे, बाँट दे। यह जीवन इसीलिये है। यह जीवन हमारा नहीं, समाज का है। राष्ट्र का ही इस पर अधिकार है।"

अपनी करुणा-पूर्ण वाणी में रूपवती ने वचन दिया था—"भैया, मैं यही करूँगी। अपना समस्त जीवन देशवासियों की सेवा में लगा दूंगी। राष्ट्र की वस्तु राष्ट्र को ही सौंप दूंगी।"

लखनपाल अपने मामा को गाँव के बाहर तक छोड़ने गया था। लक्ष्मी भी साथ थी। जब वे दोनो सरदार को पहुँचाकर वापस आए, तो उन्हें देखते ही रूपवती ने उदास स्वर में पूछा—"गए भैया ?"

लखनपाल ने भारी स्वर में कहा—"हाँ, वह चले गए।"

लक्ष्मी ने कहा—"हमें आशीष दे गए हैं। वह महान् त्यागी...."

रूपवती ने कहा—"ऐसा व्यक्ति मैंने आज तक नहीं देखा। इतना वीत-रागी, इतना सरल। हे परमात्मा !"

लखनपाल ने कहा—"हाँ, यह भी किसी जन्म के संस्कारों का प्रसाद है, जो मामा को इस जन्म में मिला है।"

लक्ष्मी ने कहा—"जाने कितने जन्मों का संचित कोष मामा ने इस जन्म में प्राप्त किया है।"

रूपवती साश्चर्य बोली—"तो तुम पूर्व-जन्म को मानती हो ?"

लक्ष्मी ने तुरत ही कहा—"क्यों नहीं ? यह सत्य है।"

रूपवती मुस्किराई। "शायद हो।" उसने कहा—"पर मेरा मत है, हमारा भूतकाल ही पूर्व-जन्म का एक रूप है, और भविष्य उसी के आधार पर अपना निर्माण करता है।"

लखनपाल ने कहा—"हाँ, मा ! हमारा वर्तमान भूत की ही छाया है।"

रूपवती ने कहा—"जो हो, लेकिन मैं तो इतना ही देखती हूँ कि वर्तमान क्या है, इस समय हम क्या हैं। हमारा वर्तमान कर्म ही हमें बनाता और बिगाड़ता है।" इतना कहते हुए रूपवती अत्यंत विह्वल दृष्टि से लक्ष्मी की ओर देखने लगी।

लक्ष्मी ने उस दृष्टि को लक्ष्य कर सरल भाव में कहा—"हाँ चाची, यह तो ठीक ही है। वर्तमान को देखना सदा ही सुहाता है। पीछे और आगे कौन देखता है। इससे लाभ भी क्या ?"

उसी समय रूपवती ने कहा—"जो व्यक्ति अभी इस घर से गया है, समाज और देश उसे कभी क्षमा नहीं कर सकता। उसने खून किए हैं, डाके डाले हैं, किंतु इस महानाश के पीछे उसका जो उद्देश्य था, भला उसे किसी ने देखा? कौन समझेगा कि सरदार ने जो कुछ किया, दूसरों के लिये। किंतु मैं केवल अपनी बात लेकर कहती हूँ कि इसी डाकू ने मेरा जीवन बदल दिया। मुझ-जैसी कितनी अबलाओं को कूड़े के ढेर से उठाकर ऊँचा आसन दिलाया। वही व्यक्ति तुमने भी देखा, आज भी कातर है, दुःखी है, बेचैन है। भला क्यों? क्या अपने लिये? न, लक्ष्मी! उसके अंतर् में तो पर-दुख भरा है, वह राष्ट्र की पीड़ा में खोया हुआ है। मैंने इस सरदार को अनेक रातों रोता हुआ पाया है। संसार सोता रहा है, और सरदार असहायों की पीड़ा से दुखी जंगलों और पहाड़ों में छटपटाता घूमता रहा है। बोलो, बताओ, उसने कभी भी अपना भला देखा है? क्यों लक्ष्मी? क्यों लखनपाल?'

सहसा लखनपाल ने कहा—"मा, हमने मामा को वचन दिया है, इस जीवन को वासना और विलास का जीवन नहीं बनाएँगे। हम देश के उत्थान के लिये अपने को लुटा देंगे।"

विनीत भाव में लक्ष्मी बोली—"चाची, तुम मुझ पर भरोसा रखना। तुम समझना, यह तुम्हारी लक्ष्मी तुम्हारे विश्वास के साथ घात नहीं करेगी। तुमने आशीष दिया है, तो यह भी तुम्हारे आदेश पर समाज और देश के चरणों में अपने को समर्पित कर देगी।"

रूपवती की आँखें भर आईं। उसने लक्ष्मी को अपनी छाती से लगा लिया और एकाएक कातर स्वर में कहा—"हाँ, मेरी बेटी! तू अपना कर्तव्य न भूलियो! अपना अस्तित्व कभी अपनी दृष्टि से ओझल न करियो!"

भावावेश में उसने लखनपाल के सिर पर हाथ रक्खा और कहा—"मेरे बच्चे! तू अब अनजान नहीं, बच्चा नहीं। अपना पथ स्वयं ही देखना।" वह पुनः लक्ष्मी से बोली—"बेटी, यह लखनपाल मेरा है, तो तेरा भी है। तेरा बालपन का साथी है। तुझे तो पूर्णरूप से इस पर अधिकार है। मेरा यह

एक ही बच्चा है, इसे सुरक्षित रखना। यह भूले-भटके, तो सहारा देना। इस दुर्बल मनुष्य को अनाचार की भट्ठी में जाने से रोकना।"

रूपवती की आँखों में आँसू देखकर लक्ष्मी की आँखें भी रो पड़ीं। लखनपाल की आँखें भी भर आई थीं। वे दोनो रूपवती के समक्ष जैसे सब ओर से छूटकर आत्मसात् हो गए थे। वे क्षण-भर के लिये इस बात को भूल चुके थे कि इस नारी की सीमा से बाहर भी कोई ठौर है, जहाँ उनका स्थान है—उन्हें टिकना है। निदान, लखनपाल और लक्ष्मी ने रूपवती को उस समय जितनी महान् और तेजोमयी पाया, कदाचित् उससे प्रथम कभी देख पाए हों।

लक्ष्मी ने कहा—"चाची, मैं तुम्हारी हूँ, सदा तुम्हारी रहूँगी।"

रूपवती ने कहा—"बेटी, मैं समझती हूँ। तू अपने लखनपाल के स्नेह में खो गई है। यह लखनपाल भी तेरी सीमा में पहुँच गया है। मैं तुम दोनो से इतना ही कहूँगी कि जीवन में एक होकर रहो, परंतु लक्ष्य न भूलना।"

लक्ष्मी एकाएक रूपवती की गोद में अपना सिर रखकर जैसे चीत्कार कर उठी—"चाची....मा...."

रूपवती ने उसका सिर छाती से लगाकर मातृवत् ममता से जर्जरित होते हुए कहा—"मेरी बेटी....बहू...."

लक्ष्मी ने कहा—"मा, तुम लखनपाल को दे दो—मुझे उसकी सीमा में मिल जाने दो। मैं इस सीमा से बाहर अपना रूप नहीं देखती, अपना जीवन नहीं देखती।"

रूपवती का दिल रो उठा। उसने सस्नेह लक्ष्मी का सर उठाया। उसकी आँखों में देखा। सच, इतनी पीड़ा, वेदना और आकुलता उसे उन आँखों में पहले कभी देखने को न मिली थी! सुंदर, स्नेहमयी लक्ष्मी को पीड़ा से छटपटाती देखकर उसका अंतर् सचमुच ही आकुल हो उठा। उसने रुद्ध कंठ से कहा—"लखनपाल तेरा है, तेरा पति है। अपना पुत्र मैंने आज तुझे समर्पित कर दिया लक्ष्मी!

लक्ष्मी रूपा के वक्ष में सिमट गई। आनंदातिरेक में उसके मुँह से निकला--"मेरी अच्छी मा !"

उसी समय रूपवती ने देखा, द्वार पर लक्ष्मी की मा खड़ी है। ऐसा प्रतीत होता था, वह बड़ी देर से खड़ी उनकी बात सुन रही थी। उसकी भी आँखें भरी हुई थीं।

रूपवती ने मुस्किराकर कहा--"तुमने भी सुना लक्ष्मी को मा ? मैं हार गई।-लक्ष्मी जीत गई। तू जीत गई।"

लक्ष्मी की मा ने पास आकर कहा--"लक्ष्मी तो सदा से तुम्हारी थी बहन ! शायद यह इसीलिये मेरी कोख से पैदा हुई थी। मेरा लखनपाल..." कहते हुए उसने सप्रेम लखनपाल के सर पर हाथ रक्खा।

रूपवती ने कहा--"लखनपाल और लक्ष्मी, ये दोनों मेरे बच्चे, मेरे अपने ही प्राण हैं।" तदनंतर उसने उन दोनो की ओर देखकर पुनः कहा--"मैंने आज कह दिया, तूने भी सुन लिया है। मैंने लक्ष्मी को वचन दिया है कि लखनपाल उसका पति होगा। उसकी दृष्टि में तो शायद बचपन से ही था, पर अब मेरी और समाज की दृष्टि में भी इनकी एक रेखा निर्धारित हो जायगी।"

लक्ष्मी ने कहा--"मा, अभी हम दोनो काम करेंगे। लखनपाल का मत है कि अभी हम विवाह न करें। हम अपने सरदार मामा को दिए गए वचन का पालन पहले करेंगे।"

रूपवती ने सुनकर लक्ष्मी की मा की ओर देखा। उसकी स्वीकृति-सूचक मुस्कान को लक्ष्य कर उसने कहा--"भगवान् की इच्छा ! तुम दोनो की इच्छा !'

लक्ष्मी की मा ने हँसकर कहा--"नहीं, तुम्हारी इच्छा बहन !"

रूपवती ने सुना, और मुस्किरा दी। "मुझे तो इन दोनो ने परास्त कर दिया।" लखनपाल और लक्ष्मी को अपने वक्ष से लगाती हुई वह बोली।

लखनपाल उस समय मौन था। वह चुपचाप उठकर कमरे से बाहर चला गया और मकान के चौक में खड़ा हुआ, कुछ सोचता रहा, जैसे किसी गहरी

समस्या में खो गया हो। उस अवस्था में ही जैसे उसने समझ लेना चाहा, उसने देख लेना पसंद किया कि सचमुच ही मेरे लिये यही श्रेय है, यही प्रेय है। किंतु, उसका क्लांत मस्तिष्क स्पष्ट रूप से कोई भी निर्णय न कर सका। वह न समझ सका कि इस जीवन के पार--उसके इन विचारों के बाहर--भी कुछ और है, जो कि उसे पाना है। सच्चाई यह थी कि उस समय भी लखनपाल के मस्तिष्क में बार-बार एक ही विचार आकर टकराता, उसे जकड़ता, उद्वेलित करता। वह अपने अध्यापक और सरदार की बात को याद करता, और जैसे उसी को याद कर तड़पता, अपने को धिक्कारता--"रे लखनपाल ! तो यह भी भोगेगा तू ?"

लखनपाल अब तक जिस लक्ष्मी के प्रति मोहित था, समर्पित था, उसी के पास तक पहुँचने के लिये जब स्वयं मा ने रास्ता दे दिया, उसे मा की ओर से अधिकार मिल गया, तो बरबस ही उसने अपनी आत्मा को धिक्कारते पाया--"तूने मामा की बात भुला दी ? वृद्ध अध्यापक के वचनों को अनसुना कर दिया, रे लखनपाल !" निःसंदेह, उस अवस्था में ही लखनपाल को लगा कि वह अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक नहीं। वह भी प्रमादी है, विलासी है, कामी है। समाज के अन्य कीड़ों के समान वह भी गंदे पानी में अपना जीवन बिताना चाह रहा है। यौवन भोगना चाह रहा है।

तभी लक्ष्मी हँसती, मुस्किराती उसके पास आई, किंतु आशा के विपरीत लखनपाल को नितांत गंभीर और चिंतित देखकर उसे बड़ा विस्मय हुआ। उस यौवनमयी अल्हड़ लक्ष्मी को लखकर लखनपाल सिहर उठा। डर-सा गया वह लक्ष्मी को देखकर। मानो कोई विषैली साँपिन उसे डसने आई हो।

लखनपाल की गंभीर मुद्रा देखकर लक्ष्मी सहम गई। कुछ कहने का उसे साहस न हुआ। तभी उसकी मा ने पुकारा। वह बाहर चली गई।

---

# चालीस

ज़मींदार विक्रम की ओर से चुनाव-प्रचार में दो बातों का ही विशेष रूप से प्रचार किया जा रहा था। उसके प्रचारक कह रहे थे—"देश में जिस अराजकता का आज बोलबाला है, उसका प्रधान कारण हमारी सरकार की कमज़ोरी और उसकी नीति है। जाति और धर्म को मानना सरकार का आदर्श नहीं रहा। जिस समाजवाद की ओर सरकार का लक्ष्य है, व्यवहारत: वह सफल नहीं हो सकता।" कदाचित् ज़मींदार विक्रम को जाति और धर्म के नाम पर अपनी सफलता का पूर्ण विश्वास था। उसके सहयोगी समझते थे कि प्रतिद्वंद्वी को भारी बहुमत से हराया जा सकेगा।

ज्यों-ज्यों चुनाव-तिथि निकट आती जाती, दोनों ओर से प्रचार-कार्य जोर पकड़ता जाता। संघर्ष बढ़ चला। एक बार रूपवती एक ग्रामीण सभा में भाषण दे रही थी। विपक्षी की ओर से कुछ व्यक्तियों ने आवाज़ उठाई—"तुमने हमारा धर्म बिगाड़ा है। जाति को कलंक लगाया है।"

सुनकर रूपवती को किंचित् रोष हो आया। किंतु, उसने शांत स्वर में कहा—"जिसे आप धर्म कहते हैं, वह पाप है। जिस जाति-पाँति के भेद-भाव का आपने बहुधा आश्रय लिया है, वह हमारा कलंक है। महाशय, आपने न अपना धर्म समझा, न जाति का गौरव। यदि आपमें जातीयता की सच्ची भावना होती, धर्म-प्रेम होता, तो आप कभी ऐसी बात न कहते। आज देश इस प्रकार पतन के गर्त में न जाता।"

किंतु रूपवती के इस कथन का उस सभा में अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। सभा में गड़बड़ी मची, शोर बढ़ा, और एकाएक वहाँ दो पक्ष हो गए। उनमें द्वंद्व चल पड़ा। लाठियाँ उठ गईं। कई आदमी घायल हो गए। एक लाठी का हाथ रूपवती के सर पर भी पड़ा। वह वहीं सभा-स्थल पर गिरकर बेहोश हो गई, और उसी अवस्था में घर लाई गई।

डॉक्टरी सहायता पाकर जब रूपवती को होश हुआ, और उसने अपने आपको बिस्तर पर पाया, तो अपने पास खड़े हुए व्यक्तियों को लक्ष्य कर कहा—"यह देश कभी न उठेगा, यह अभी और गड्ढे में जायगा।'

पास बैठी हुई लक्ष्मी ने कहा—"शांत रहो चाची ! सिर से ख़ून अधिक निकला है।"

रूपवती ने कहा—"अभी कम निकला है, अभी तो और निकलेगा। यही अवस्था रही, तो यह जीवन भी चला जायगा।"

पास खड़े हुए एक दूसरे गाँव के चौधरी ने कहा—"बहनजी, देश की अवस्था ख़राब है। जिसकी लाठी उसकी भैंस।"

रूपवती ने कराह भरी—"जिस ज़मींदार ने लोगों का लहू चूसा, आज उसी का नारा लगाया जाता है, उसी के गीत गाए जा रहे हैं।"

चौधरी ने कहा—"ज़मींदार का पाप भले ही लोगों का ख़ून चूस चुका है, परंतु उनके शरीर का ख़ून अभी गुण-गान करने का अभ्यासी है, यही तो दासता की चरम सीमा है।"

"लोग भूखे रहकर भी गुण-गान करते हैं। हे राम !" रूपवती ने कहा—"निश्चय ही इन पैसेवालों ने रोटी तो छीनी, आत्मा भी छीन ली; सर्वस्व अपहरण कर लिया।"

चौधरी ने कहा—"हमारे पास की रियासत का भी यही हाल है। वहाँ के राजा ने जनता के पास कुछ भी नहीं छोड़ा। उसे भूखा और नंगा कर दिया, परंतु आज जब उस पापी राजा के अधिकार छिन गए हैं, तो वह और उसकी जनता दोनो सरकार को कोसते हैं। लोग राजा के प्रति अपनी पूरी भक्ति दिखाते हैं। जनता उसे ईश्वर-समान मानती है।"

पास खड़े हुए दूसरे व्यक्ति ने कहा—"यह जनता का दोष नहीं, राजा का है, उसके पैसे का, उसकी प्रभुता का है। उसके सदियों से निरंतर किए जानेवाले शासन ने जनता का दृष्टि-कोण ही ऐसा बना दिया है, उसे हीन और कायर बना दिया है।"

पीड़ा-युक्त आह भरते हुए रूपवती बोली—"यह सत्य है। प्रभुता-

संपन्न व्यक्तियों ने धर्म और जातीयता के नाम पर लोगों को ठगा है। उनकी आत्मा कुचल डाली है। उनका विवेक छीन लिया है।"

उसी समय लक्ष्मी ने साँस भरकर कहा—"पर अब क्या होगा चाची ? तुम्हारी यह दशा देखकर...."

लक्ष्मी की उस स्नेह-भावना को लखकर रूपवती ने उसके सिर पर हाथ रक्खा और कहा—"घबरा मत। सिर में ज़रा-सी चोट लगी है, ठीक हो जायगी। एक-दो दिन में ही ज़ख्म सूख जायगा।"

लक्ष्मी बोली—"सिर में चोट गहरी लगी है, तनिक ही कसर रही, नहीं तो ... ..."

रूपवती मुस्किराई—"नहीं तो मर जाती।" वह पुनः बोली—"अरी लक्ष्मी ! मरना तो एक दिन है ही। मुझे इसका कोई भय नहीं। चुनाव में जीतकर भी भला मुझे क्या पाना है ? मेरा क्षेत्र तो विस्तृत है। सेवा ही मेरा ध्येय है, मेरा लक्ष्य है।"

भयाकुल स्वर में लक्ष्मी बोली—"किंतु शत्रु भी बढ़ रहे हैं, वे जनता को व्यर्थ ही भ्रम में डाल रहे हैं।"

रूपवती ने कहा—"यही मेरी विजय होगी। मेरा काम इससे और भी सरल हो रहा है। जो प्रतिवाद कर रहे हैं, मैं समझती हूँ, वह सत्य को भी समझ रहे हैं।"

उसी समय लखनपाल उठ खड़ा हुआ। जो व्यक्ति वहाँ उपस्थित थे, वे भी जाने को उठे। रूपवती ने सभी को हाथ जोड़कर अभिवादन किया।

तदुपरांत लक्ष्मी की माँ रूपवती के लिये दूध लाई, और बोली—"आज सभी ओर इसकी चर्चा है। ज़मींदार के ख़िलाफ़ गाँव में उत्तेजना बढ़ रही है। गाँव का युवक-समुदाय रोष से भर रहा है। सुनती हूँ, पुलिस आई थी। ज़मींदार के यहाँ भी पहुँची है।"

रूपवती ने कहा—"ऐसा सदा ही होता आया है। पुलिस आई है, तो चली जायगी। सरकार बदल गई, किंतु भावना और निष्ठा तो नहीं बदली है। अभी पुलिस में ईमानदारी नहीं आई है। वह आज भी पैसे की भूखी है।"

लक्ष्मी की मा बोली—"मैंने सुना है, चोट अधिक लगी है। अब जी कैसा है ?"

रूपवती दूध का कटोरा हाथ में लेते हुए आवेश में बोली—"जो चोट मेरे दिल पर लगी है, उससे यह बहुत छोटी है। लक्ष्मी की मा ! मेरा कार्य-क्षेत्र बदल रहा है। पहले मैं ज़मींदार की पराजय को ही लक्ष्य मानती थी। क्योंकि मैं सोचती थी कि वह अकेला है, उसकी पराजय समाज का कलंक धो देगी ; परंतु अब समझती हूँ, वह अकेला नहीं है। उसके ही जैसे अनेक व्यक्तियों का देश-भर में जाल बिछ गया है। वे सभी आपस में एक दूसरे को सहायता देते हैं।

तभी लक्ष्मी की मा ने बताया—"आजकल ज़मींदार की कोठी पर बाहर से बहुत-सी मोटरें आती-जाती हैं। जाने कहाँ-कहाँ के लोग आते हैं। सभी संपन्न और बड़े आदमी मालूम होते हैं।"

"हाँ, सभी बड़े आदमी हैं। समाज-रूपी सागर के मगर हैं। उनके पेट में समाज के जाने कितने निरीह मानव जीवित ही समा गए हैं।"

"अरे विमला बहन ! आओ, आओ।" द्वार की ओर देखते हुए सहसा लक्ष्मी बोली।

रूपवती ने विस्मय से द्वार की ओर देखा, विमला थी। बोली—"तुम, विमला ? आओ बेटी !"

विमला पास आई। आते ही बोली—"सिर में चोट अधिक लगी माजी ! मैं तो सुनते ही दौड़ी आई। अब तबियत कैसी है ?"

रूपवती ने मुस्किराकर कहा—"ज़्यादा नहीं लगी। बच गई।"

"मुझे शर्म आती है। ज़मींदार की पुत्री होने के कारण मुझे लगता है, जैसे मेरे मुँह पर कालिख पुत गई हो। बताओ माजी, क्या पिताजी के पाप का प्रतिकार मुझसे चुकाया जा सकता है ? तुम्हारे सामने मेरा मस्तक नत है।' विमला ने रुद्ध कंठ से कहा।

रूपवती ने विमला का हाथ पकड़ लिया, और स्नेह से गद्गद स्वर में बोली—"न, विमला रानी ! तुम्हारा क्या दोष ? यह तो होनी थी, हो गई।

तुम्हारे पिता और मैं जीवन के दो विभिन्न दृष्टि-कोण हैं। दोनो ही अपनी सफलता चाहते हैं। दोष उनका नहीं, दृष्टि-कोण का है।"

"तुम्हारा दृष्टि-कोण अजेय है। उसमें जीवन है, जागृति है।" विमला ने आह्लादित होकर कहा।

"नहीं बेटी! सभी अपने पक्ष को बलवान् बताते हैं। मेरी तरह तुम्हारे पिता को भी अपना दृष्टि-कोण न्याय-युक्त समझने का अधिकार है।"

"वह सदियों पुरानी बात सोचते हैं। मनुष्य को पशु समझते हैं।"

"वह उसी के अभ्यस्त हैं, उसी प्रकार का जीवन उन्होंने बिताया है।"

"किंतु, उस जीवन में कोई तत्त्व है? वह तो नृशंसता से भरा है। उस जीवन के प्रांगण में मानव-संहार का नग्न तांडव सदियों से होता आया है। सदा ही असहाय मानव नोचा गया है।"

"एक दिन जब पूँजीवाद का सूत्रपात हुआ, तो मनुष्य की इस विचार-धारा का भी उदय हुआ, जो स्वाभाविक ही था।"

किंतु अब यह नहीं चलेगा। जला दिया जायगा ऐसा जीवन। भस्म कर दिया जायगा। जिसमें परोपकार की भावना नहीं, औदार्य नहीं, वह क्या जीवित रह सकेगा?"

"बेटी, आज का मनुष्य अधिकार माँगता है, उपकार नहीं चाहता। दान ग़ैर को दिया जाता है। हमारे बीच उपकार का प्रश्न उठाया ही नहीं जा सकता।" रूपवती ने मुस्किराकर कहा।

"माजी, मेरे कहने का मतलब है कि हम इतने महान् आदर्श को भले ही लक्ष्य न कर पाएँ, पर हम उदार, सहृदय तो बनें।" विमला ने अपनी बात को स्पष्ट करना चाहा।

किंतु चाँदी की चमक ने धनवानों का विवेक छीन लिया है। ऊँचाई की ओर देखनेवाला व्यक्ति क्या नीचे देखता है? वह तो सर्वत्र ही प्रकाश देखता है। देश का जन-समाज अँधेरे में पड़ा है। भला उसे प्रकाश कौन दे? उसके जीवन में तो चारों ओर अंधकार छाया हुआ है।"

लक्ष्मी ने कहा—"और इस चुनाव का ही क्या अर्थ? यहाँ भी धनिक

आगे बढ़ आया है। कहने को जन-तंत्र का युग है, परंतु शासन की कुरसियों पर पैसेवालों ने अपने प्रतिनिधि भेजने का प्रयत्न किया है। इस चुनाव में उनका यही तो ध्येय है।"

"व्यर्थ पैसा बहाया जा रहा है।" विमला ने एक निःश्वास छोड़कर कहा।

"यदि इतना पैसा देश के काम में आए, जन-समाज के कल्याण-कार्य में लगाया जाय, तो बहुत हित हो सकता है।" लक्ष्मी आवेश में बोली।

विमला कुछ कहने को ही थी कि तभी लखनपाल ने आकर कहा—'मा, थानेदार आया है। मिलना चाहता है तुमसे।"

"बुला ला यहीं।" रूपवती ने सहज भाव से कहा।

"पूछता है, झगड़ा किस ओर आरंभ से हुआ ? मैंने तो कह दिया, हम लाठियाँ नहीं रखते। चुनाव के लिये ज़बरदस्ती भी नहीं करते। संभवतः जमींदार ने हमारी पार्टी को दोषी ठहराया है।"

विमला ने तेज़ स्वर में कहा—"यह ग़लत है। जमींदार के आदमी झूठ बोलते हैं।"

लखनपाल मुस्किरा दिया। "और आज इस 'ग़लत' को क्या स्वयं भी बताना पड़ेगा ?" वह बोला—"एक पाप करके आदमी दूसरा पाप करने पर उद्यत होता है।" कहता हुआ वह बाहर चला गया और थानेदार को लेकर अंदर आया।

रूपवती ने थानेदार की ओर देखकर अभिवादन किया, और बोली—"कहिए, आपने कैसे कष्ट किया ? बैठिए।"

थानेदार ने आते ही पूछा—'झगड़ा किस प्रकार हुआ ? क्या आपने धर्म और जाति पर आक्षेप किया था ?"

रूपवती क्षण-भर मौन रही, तदनंतर वह मुस्किरा दी। "शायद आपको यही बताया गया है और आपने विश्वास भी कर लिया ?" वह बोली—"मेरा खयाल है, कोई भी जिम्मेदार व्यक्ति इस प्रकार की बात जनता के समक्ष नहीं कहेगा। और, मैं तो धर्म-भीरु, धर्म पर मर मिटनेवाली स्त्री हूँ। जाति

का अस्तित्व भी स्वीकार करती हूँ ।"निःसंदेह ऐसी रिपोर्ट लिखाना मेरे प्रति झूठा व अनुचित कलंक है ।"

थानेदार ने कहा—"मैं मानता हूँ, परंतु मुझे जो कुछ बताया जायगा, वही तो लिखूँगा । जमींदार की ओर से कहा गया है कि आपने जनता की भावनाओं को ठेस पहुँचाई, तो वह बिगड़ उठी और रोष में भरकर झगड़े पर उतारू हो गई । जमींदार के आदमियों का इसमें कोई हाथ न था ।"

रूपवती ने व्यंग्य से कहा—"शायद यही हो । चोट मैंने खाई, तो दोष भी मुझे अपना ही समझना चाहिए ।"

"आप उन व्यक्तियों के नाम बता सकेंगी, जिन्होंने झगड़ा शुरू किया ?"

"मैं यह न कर सकूँगी । मैं असमर्थ हूँ । क्षमा करें । संभवतः आप चाहते हैं कि मैं जमींदार विक्रम के आदमियों पर दोषारोपण करूँ, किंतु मैं ऐसा न कर सकूँगी ।"

थानेदार उठता हुआ बोला—"आपने अत्यंत गंभीरता से काम लिया है, यह देखकर मैं अत्यंत प्रभावित हुआ । चुनाव-तिथि समीप है, इसलिये मैं निवेदन करूँगा कि इन दिनों कोई झगड़ा-फसाद न हो, तो अच्छा है । ऊपर के अधिकारियों से भी हमें यही आदेश मिला है ।"

रूपवती ने हँसकर कहा—"आप जमींदार से कहिए । उसके पास रुपया है, बल है । यहाँ तो सेवा-भाव को छोड़ भला और क्या रक्खा है ? बताइए, आपने यहाँ चुनाव-संघर्ष का कोई सामान देखा है ? हम किस बल पर ऐसे संघर्षों का सामना कर सकेंगे ? अभी तक मेरी ओर से एक पैसा भी व्यय नहीं किया गया है । अंत तक मुझे इसी प्रकार चलना है । और सत्य तो यह है कि इस चुनाव से मैंने एक दिन भी मोह नहीं रक्खा ।"

थानेदार चला गया । लखनपाल उसे गाँव के बाहर तक छोड़ने गया । घर वापस आकर उसने कहा—"मुझे लगता है, चुनाव भी एक शाप है !"

विमला ने कहा—"नशा है । आदमी को मदांध बना देता है ।"

लक्ष्मी ने हँसकर कहा—"किंतु, जिनके पास रुपया है, उन्हें यह नशा और अधिक सताता है ।"

विमला बोली—"मेरा मत है, दुनिया के जितने नशे हैं, वे सभी इन पैसेवालों को ही जकड़ते हैं। उनका रुपया बरबाद होता है और ख़मियाज़ा ग़रीबों को उठाना पड़ता है।"

रूपवती हँस पड़ी—"पर बेटी, तू भी तो पैसेवाले की बेटी है। जीवन के भोग........"

आतुर स्वर में विमला ने बीच ही में कहा—"माजी, मेरे जीवन का यही शाप है कि मैं धनिक पिता की पुत्री हूँ। यही विचार मेरी आत्मा को निरंतर कचोटता रहता है—मेरा मंथन करता रहता है।" पुन: उसने लक्ष्मी की ओर देखकर कहा—"मुझे लक्ष्मी बहुत ही अधिक भाग्यशालिनी दिखाई पड़ती हैं, जिन्हें लखनपाल बाबू-जैसे कर्मठ देश-सेवी के साथ सेवा-व्रत ग्रहण का अवसर प्राप्त हुआ। भला इनकी तुलना में मेरा क्या अस्तित्व ?"

सुनकर लक्ष्मी मुस्किरा दी, किंतु लखनपाल गंभीर बना रहा। रूपवती ने भी उसकी गंभीरता लक्ष्य की। तदनंतर जब विमला उठकर चलने लगी, तो द्वार तक उसे बिदा करने के लिये लखनपाल आया। द्वार पर उसने विमला से पूछा—"विमलादेवी, तुमने अपने को हीन क्यों समझा ? क्या सचमुच तुम्हारे अंतर में........"

विमला ने अत्यंत कातर दृष्टि से उसकी ओर देखते हुए कहा—"हाँ, मैं पैसेवालों की बेटी हूँ, यही मेरी हीनता है ! ऐसा ही भाग्य है मेरा।"

लखनपाल आश्चर्य से उसकी ओर एकटक देखता रहा। विमला उसे एक विचित्र पहेलिका-सी लगी। वह विचारों में उलझ गया। विमला कब उससे बिदा लेकर चली गई, उसे ज्ञात न हुआ। चित्र-लिखित-सा कुछ देर वह द्वार पर ही खड़ा रहा।

# इकतालीस

लखनपाल उन भावुक युवकों में से था, जिन्हें अपने सुख के लिये किसी का हृदय दुखाना प्रिय नहीं था। लक्ष्मी के प्रति वह आकर्षित हुआ, उसका भी यही कारण था। उसने देखा, लक्ष्मी विवाहित होकर भी कुमारी है, उसका जीवन पीड़ित और अशांत है, तो बरबस ही वह उसकी ओर झुक गया; किंतु जब उसने यह देखा कि उसके कारण ही विमला का मन खिन्न है, वह सदा सुहागिन बनी हुई भी विपन्न है, तो लखनपाल का खिला हुआ हृदय कमल अनायास ही मुरझा गया। उसे रोमांच हो आया, किंतु वह विवश था।

रूपवती स्वस्थ हो गई और पुनः अपने कार्य में लग गई। लखनपाल ने भी लक्ष्मी के साथ अपने गाँव के निकटवर्ती प्रायः सभी गाँवों में जाकर यह देखा कि वहाँ की ग़रीबी का एक कारण यह भी है कि वहाँ नए विचारों, नई चेतना का प्रवेश नहीं हो पाया है। उसकी मा ने संपन्न नेताओं के सहयोग से ग्रामों में अनेक पाठशालाओं का जाल-सा बिछा दिया है। उन पाठशालाओं में सवर्ण और हरिजन का भेद नहीं था। पूजालयों और जलाशयों पर भी विभेद न्यून होता जा रहा था। निःसंदेह, इस जन-क्रांति का श्रेय रूपवती को ही था। उसके प्रति जो विरोध खड़ा हुआ, उसका कारण उसकी सफलता ही थी। लखनपाल मा के कार्य में पूर्णरूप से सहयोग दे रहा था। उसने स्वयं उन पाठशालाओं की शिक्षा-व्यवस्था का भार अपने ऊपर ले लिया था।

लक्ष्मी और लखनपाल ने मिलकर बालकों के अतिरिक्त प्रौढ़ स्त्री-पुरुषों में भी साक्षरता का प्रचार और उनके लिये रात्रि-पाठशालाओं का आयोजन किया।

लखनपाल ने निश्चय किया, जब तक समाज का आर्थिक सुधार न होगा,

वह ऊपर न उठेगा; अतएव वह इस चिंता में था कि इस दिशा में क्या किया जाय ? घरेलू उद्योग-धंधे चलाने के लिये भी तो कुछ पैसा आवश्यक है ही, और पैसा न वहाँ के समाज के पास था, न लखनपाल के पास। वह कहाँ से आए ? किस प्रकार आए ? मानो लखनपाल का पथ अवरुद्ध हो गया। वह किंकर्तव्य-विमूढ़ हो रहा था।

लखनपाल देखता था कि धन-प्राप्ति के सभी रास्ते अवरुद्ध हैं। वे सभी सरमाएदारों द्वारा बंद किए हुए हैं। उस ग्रामीण क्षेत्र में—उस शांत वातावरण में—ज़मींदार द्वारा कपड़े के जिस बड़े कारख़ाने का सूत्रपात हो चला था, उसमें काम करनेवाले हज़ारों कारीगरों को लक्ष्य कर प्रायः वह सोचता—"तो क्या अब इन कारख़ानों को ही महत्त्व दिया जायगा ? क्या केवल सरमाएदारी को ही स्थान मिलेगा ? क्या मुट्ठी-भर कारख़ानों से लाखों निरीह प्राणियों की जीविका का प्रश्न हल हो सकेगा ?" उसने देखा कि उस कारख़ाने के खुलने से आस-पास के गाँवों के मुट्ठी भर बेकार व्यक्ति, जो पैसे के अभाव में भूख से तड़पते रहते थे, अब पैसा उपार्जित करते और अपनी इच्छाएँ पूरी करते। यह कार ख़ाना निश्चय ही कुछ लोगों के लिये वरदान बन गया था, किंतु यह समस्या का समाधान तो नहीं !

लखनपाल सोचता, कारख़ानों से देश समृद्ध न होगा। यह देश तो कृषकों का है। कृषि ही यहाँ का प्रमुख धंधा है। कारख़ाने कृषि को नहीं पनपने देंगे। कृषि के लिये जिन आदमियों की दरकार है, वे कारख़ाने में चले जायँगे। कृषि का काम रुक जायगा। जो मजदूर कपड़े के कारख़ाने में जाकर काम करने लगे हैं, निश्चय ही ऊपर से चिकने और प्रफुल्लित प्रतीत होते हैं, परंतु उनका ख़ून, मांस जैसे सभी उस मशीन-रूपी राक्षस ने चूस लिया है। उस लौह-दानव की भूख मानो अनंत है। वह मनुष्य का गोश्त और ख़ून पाकर ही शांत हो सकता है। लखनपाल देखता कि उस लौह-दानव की प्रतिस्पर्धा में मानव नहीं जीत सकेगा। ऐसी अवस्था में मशीन का दास बना मानव भले ही रोटी पा जाय, परंतु जीवन नहीं सँवार सकेगा। रोटी के बदले में अल्पायु और दुर्व्यसनों का वरण करेगा।

उस अवस्था में, सचमुच ही, लखनपाल का मन शांत न था। उसे कोई मार्ग ढूंढ़े नहीं मिल रहा था। इस बीच, चुनाव तथा अन्य कार्यों का आधिक्य होने के कारण, उसका अपनी मा और लक्ष्मी से भी अपेक्षाकृत बहुत कम साक्षात्कार होता। लखनपाल प्रायः बाहर ही रहता। जब कभी वह घर आता, तो मा को अन्यत्र गई हुई पाता। चूँकि लखनपाल चुनाव-कार्य—उस घिनौने संघर्ष—से अलग था, अतः एकाकीपन से ऊबकर उसका मन सरदार के पास जाने के लिये चंचल हो उठता। कभी-कभी संन्यासी बन जाने की बात सोचता, किंतु उसकी इस भावना में न तो अधिक बल था, न कोई संतुलित विचार। वह एक भूले-भटके पथिक के समान जैसे चला जा रहा था, चला जा रहा था। सहसा विचार-धारा करवट लेती और वह सोचता—"यह जीवन इसलिये नहीं कि इसे पहाड़ की कंदराओं में ले जाकर पटक दो। संघर्ष ही जीवन है। निरंतर का युद्ध—जीवन का युद्ध—मानव का कर्तव्य है, उसकी प्रगति का द्योतक है।" और, फिर वह इसी को जीवन का दर्शन मानने लगता।

मन की ऐसी विचलित अवस्था में जब लखनपाल स्वतः ही कोई दिशा नहीं खोज पा रहा था, एक दिन अनायास जमींदार की बेटी विमला उसके पास आई। उसके परिधान, वेश-विन्यास और हाव-भाव सभी अलौकिक थे उस दिन, जैसे धरती पर आसमान की अप्सरा उतर आई हो। लखनपाल घर पर अकेला ही था। अपने कमरे में बैठा कार्लमार्क्स की एक पुस्तक पढ़ रहा था।

कमरे में आते ही विमला ने उसे पुस्तक में उलझे देखा, और कहा—"लखनपालजी, आप इस दिमाग़ पर बोझ डालनेवाली पुस्तक को पढ़ तो रहे हैं, पर क्या अनुभव करते हैं कि इसमें लिखी सभी बातें धरती का इन्सान स्वीकार कर लेगा। बोलिए, कॉर्लमार्क्स के विचारों से आप कहाँ तक प्रभावित हैं?"

उस समय दिन ढल चुका था। आसमान में कहीं-कहीं बादल उठ आए थे। लखनपाल ने कमरे के बाहर की ओर देखा, और उधर ही मुख किए बोला—"यह जरूरी नहीं कि हम जो कुछ पढ़ते हैं, उस सबसे सहमत हों।" उसने विमला की ओर अपना मुंह घुमा दिया, और उसकी उन सुरमई आँखों में अपनी आखें डालकर कहा—"कार्लमार्क्स इस धरती पर आया एक क्रांतिकारी के रूप में। वह एक

महान् युग-प्रवर्तक था, युग-द्रष्टा था। निःसदेह उसके विचार तीखे हैं, दिल में सीधे उतरते हैं। मुझे तो लगता है कि वह महान् व्यक्ति जैसे जन-जन की वाणी में, उनके जीवन में, उनकी पीड़ा में समा गया है। उसने सभी कुछ निकट से देखा है, अनुभव किया है। उसने इन्सान का कर्ण-कटु हास्य देखा है, और दिल को पिघला देनेवाला विलाप—त्रास…"

"ओह, आपका तो एक छोटा-मोटा भाषण चालू हो गया। मुझे तो केवल इतना जानना है कि क्या मार्क्स का कथन व्यावहारिक है, निभनेवाला है?"

चकित स्वर में लखनपाल बोला—'क्यों नहीं? असंभव क्या है?"

विमला ने अपने अर्धोन्मीलित नेत्रों से उसकी ओर देखते हुए कहा—"लखनपाल बाबू, मार्क्सवाद में धर्म का कोई स्थान नहीं। वह धनिक और निर्धन को एक समान देखना चाहता है। मैं पूछती हूँ, क्या यह सब संभव है, इस धरती पर निभनेवाला है? मैं इस भावना का आदर अवश्य करती हूँ, परंतु प्रायः सोचती हूँ, कर्म-हीन मनुष्य तो जड़ बन जायगा, निरा पत्थर! और फिर जब इन्सान-इन्सान बराबर होगा, तो प्रतिस्पर्धा के अभाव में प्रगति का प्रवाह न रुक जायगा?"

लखनपाल ने हाथ में ली हुई किताब बंद करके एक ओर रख दी; और विमला की ओर गंभीर दृष्टि से देखा। उसे अनुभव हुआ कि सच इस युवती की बात निःसार नहीं, कुछ सार है उसमें। आदमी को कर्म और भावना भी चाहिए। और, जब मनुष्य समानता की बात सोचेगा, तो आज के समान नहीं दौड़ेगा, होड़ नहीं करेगा। वह कुछ विचारकर बोला—"विमलाजी, सदियों से हम प्रतिस्पर्धा के दास रहे हैं। कहिए तो, उसने मनुष्य को क्या दिया है? केवल एक सीमित वर्ग धनिक बना है, और शेष वर्ग को कर्मयोग का उपदेश देता रहा, उसे ठगता रहा, उसका शोषण करता रहा। तभी तो कहा है मार्क्स ने कि 'कर्म' धनिक के लिये अफ़ीम का काम करता है, और शेष समाज के असंतोष का शमन करता रहता है। उसे प्रतिक्रियावादी बनने से रोकता है।

आतुर स्वर में विमला ने कहा—"मैं इसे नहीं मानती। लोग कहाँ कर्म की भावना से प्रभावित होते हैं! चोरी, लूट, खून और डाकेज़नी की वारदातें

नित्य होती हैं। गाजर-मूली के समान आदमी काट दिया जाता है। क्यों? केवल इसलिये कि आज का मानव कर्म में आस्था नही रखता। वह कर्म किए बिना ही फल की आशा रखता है।"

इतना सुनते ही लखनपाल कड़ुए भाव से मुस्किरा दिया, मानो उसके होठों पर ज़हर पुत गया। शांत किंतु कठोर स्वर में उसने कहा—"आप ठीक कहती हैं, पर सोचिए तो, ऐसा क्यों है? कर्म भी है, क़ानून भी है, परंतु आदमी तब भी इन अवरोधों को लाँघकर अपना उद्देश्य पूर्ण करता है। मुझे कहने दीजिए, यह सब धनिक वर्ग के अन्याय, उसकी शोषण-नीति की प्रतिक्रिया है। इन्सान जब भूख से तड़पता है, तो मचलता है, और तब वह देवत्व से दानत्व की ओर बढ़ता है।"

विवाद कटुता का रूप लेने लगा था, अतः विमला ने विषयांतर करते हुए कहा—"छोड़िए भी इस बहस को। मैं आज आपसे क्षमा माँगने आई हूँ। अनजाने में यदि आपसे कुछ अनुचित कह गई हूँ, तो उसे भूल जायें। मैंने अब समझा है कि अधिकार पाया जाता है, छीना नहीं। मै आपसे अब अनधिकृत रूप से कुछ पाने का प्रयत्न नहीं करूँगी।"

सुनकर लखनपाल का हृदय हिल उठा। वह एकटक विमला की ओर देखने लगा। उसने पाया कि सच यह ज़मींदार की दुलारी बेटी अपने जीवन की अनेक आकांक्षाएँ, अनेक भावनाएँ लिए अनेक बार मेरे पास आई, और ख़ाली हाथ लौट गई। यह लावण्यमयी, यह पुण्यमयी कितनी मधुर, कितनी अनुरागमयी है। यह अनुभव करते ही उसने कहा—"विमलाजी, हम एकाएक ही एक-दूसरे को नहीं समझ पाते। विश्वास करो, मैंने तुम्हारा महत्त्व समझा है। मेरा भाग्य है कि मैं तुमसे परिचित हो गया, पर मेरे पास ऐसा क्या है, जो तुम्हें दूँ! तुम-सरीखी अनुपम सुंदरी को भेंट करूँ!"

विमला ने नितांत गंभीर होकर कहा—"यही समस्या है कि मैं जो कुछ पा लेने की आशा करती थी, वह नहीं पा सकती। मैं समझती थी कि इस धरती पर सभी कुछ संभव है, प्राप्य है; पर नहीं, मेरा यह भ्रम था। मैंने

अपने पिता का वैभव देखा, प्रभुत्व देखा, तो संभवतः मुझमें भी दंभ पैदा हो आया। मैंने समझा था कि मेरे पास सभी कुछ है।" यह कहते हुए विमला ने एक गहरी साँस ली, और पुनः बोली—"लेकिन अब मैंने जाना कि नहीं, मैं अत्यंत दीन हूँ, विपन्न हूँ। भला मेरे पास ऐसा क्या है, जिस पर दंभ करूँ! मैं तो नितांत दीन हूँ, लखनपाल बाबू!"

"हम सभी किसी-न-किसी अभाव से पीड़ित हैं। हम सभी याचक हैं, दास हैं—इच्छाओं के, परिस्थितियों के!" सहज भाव से लखनपाल ने कहा।

विमला ने कहा—"एक दिन लक्ष्मीदेवी मिली थीं। उन्हीं से सुना था कि आप आजकल अधिक चिंतित हैं। गाँव के आर्थिक विकास के लिये आपके पास अनेक योजनाएँ हैं, जो धन के अभाव में अधूरी पड़ी हैं। इस बात को भी मैं समझती हूँ कि धन धनिकों के पास है, जो क्रूर, स्वार्थी एवं दंभी हैं। उनसे कोई आशा करना रेत से तेल निकलने की आशा-मात्र है।

लखनपाल ने देखा कि विमला बात कहते रोष में भर आई है। उसका चेहरा तमतमा उठा है। उसी अवस्था में उसने फिर कहा—"लखन बाबू, मैं स्वीकार करती हूँ कि मेरे पिता भी इसी पथ के अनुगामी हैं। उन्होंने मनुष्य का चोला पाकर मनुष्य का शोषण किया है।"

आतुर स्वर में लखनपाल बोला—"नहीं, नहीं। ज़मींदार साहब तो अत्यंत भले आदमी हैं। उनके स्थान पर कोई भी होता, यही करता। युग-युग से पितामहों द्वारा संचित धन कोई यों ही क्यों लुटा देगा!"

विमला ने कहा—"यह आप मुझे प्रसन्न करने के लिये कह रहे हैं। समझते हैं न कि मैं उनकी पुत्री हूँ। परंतु तथ्य यही है, सत्य यही है कि उन्होंने अपने हृदय में दया नहीं खोजी। उनके चारो ओर सोने-चाँदी के परकोटे खड़े हैं। वे उसी में बंद हैं। उसी की कल्पना करते हैं। अंत समय में यह सोने-चाँदी की ठनक काम न देगी, उनके पुण्य कर्म ही काम आएँगे, यह वह नहीं सोच पाते!"

लखनपाल मौन बैठा रहा। वह मेज से पेंसिल उठाकर एक काग़ज़ पर टेढ़ी-मेढ़ी लकीरें खींचने लगा। मानो उन लकीरों में मनुष्य की दीनता और व्यथा के चित्र देख रहा हो।

विमला सहसा बोली—"मेरे मन में जब पिताजी के काले कारनामों की बात उठती है, तो ज़हरीले धुएँ के समान उमड़-घुमड़कर रह जाती है।"

लखनपाल बोला—"आप तो अत्यंत भावुक हैं, दूसरे लोक की कल्पना करती हैं। इस धरती पर सदा यही सब होता आया है।"

विमला ने अपने स्वर पर ज़ोर देकर कहा—"मैं यह सब समझती हूँ, लखनपाल बाबू ! मेरे इस जीवन में आप क्या आए, एक आँधी-सी आ गई, और मेरे मनःप्रदेश में जितना कूड़ा-करकट भरा था, वह सब उड़ा ले गई। लगता है, जैसे जीवन का दृष्टि-कोण ही बदल गया। अब तो अपने अतीत का सभी कुछ अभिशाप-सा लगता है।"

एकाएक लखनपाल मुस्किराया, और उठ खड़ा हुआ।

विमला ने कहा—"आप मेरे गुरु—मेरे पथ-प्रदर्शक......"

सुनते ही लखनपाल के मुख की हँसी उड़ गई। वह जैसे उस लावण्यमयी किशोरी के अंतःप्रदेश में पहुँच गया, और उसी में कुछ खोजने लगा।

विमला ने कहा—"आज मैं गुरु-दक्षिणा देना चाहती हूँ, ऐसी ही इच्छा लेकर आई हूँ। देखती हूँ, अभी तक मैंने लिया-ही-लिया है, दिया कुछ नहीं।"

लखनपाल बोला—"व्यक्ति न कुछ लेता है, न देता है। समाज की वस्तु एक से लेकर दूसरी ओर बढ़ा देता है। बोलो, मैं जब इस धरती पर आया, तो मेरे पास क्या था। समाज से जो कुछ पाया, वही उसको समर्पित कर रहा हूँ।"

विमला ने तुरंत कहा—"मेरे मुँह की बात छीन ली आपने। यदि मैं आपको कुछ दूँ, तो वह भी मेरा नहीं, समाज का है।" कहते हुए उसने अपना वैनिटी-बैग खोला, और उसमें रक्खी नोटों की एक मोटी गड्डी लखनपाल के सामने रख दी। "समय-समय पर पिताजी द्वारा प्राप्त यह रुपया मेरे पास संचित हो गया था। मेरे कुछ अनावश्यक ज़ेवर थे, वे भी मैंने बेच दिए। मैं चाहती हूँ, आपके द्वारा इसका सही उपयोग हो।"

एकाएक जैसे जड़ बनकर लखनपाल बोला—"यह रुपया—इतना रुपया ! नहीं, मैं इसे न ले सकूँगा।"

विमला ने कहा—"यह रुपया आपको लेना पड़ेगा। मेरी आकांक्षा है कि आप

अपने ध्येय में सफल हों। इस धरती के इन्सान को जीवन दें।" पुनः मुस्किराते हुए बोली—"यह रुपया एक व्यक्ति की संपत्ति नहीं, राष्ट्र और समाज की है, वही आपको देने आई हूँ। आपकी यह कार्लमार्क्स की किताब मैं पढ़ चुकी हूं।"

अत्यंत घबराहट भरे स्वर में लखनपाल बोला—"नहीं विमलाजी, मार्क्स के विचार व्यावहारिक रूप से सभी ठीक उतरें, यह अभी भविष्य की बात है। रुपए अपने पास रक्खें। मेरा काम तो चल ही जायगा।"

विमला ने कहा—"यह रुपया अब यहीं रहेगा। मैं अपने जीवन में एक प्रयोग करना चाहती हूँ। आपकी सहायता चाहती हूँ। किसी एक दिन मैं आपसे प्रेम की भीख माँगने आई थी, परंतु आज... हाँ, आज सेवा और त्याग का पाठ लेने आई हूँ।"

लखनपाल अत्यंत व्यग्र भाव से कमरे में घूमने लगा। उसके हाथ की दोनो मुट्ठियाँ पीछे बँधी थीं। निश्चय ही वह एक कठोर संक्रमण-काल से गुजर रहा था। वह अनुभव कर रहा था कि यह वही विमला है, जो उसके द्वारा सदा उपेक्षित रही है...... उसकी लक्ष्मी के समक्ष क्षुद्र और हीन समझी गई है। पर आज......? हाँ, आज यह मेरे मुँह पर दौलत का तमाचा मारने आई है। यह पैसेवाली, निर्मम, कठोर!

उसी समय तड़ित्-वेग से उसने उन रुपयों की गड्डी को उठाया, और विमला के ठीक समीप पटककर कहा—"देवि, इन्हें उठा लो। ले जाओ। मुझे तुम्हारा रुपया नहीं, केवल सद्भावनाएँ चाहिए।"

यह अप्रत्याशित कांड देखकर विमला अचकचाकर खड़ी हो गई, और अपने को संयत करते हुए बोली—"मैं समझती हूँ, तुम ऐसा क्यों कहते हो। विश्वास रक्खो, मैं इतनी कमीनी नहीं हूँ। तुम समझते होगे कि मैं ज़मींदार की बेटी…" उसका कंठ अवरुद्ध हो गया।

लखनपाल को सहसा अपनी भूल का ज्ञान हुआ। अत्यंत धीमे स्वर में वह बोला—"नहीं, नहीं, विमलादेवी!"

विमला के मन में रोष भर उठा था। उसने उस नोटों की गड्डी को

उठाया, और कमरे की दीवार पर खींच मारा। सचमुच उसके मन का सुपुप्त स्वत्व जाग उठा था। उसने कहा—"देखती हूँ, जो हीनता का भाव मेरे पिता के अंतर्मन में है, तुम भी उसी से पीड़ित हो। हीन-भाव का यह राक्षस तुम्हारा भी मंथन कर रहा है।"

उस समय लखनपाल विचित्र स्थिति में पड़ गया था। नोटों की गड्डी खुल-कर कमरे के फ़र्श पर बिखर गई थी। लखनपाल उसी ओर देख रहा था, देखे जा रहा था।

उसी समय द्वार पर रूपवती आकर खड़ी हुई। उसे देखते ही लखनपाल चीख़ उठा—"मा!"

---

# बयालीस

पुत्र की कातर वाणी, कमरे में फैले हुए नोट और विमला की सुंदर आँखों में आँसुओं की झिलमिलाहट ! एक क्षण किंकर्तव्य-विमूढ़-सी रूपवती कमरे में चारो ओर आँखें फाड़-फाड़कर देखती रही । फिर सहसा मुस्किराते हुए विमला के पास आकर स्नेह-सिक्त स्वर में बोली—"बेटी, पुत्र को मा पहचानती है। तेरे मन में क्या है, औरत होने के नाते इसका भी अनुमान लगा सकती हूँ। बैठो, अपनी आँखें पोछ डालो । प्रत्येक समस्या को शांति से हल करना सीखो मेरे बच्चो !"

सुनते ही विमला ने अपना मुँह साड़ी में छिपा लिया, और नितांत उद्वेलित होकर कहा—"तुम्हारे पुत्र मुझे कमीनी समझते हैं । मुझे..."

सुनते ही रूपवती ने अप्रत्याशित रूप में कठोर बनकर कहा—"नहीं, नहीं, यह नहीं हो सकता । मेरा पुत्र तुम्हें ऐसी भावना से नहीं देख सकता ।"

लखनपाल ने मा से लिपटते हुए बाल-सुलभ स्वर में कहा—" मा, सभी लड़कियों के समान यह भी अत्यंत भावुक हैं । न-जाने किस भावना के वशीभूत होकर इतने ढेर-सारे रुपए ले आई हैं । अपने ज़ेवर भी बेच दिए । कहती हैं, मेरा यह रुपया समाज-कल्याण में लगा दो ।"

रूपवती स्नेह-पूर्वक विमला के सिर पर हाथ रखकर बोली—"बेटी, तुम्हारे विचार बड़े उच्च हैं, परंतु अभी तो तुम पराश्रित हो, पिता के अधीन हो। यह रुपया तुम्हारा नहीं, उनका है । जानती हो कि उनके जीवन का दृष्टि-कोण ही दूसरा है । वह सामंतवादी युग के हैं । कल वह कह सकते हैं कि रूपवती के लड़के ने मेरी पुत्री को बरगलाकर उससे रुपया ठग लिया । और, यह बात कल जन-साधारण में भी फैल सकती है ।"

विमला ने कहा—"नहीं माजी, यह रुपया मेरा है । मुझे खर्च के लिये मिला है । मैं इसे खर्च करने के लिये पूर्ण स्वतंत्र हूँ ।"

रूपवती ने किंचित् गंभीर स्वर में कहा—"बेटी, मुझे लगता है, पिता के समान तुम भी इस रुपए को महत्त्व देती हो। तुममें उमंग हो, इच्छा हो, तो समाज का कल्याण अपनी सेवाओं द्वारा, बिना रुपए के भी, कर सकती हो। रुपया देकर समाज-सेवा के दायित्व से मुक्त होने का विचार त्याग दो। रुपया ही तो सब कुछ नहीं है। यह परंपरा धनिकों की है। अभी तुम युवा हो, अपनी कर्मठता, अपनी लगन तथा अपने त्याग से जनता की सेवा करो।

विमला ने कोई उत्तर न दिया। शांत-चित्त धरती की ओर देखने लगी। तभी रूपवती ने लखनपाल को बताया—"बेटा, लक्ष्मी बीमार है। मैं उसके घर गई थी। कई महीनों से बुख़ार रहता था। डॉक्टर ने क्षय बताया है। बेचारी मा चिंतित है। लक्ष्मी सूखकर काँटा हो गई है।"

लखनपाल अत्यंत सहज भाव से बोला—"मुझे पता है, मा! किंतु कठिनाई तो यह है, वह औषध नहीं लेती, उपचार नहीं कराना चाहती।"

मा ने कहा—"समझा-बुझा तो आई हूँ। भगवान् जाने उसके दिमाग़ में बात बैठी या नहीं। बेचारी होश सँभालते ही विधवा हो गई। जीवन-भर सुख के लिये तरसती रही।"

विमला ने कहा—"माजी, लड़कियों का जीवन ही दूभर है, अभिशाप है।"

सुनकर रूपवती ने कहा—"नहीं, नारी-जीवन तो पुण्य है, महान् है। अभिशाप क्यों? आजकज की लड़कियाँ न-जाने अपने मन में क्या ले बैठती हैं।" यह कहते हुए रूपवती ने सहसा विमला का हाथ पकड़ लिया, और बोली—"देख तो, कितना सुंदर हाथ है तेरा! यह नाख़ूनों पर लगी लाली कितनी भली लगती है। तू अपने इस सलोने शरीर को कैसा सजाना जानती है। विमला बेटी, इसी तरह मन को क्यों न सजाओ। क्यों न उसमें सुंदर भावनाएँ भरो।" यह कहते हुए उसने विमला का हाथ छोड़ दिया—"पर तुम हिम्मत हारकर अपने कर्तव्य से मुँह मोड़ लेती हो, हीन-भाव और निराशा का आवरण ओढ़ लेती हो! इच्छाओं के बवंडर में बहकर जीवन का वास्तविक लक्ष्य—नारी-सुलभ शक्ति, त्याग और और निष्ठा—को भुला बैठती हो।"

सुनते ही विमला के मुँह से निकला—"माजी!"

रूपवती ने कहा—"बेटी, मैं तेरी मां होती, तो तुझसे पूछती, जो रुपया तुम लखनपाल को देने लाई हो, वह भिखारियों को, दरिद्रों को क्यों न बाँट दिया ! पर तुम तो अपने इस लखना को प्रभावित करने आई हो। काश तुम्हारी भावना कोई और होती !"

विमला चीख़ पड़ी—"माजी ! मैं अपना यह अपराध स्वीकार करती हूँ। क्षमा करो।"

रूपवती ने उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—"बेटी, आतुर मत हो। यह तो मानव-सुलभ दुर्बलता है। ऐसा सभी करते हैं। पुरुष भी यही करते हैं।"

सुनकर विमला ने अपना मुख हथेलियों में छिपा लिया। उसने अनुभव किया कि रूपवती को एक साधारण, न्यून शिक्षा-प्राप्त, ग्रामीण नारी समझकर उसने बड़ी भूल की है। वह नितांत बुद्धिमती है, दूरदर्शी है। उसके ज्ञान-चक्षु विशाल हैं। कुछ न समझते हुए भी वह सब कुछ समझ चुकी है। मेरे अंतर का एक-एक कोना टटोल चुकी है वह।

तभी रूपवती ने मृदु स्वर में अपनत्व का भाव लिए हुए कहा—"विमला बेटी, यह रुपया ले जाओ। तुम पढ़ने में अपना मन लगाओ। अपने माता-पिता का आदेश मानो। यही तुम्हारा कर्तव्य है।"

विमला ने अत्यंत कातर वाणी में कहा—"माजी, मेरे मन में आग धधक रही है। परंपरागत पूँजीवाद के प्रति एक विद्रोह मन में तूफ़ान मचाए हुए है।"

रूपवती ने कहा—"वह आग तुम्हें जलाकर राख कर देगी। स्वप्नों से भरा तुम्हारा संसार नष्ट कर देगी।"

निराशा भरे स्वर में विमला ने कहा—"मेरा कोई स्वप्न नहीं, कोई आकांक्षा नहीं।"

रूपवती ने एक भाव-पूर्ण दृष्टि से उस सुंदरी की ओर देखा, और बोली—"विमला बेटी, मैं बूढ़ी हो चली हूँ, तो क्या ! मैं भी नारी हूँ। तुम्हारी अवस्था को पार करके यहाँ तक आई हूँ। यौवन की आँधी में मत उड़ो। अशोभनीय मत बनो।"

उस समय लखनपाल दूसरे कमरे में जा चुका था। वह बिखरे हुए नोटों को

को एकत्र कर विमला के पास मेज़ पर रख गया था। रूपवती ने रुपयों की ओर देखकर कहा—"इन रुपयों का भी एक महत्त्व है! इतनी बड़ी राशि तुम सहज ही भेंट करना चाहती हो, किंतु तुम्हारी इस भेंट में समाज को हमारी चाटुकारिता, हमारी गिरावट की गंध मिलेगी। नहीं, यह नितांत अनैतिक है।"

विमला ने दुखित स्वर में कहा—"नहीं माजी, इसमें कोई गंध नहीं, कोई अनैतिकता नहीं।"

रूपवती हँसी—"बिटिया, वास्तविकता पर पर्दा मत डालो। वास्तु-स्थिति को समझने का प्रयत्न करो। मैं तुम्हारी दुर्बलता समझती हूँ। तुम लखनपाल को जीतना चाहती हो न, इसीलिये......"

विमला चीख़ पड़ी—"माजी नहीं। माजी, नहीं।"

रूपवती ने दृढ़ता से कहा—"सत्य यही है, इसके लिये इस पैसे का अवलंब क्यों? तुममें इतनी अधीरता क्यों? मैं तुम्हारा महत्त्व समझती हूँ। तुम्हारी इस काया की सुंदरता के साथ मन का सौंदर्य मुझे सदा प्रभावित करता रहा है, किंतु सबसे पहले तुम यह समझो कि जीवन की अर्चना क्या है। और, रहा यह लखनपाल, यह जहाँ मेरा पुत्र है, समाज का भी इससे कोई संबंध है। उसी को छीनने के लिये तुम इतनी व्यग्र हो। तुम जीवन का सत्य नहीं देखतीं, केवल इच्छाओं की पुकार सुनती हो। तुम यह भी नहीं समझतीं कि मैंने कितने कष्ट से, कितनी ममता से और कितनी आकांक्षा से इस लखनपाल को एक निश्चित पथ पर डाला है। क्या इसीलिये कि वह वासना की सड़ाँध में दम घोटकर मर जाय, अपना पतन कर दे, इस सुहावने सेवा-पथ को छोड़ दे?" कहते हुए रूपवती का स्वर भारी हो गया। उसके मन का रोष मुख पर उतर आया। उसके होठ फड़कने लगे। भृकुटी चढ़ गई। शरीर काँपने लगा।

अपने को संयत करते हुए वह पुनः बोली—"एक दिन तुम्हारे पिता ने मेरे पति का वध किया। फिर डाकुओं द्वारा मेरी हत्या कराने का प्रयत्न किया। किंतु आज मैं यह देखकर चकित हूँ कि उसी जमींदार की पुत्री रूप और यौवन से लदी हमारे द्वार इसलिये इन रुपयों को उठा लाई है कि मेरे पुत्र की समस्त, अर्चना और साधना नष्ट कर दे। कितना स्वार्थ-युक्त कर्म है यह तुम्हारा!"

एकाएक ही विमला रूपवती के पैरों को पकड़कर बोली—" भगवान् के लिये ऐसा मत कहो, माजी ! तुम भी नारी हो। तुम अधिक समझती हो कि एक नारी जब अपना जीवन, अपना नारीत्व किसी को समर्पित करना चाहती है, तो उसके पास अपना कुछ शेष नहीं रहता। फिर स्वार्थ का कैसा प्रश्न ?"

इतना सुनकर भी रूपवती ने पैरों पर झुकी विमला की ओर न देखा। वह कमरे के बाहर आकाश की ओर ताकती रही।

तभी विमला ने फिर कहा—"यदि यही मेरा पाप है, नारी का समर्पण अपराध माना जाता है, तो मुझे स्वीकार है। सचमुच यह भाव मेरे मन में था। मेरा यही संकल्प था।"

धीरे-धीरे रूपवती ने विमला की ओर दृष्टि घुमाई। उसकी सुंदर आँखें अब गालों पर उतर आई थीं। उसकी पीड़ा और मनोव्यथा स्पष्ट हो चुकी थी। विमला की उन आँखों को देखते ही जैसे रूपवती की छाती में घूँसा-सा लगा। उससे एकाएक बोला नहीं गया। उसके सम्मुख एक ओर विमला का दारुण प्रेम था और दूसरी ओर पुत्र का विस्तृत सेवा-पथ।

विमला ने सहसा रूपवती के पाँव छोड़ दिए, और खड़े होकर एक दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए बोली—"ओह, सभी कुछ अप्रत्याशित !"

रूपवती ने कहा—"नादान लड़की ! तू मेरे मन के भावों को नहीं समझ सकती। एक मा का कर्तव्य नहीं पहचान सकती।"

विमला ने बड़ी दीनता से कहा—"माजी, तुम मेरा गला घोंट देतीं, तो अच्छा था। इतना कठोर आघात भी तुम कर सकती हो, मुझे इसका अनुमान न था ! मेरे पिता ने जो कुछ किया, वह तुम मुझसे चुकाना चाहती हो ? बोलो, यह तुम्हारी निर्ममता नहीं है क्या ?" उसका स्वर काँप रहा था।

सचमुच रूपवती इतना सुनने की कल्पना नहीं कर सकती थी। वह कुछ निश्चय नहीं कर पा रही थी, केवल आँखें फाड़-फाड़कर विमला की ओर देखने लगी।

पुनः विमला बोली—"हम-सरीखी सभी लड़कियाँ यही चाहती हैं। यह प्राकृतिक है, नैसर्गिक है। बोलो, इसके अतिरिक्त नारी की और क्या गति है,

कौन-सी परिणति है ?" कहकर विमला तड़ित्-वेग से द्वार की ओर भागी। कमरे का द्वार नीचा था, आवेग में उसने ध्यान नहीं दिया, और चौखट से टकरा गई। वह चीख़ मारकर बैठ गई। माथे से रक्त बहने लगा।

रूपवती चिल्लाई—"विमला !"

विमला को होश न था। उसी समय लखनपाल चीख़ सुनकर दौड़ आया।

बहता हुआ ख़ून देखकर रूपवती ने कहा—"बड़ी नादान है यह लड़की।" उसने अपनी धोती का छोर विमला के सिर से बहते हुए ख़ून पर रख दिया।

लखनपाल ने कहा—"मा, मैं यही बाँधे देता हूँ।"

द्रवित बनकर रूपवती बोली—"हाँ, पट्टी बाँध दो। बिस्तर पर लिटाकर इसके कपड़े......"

उसी समय विमला ने आँखें खोलते हुए कहा—"चिंता न करो माजी, मैं ठीक हूँ। घर चली जाऊँगी।"

रूपवती ने कहा—"नहीं, नहीं, तुम अभी आराम करो। यह साड़ी बदल लो, मन शांत करो।"

विमला के सिर में पट्टी बाँध दी गई। रूपवती ने उसकी साड़ी भी बदल दी, और चारपाई पर लिटाकर लखनपाल से कहा—"विमला के रुपए मेज़ से उठाकर रख लो। मैं बाहर जाती हूँ, कुछ काम है। तुम तब तक इसके पास बैठो।" यह कहते हुए रूपवती बाहर चली गई।

उसी समय लखनपाल ने विमला को लक्ष्य किया, और कहा—"मेरी मा ऊपर से कठोर है, परंतु अंदर से उतनी ही उदार भी।"

धीर भाव से विमला ने कहा—"मुझे पता है। वह महती हैं।"

लखनपाल बोला—"लेकिन मेरी इस मा को ही तुम्हारे पिता अपने रास्ते का काँटा समझते हैं। जाने कितनी बार मा की हत्या कराने का प्रयत्न कर चुके हैं।"

दुखित स्वर में विमला ने कहा—"लखन बाबू, मुझे सब कुछ पता है। अब उसका उल्लेख न करो। देखते हो, मैं यों ही दुखी हूँ। अपराध पिता ने किया, उसका प्रतिकार मुझसे ले लो, किंतु मुझे अपराधिनी न समझो।"

लखनपाल ने बात बदलते हुए कहा—"आज तुम हमारे घर आकर लांछित हुई, घायल हुई, यह अच्छा नहीं हुआ। मा को शायद मुझसे भी अधिक संताप मिला होगा। तभी यहाँ से हट गई।"

विमला ने कहा—"मैं आज तक भगवान् को नहीं मानती थी। ऐसी आस्था रखनेवालों का उपहास करती थी, परंतु आज मुझे लगा कि भगवान् है, और सर्वत्र है। जन-जन के हृदय में उसका निवास है।"

लखनपाल ने कहा—"सो तो है ही।"

विमला बोली—"पर लोग मानते नहीं। प्रमाद का धुआँ इतना तीखा और ज़हरीला होता है कि इन्सान को कुछ देखने नहीं देता। इसी से आदमी वास्तविकता नहीं समझ पाता।"

उसी समय लखनपाल दो प्याले चाय बना लाया। जब दोनों चाय पी चुके, तो विमला फिर तकिए पर सिर रखकर पड़ गई। लखनपाल ने चादर खोलकर ओढ़ा दी, और बोला—"तुम सो जाओ। आराम मिलेगा।"

विमला ने कहा—"मुझे घर जल्दी लौटना है।"

लखनपाल बोला—"तुम्हारी साड़ी में ख़ून लग गया था, धो दी गई है। सूख जाय, तो चली जाना।" कहते हुए उसने एक किताब उठा ली, और खोलकर पढ़ने लगा।

विमला ने कहा—"सुनते हैं आप, मैं इस घर में जो कुछ पाने आई थी, पा चुकी। मुझे इतना ही पाना था। अपने प्रति इस घर की सहानुभूति और दया प्राप्त करना ही मेरा ध्येय था।"

सहज भाव से लखनपाल मुस्किराया—"सचमुच तुम भी अजीब हो!"

विमला ने कहा—"हाँ, अजीब तो हूँ ही। लोग समझते हैं, मैं समर्थ पिता की पुत्री हूँ, भाग्यवान् हूँ, पर मैं यहाँ तो भिखारिणी बनकर आई हूँ। इतना सब हुआ, फिर भी ख़ाली हाथ लौट जानेवाली हूँ। मैं आपकी मा के समक्ष हार चुकी हूँ।"

लखनपाल हाथ की किताब के पन्ने उलट-पलट रहा था। विमला किस भावना पर टिककर अपनी बात कह रही है, वह सुगमता से उसके अंतराल में

उतरकर जान चुका था, फिर भी वह मौन था। अनजान-सा बना कुर्सी पर शांत बैठा रहा।

सहसा विमला ने करवट बदली, और लखनपाल की ओर देखा। फिर अपना हाथ बढ़ाकर लखनपाल की कुर्सी का हत्था पकड़कर बोली—"मैं अब भी कहती हूँ, आपको विश्वास दिलाना चाहती हूँ, माजी ने जो कुछ कहा, मैं उसकी आकांक्षिणी नहीं। हाँ, केवल यह अवश्य जानना चाहती हूँ कि मेरे जीवन का भावी मालिक कौन है, साथी कौन है!"

लखनपाल बोला—"विमलादेवी, मा के कहने का भी यही अर्थ है। भावना वही है, किंतु वह अपने पुत्र को भी पथ-च्युत होते नहीं देखना चाहतीं।"

विमला ने कुर्सी का हत्था छोड़ दिया, और साँस भरकर कमरे की छत की ओर देखते हुए कहा—"हाँ, भावना वही है, मान्यता वही है।" और, यह कहते हुए उसने अपना मुँह दूसरी ओर फेर लिया।

कुछ देर बाद लखनपाल ने देखा कि विमला पर निद्रादेवी का आधिपत्य हो चुका है। उसने धीरे से उठकर चादर ठीक से ओढ़ा दी, और कमरे के बाहर चला गया।

रूपवती घर लौटी, तो विमला सो रही थी। वह कमरे में अकेली थी। विमला की ओर देखते हुए उसने कहा—"निरी बेचारी याचिका!" फिर लखनपाल को बुलाकर कहा—"कहाँ चला गया था तू इसे छोड़कर? बेचारी कैसी निढाल पड़ी है। इसके पास बैठ लखनपाल!" और, वह मकान के दूसरी ओर चली गई।

---

# तैंतालीस

युवा और सुंदर लक्ष्मी के साथ भगवान् मानो क्रूर परिहास कर बैठा था। उसकी एक-एक चेष्टा इस बात की द्योतक थी कि उसने अपने आपको बरबस ही मौत के मुँह में डाल दिया है। कठोर परिश्रम और मानसिक क्लेश ही इस अवस्था का एकमात्र कारण था। उसे लगता था कि वह समाज में एक उपेक्षिता की भाँति अपने दिन काट रही है। लखनपाल और उसकी मा द्वारा अवश्य उसे जीने का सहारा मिला, उसके अँधेरे जीवन में प्रकाश की क्षीण रेखा का उदय हुआ, किंतु अब यह अवलंब भी, न-जाने क्यों, उसे टूटता-सा लगा।

कई दिन हो गए, लखनपाल प्रतिदिन उसके पास पहुँचकर हर प्रकार से उसकी सेवा करता। उसके हृदय में जीवन के प्रति अनुराग पैदा करने की सबल चेष्टा करता, किंतु व्यर्थ ! लक्ष्मी को देखकर उसने इस बात को समझ लिया कि उसके जीवन का चिराग बुझ रहा है। तेल समाप्त हो चुका है। जीवन-पथ का अंत निकट है।

परिणाम यह हुआ कि लक्ष्मी की यह दुर्दमनीय अंत देखकर लखनपाल भी दुखी रहने लगा। उसे लगता कि उसके जीवन का रस सूखता जा रहा है।

तभी, एक दिन एकान्त में लक्ष्मी ने उसे अत्यंत उद्विग्न देखकर कहा—"बताओ तो, आखिर तुम किसे जीवन मानते हो ?" उसने अपना स्वर गिराकर कहा—"तुम समझते होगे कि मैं दुखी हूँ, जीवन में मुझे टोटा रहा। नहीं, मैंने तो जितना कुछ पाना था, पा लिया। मैं पूर्णतया संतुष्ट हूँ।"

एकाएक क्षुब्ध स्वर में लखनपाल बोला—"तुमने मूर्खता का प्रदर्शन किया है—रोग छिपाया, बढ़ाया। बोलो, यह सब क्या अच्छा किया ? जीवन का असमय ही अंत कर देना पाप है, यह भी सोचा कभी तुमने ?"

बात सुनकर लक्ष्मी ने अपने सूखे होंठों पर जीभ फेरी। "ऐसा तुम मानते हो !" वह बोली—"यह जरूरी है क्या कि जीवन की अवधि लंबी हो, पथ विस्तृत

हो ? नहीं, मैं छोटी मंज़िल को उपयुक्त मानती हूँ। शीघ्र ही नया जन्म मिले, यही मेरे लिये शुभ है।"

खिजलाकर लखनपाल ने कहा—"मगर यह आत्महत्या है। जीवन हमारा नहीं, भगवान् का दिया है।"

उस समय लक्ष्मी जो कुछ कह रही थी, ऊपरी मन से कह रही थी। उसके अंतराल में कितना हाहाकार और रुदन भरा था, लखनपाल को इसका आभास तब मिला, जब एकाएक उसने लक्ष्य किया कि बात कहते हुए लक्ष्मी की सूनी आँखों में आँसुओं की बूँदें ढुलक आई हैं। यह देख, वह अतीव मर्माहत और चंचल हो उठा। तुरंत ही वह लक्ष्मी की ओर झुक गया। उसकी आँखों में कुछ पढ़ने का प्रयत्न करने लगा।

लक्ष्मी ने कहा—"तुम मेरी साँस मत लो। मुझसे दूर रहो।"

लखनपाल बोला—"नहीं, मेरे लिये तुम्हारी श्वास घातक नहीं।"

किंतु लक्ष्मी ने एक आह भरकर कहा—"मैं तुम्हें जीवित देखना चाहती हूँ। तुम्हें बड़ा आदमी बना देखना चाहती हूँ। तुम्हारा सुख और वैभव देखते हुए यहाँ से चली जाना चाहती हूँ।"

दुखित स्वर में लखनपाल बोला—"तो तुम्हें क्या मिलेगा ?"

लक्ष्मी ने कहा—"इससे क्या, कुछ न मिले, पर मेरी यही आकांक्षा है। पुरातन से नारी की एक यही अभिलाषा रही है। इसी से तो नारी के समर्पण और त्याग का आज मूल्य है।"

"ओह, भोली लक्ष्मी !"

लक्ष्मी ने कहा—"भगवान् की इच्छा सर्वोपरि है। मैं क्या जाना चाहती थी इस अल्पसमय में ? सच, मुझे तो अभी रहना था। तुम्हारा अभ्युदय देखना था।"

लखनपाल उस समय अतीव गंभीर था। लक्ष्मी की एक एक बात उसका हृदय कचोट रही थी। बड़ी कठिनाई से वह अपने आँसुओं को रोके हुए था।

तभी लक्ष्मी ने कहा—"इस अभागे जीवन में एक तुम मिले थे, जाने किस जन्म के संचित पुण्य से, किंतु अब तुम भी छूट जाओगे। सहज ही मुझसे दूर हो जाओगे !"

लखनपाल बोला—"ऐसी बातें न कहो, लक्ष्मी ! तुम अच्छी हो जाओगी, फिर स्वस्थ होकर मेरे साथ काम करोगी।"

लक्ष्मी ने होठों पर एक कड़वी-सी, विषाद-भरी मुसकान लाकर कहा—"हाँ, क्यों न अच्छी हो जाऊँगी !" और तभी उसने अत्यंत विकल स्वर में कहा—"तुम समझते हो, मैं तुमसे दूर हो जाऊँगी ? न, मैं तो मरकर भी तुम्हारे समीप रहूँगी।"

यह कहते हुए लक्ष्मी ने साँस भरी, और पुनः कहा—"लखना, तुम्हारी माँ जिस समय डॉक्टर से बात कर रही थी, मैं कमरे में पड़ी सब कुछ सुन रही थी। डॉक्टर कह रहा था—"रोग काफी बढ़ गया है। फेफड़ों पर प्रभाव हो चुका है।

अनेक रोगियों को देख चुकी हूँ। उनका परिणाम भी देख चुकी हूँ। पहले मुझे हल्की खाँसी थी, साधारण-सा ज्वर था, पर यह क्या पता था कि यह इतना भयंकर रूप ले लेगा। यों मुझे अकर्मण्य-सी बिस्तार पर पटक देगा।"

लखनपाल बोला—"फिर भी घबराने से तो काम न चलेगा।"

लक्ष्मी ने अपना दुर्बल हाथ लखनपाल के हाथ पर रख दिया, और कहा—"मैं कब घबरा रही हूँ ! मैं तो जानती हूँ, मरकर भी तुम्हारे समीप ही रहूँगी, तुम्हारे प्राणों में अपना एक स्थान बना जाऊँगी।"

लखनपाल ने कहा—"लक्ष्मी, मैं तो सदा तुम्हारा ही हूँ।"

लक्ष्मी बोली—"एक बार तुमने कहा था कि इन्सान मरता नहीं। उसकी आत्मा कभी अपने साथी से दूर नहीं होती।"

लखनपाल ने अपने स्वर पर ज़ोर दिया, और लक्ष्मी का ज्वर-जरित हाथ पकड़कर बोला—हाँ लक्ष्मी, आदमी मरता नहीं, अपने प्रियजनों से कभी भी दूर नहीं होता।"

किंचित् मुस्किराकर लक्ष्मी बोली—"इसी से मुझे भी इस शरीर को छोड़ने का दुःख नहीं। कहीं भी जाउँ, तो तुम साथ रहोगे, सदा मेरे रहोगे।"

एक दिन लखनपाल विचारों में लीन घर में बैठा था। रूपवती ने उसे सुनाकर कहा—"लखनपाल, डॉक्टर कहता था कि यह क्षय रोग छत का रोग है। उसने लक्ष्मी के अधिक संसर्ग मे आने के लिये निषेध किया है। उनका कहना है

कि रोगी की साँस से परहेज़ रखना चाहिए। रोग के कीटाणुओं से बचने के लिए हर प्रकार की सावधानी बर्तनी चाहिए।"

इतना सुनते ही, लखनपाल को रोमांच हो आया। वेदना भरे स्वर में बोला—"मा, यह कैसी विडंबना है! स्वार्थपरता की पराकाष्ठा! और फिर भी समाज संबंधों का सांस्कृतिक महत्व बघारता है। कितने संकुचित विचार है हमारे!"

रूपवती बोली—"तू मूर्ख है—अंधी भावना का पुजारी।"

लखनपाल बोला—"मा, निःसंदेह, हमारे संबंध भावना-जनित हैं। भावना-रहित मनुष्य को तुम मनुष्य कह सकती हो?" लखनपाल के अंतर की पीड़ा लखकर मा ने सदय भाव से कहा—"बेटा, मैं भी तुम्हारी भावनाओं का आदर करती हूँ, परंतु जब रोग ही ऐसा है, तो हमारा सचेत रहना ही बुद्धियुक्त है। यह छूत का रोग है, भंयकर है। और यह तो जानता ही है तू, संबंध आत्मा का है, शरीर तो नश्वर है।"

लखनपाल बोला—"किंतु मैंने तो यह भी देखा है, जब आदमी मरता है, वह तुरंत ही पुराने वस्त्रों की भाँति अलग कर दिया जाता है—भुला दिया जाता है। यह भी जगत का विचित्र व्यापार है। निरा निर्मम!"

रूपवती उस समय स्वयं भी अधीर थी। पुत्र की मनःस्थिति को समझती थी। इसलिए मौन रह गई। भावना को तर्क से पराजित करना उसने ठीक न समझा।

लखनपाल बोला—"मा, अभी तो लक्ष्मी जीवित है। उसके प्रति इतना दुराव क्यों? तुमने क्या उसके प्रति अपना अनुराग बिलकुल खो दिया है। वह न बचेगी, यह निश्चित है, फिर अंत समय में उसकी यह उपेक्षा क्योंकर की जाय?"

"बेटा यह बात मेरी नहीं, डॉक्टर की है। वह अब मुझसे स्पष्ट कह चुका कि लक्ष्मी का बचना कठिन है। फिर भी वह भरसक प्रयत्न कर रहा है, औषधि दे रहा है। एसी परिस्थिति में सजग रहना ही बुद्धिमानी है। लक्ष्मी का रोग गृहण कर लिया, तो इससे क्या कुछ प्राप्त होगा?" यह कहते हुए रूपवती ने

साँस भरी और बोली—"लक्ष्मी को भी यह रोग दूसरों से ही मिला है। मुझे तो अब पता चला, रमोले की युवा लड़की को यही रोग था। वह इसी में मरी। लक्ष्मी ने उसकी परिचर्या में कुछ उठा नहीं रखा। पगली ने अपने प्रति कोई सावधानी नहीं बरती। उस लड़की का मल-मूत्र भी स्वयं उठाया।"

उत्साह-भाव में लखनपाल बोला—"मा, लक्ष्मी धन्य है, उसने गाँववालों जैसी सेवा की है, क्या उसे हम भूल सकेंगे!"

"निःसंदेह। लक्ष्मी ने गाँव की बड़ी सेवा की है। मेरे कहे पर चली है। क्या अभिलाषा थी मेरी, और क्या हो गया! लक्ष्मी इस घर की रानी बनती, यही तो मेरी आकांक्षा थी। पर भगवान की इच्छा सर्वोपरि है!"

"मा, तुम लक्ष्मी से कुछ न कहना उसे न बताना कि उससे दूर रहना जरूरी है। उसे पीड़ा होगी।"

"अरे, यह भी कहीं कहा जाता है? हमें तो उस भावनामयी के मन को प्रफुल्ल रखना है, संतप्त नहीं।"

उस दिन संध्या समय लखनपाल नदी पर पहुँच गया और वहीं देर तक बैठा रहा। चाँद निकल आया था। चारो ओर उसका धवल प्रकाश फैल गया था। नदी का निर्मल जल उस चाँद के उजियारे में जैसे हँस रहा था, थिरक रहा था, किंतु स्वयं लखनपाल का मन खिन्न था। वह दुःसह पीड़ा से भरा था। उसी दिन उसने डाक्टर से बात की थी। इसी हेतु वह शहर गया था। निःसन्देह, वह अब तक इस बात को नहीं सोच सकता था कि लक्ष्मी नाम का वह पंछी जल्दी ही उड़ जायगा, उससे दूर हो जायगा।

नदी तट पर बैठे हुए लखनपाल के मन में बार-बार एक ही विचार आ रहा था कि आखिर इस जीवन का व्यापार ऐसा निर्मम क्यों? यह धरती, यह आकाश और यह जीव-जगत, कितना क्षणिक है। फिर भगवान् क्यों इस प्रकार अपनी लीला की रचना करता है और फिर सब तिरोहित हो जाता है......!

इसी समय लखनपाल को अपने शिक्षक द्वारा सुनी उस अमरकथा की स्मृति हो आई, जब महात्मा बुद्ध ने नगर-पर्यटन के समय अनायास ही जीवन को पीड़ा, जीवन का भोग और जीवन का घिनौना अंत देखा, तथा बरबस ही उनका अंतर्मन

जीव-जगत के प्रति उपेक्षा से भर गया था। वह वीभत्स दृश्य जब युवराज के मानस पर अंकित हो गए, तो भरे यौवन मे ही योग-साधन की कल्पना लिए रनिवास त्यागकर सत्य की खोज मे निकल गए।

लखनपाल के मन में ऐसी कोई साध नहीं थी कि वह स्वयं भी किसी ऐसे पथ का अनुसरण करे, किंतु वह इस पीड़ामय जगत से ऊब-सा उठा था। वह सोचता, कल की भोली लक्ष्मी आज सभी के लिये भय और उपेक्षा की पात्र है। वह स्वयं अपनी दृष्टि में मर चुकी है। बेचारी ने जीवन भर दुख-ही-दुख देखा है। क्या उसके दुखों का कोई निस्तार नहीं? लखनपाल को याद आ रहा था, जब इसी नदी-तट पर अनेक बार उसने और लक्ष्मी ने रेत के घर बनाए थे। वह कलिका लक्ष्मी सदा पुलककर कहती थी—"लखना! हम दोनो इसी घर में रहेंगे। मैं इस घर की रानी बनूँगी, तू राजा! और जब मेरा राजा घर से दूर जायगा, तो मैं इस घर के द्वार पर खड़ी, उसकी बाट जोहती रहूँगी।"

उसने साँस भरी और बुदबुदाया—"काश! मैं भी सिद्धार्थ होता, मेरी आत्मा में भी उतना तेज होता!"

इतना कहते ही वह उदास पड़ गया। सचमुच, वह कई दिन से विचार करते-करते थक-सा गया था। निरंतर का मानसिक द्वंद्व उसका मंथन कर रहा था। मा चुनाव-संघर्ष में लिप्त थी। जाने वह क्यों उस रास्ते पर बढ़ चली थी। लखनपाल देखता कि गाँव के जमींदार को शिकस्त देने के लिये पार्टियों ने बरबस ही मा को राजनैतिक मंच पर खींच लिया था, जैसे मा का पथ बदल दिया था उन लोगों ने, और मा ने उसी पथ पर पाँव बढ़ा दिए।

जीवन और जगत की असारता का भाव लिये जब लखनपाल घर पहुँचा, उसे देखते ही मा ने कहा—"अरे, कहाँ गया था तू? देख, विमला आई है। जाने कितनी देर से तेरे कमरे में बैठी प्रतीक्षा कर रही है।"

लखनपाल ने कोई उत्तर न दिया और चुपचाप अपने कमरे की ओर यंत्र-वत बढ़ गया।

---

# चौवालीस

अत्यंत भाव-विह्वल स्वर में रूपवती ने कहा—"इस दुनिया में लक्ष्मी को कोई स्वस्थ देखना चाहता हो या नहीं, परंतु ज़मींदार की बेटी विमला अवश्य ऐसा चाहती है। उसने शहर से एक बड़े डॉक्टर को बुलाया है। सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि उसने यह व्यवस्था अपनी मा की अनुमति से की है। स्वयं भी लक्ष्मी के पास नित्य जाती है। अनेक प्रकार से उसका मन बहलाती है।"

मा की बात सुनकर लखनपाल ने अपना मत नहीं दिया। वह पहले ही यह सब सुन चुका था, और विमला के मन की उस अवस्था को आदर की दृष्टि से देखता था। किंतु, फिर भी वह विस्मित अवश्य था कि इतना सब वह क्यों कर रही है।

रूपवती ने पुनः कहा—"अब तक सुनती थी कि पिता का ऋण पुत्र चुकाता है, परंतु अब देख रही हूँ कि पुत्री भी ऐसा अनुष्ठान करती है। आश्चर्य है, जिस विमला का पिता चुनाव में मेरा प्रतिद्वंदी है, जन्म-जन्म का शत्रु है, उसी की पुत्री इतनी वीतरागी होकर हम लोगों के प्रति समर्पित है!" रूपवती ने उस वार्ता के प्रसंग में ही लखनपाल को बताया—"कल चुनाव है। मुझे संघर्ष की आशंका है। ज़मींदार के गुरगे सभी प्रकार के हथकंडे प्रयोग में लायँगे। मार-पीट भी हो सकती है।"

लखनपाल ने कहा—"मा, यह चुनाव-प्रणाली ही गलत है। व्यर्थ समाज में वैमनस्य फैलाती है।"

मा बोली—"अभी देश की जनता अशिक्षित है। उसके चरित्र का स्खलन हो चुका है। समय के साथ ही सब कुछ ठीक हो जायगा।"

संध्या के झुटपुटे में लखनपाल घर पहुँच कर अपने कमरे में गया, तो उसने देखा कि विमला चारपाई पर बैठी एक किताब पढ़ने में लीन है। लखन-

पाल को देखते ही उसने किताब बंद कर दी और बोली—"आज थक गई यहाँ बैठे-बैठे। पर निश्चय कर चुकी थी कि आज तुमसे भेंट करके जाऊँगी।"

लखनपाल सहज भाव से मुस्किराया—"मुझे खेद है, विमला देवी ! यों ही ज़रा नदी पर चला गया था। वहाँ जाकर बैठा, तो बैठा ही रह गया।"

विमला ने कहा—"नदी-तट का एकांत मुझे भी बड़ा भला लगता है। कभी-कभी जी चाहता है, वहीं बैठी रहूँ।"

लखनपाल बोला—"वहाँ परम शांति है। नदी की बहती धारा बड़ी सुहावनी लगती है। आज मैं बहुत परेशान था। तुम्हारा साथ होता, तो अनेक समस्याओं पर विचार-विनिमय होता।"

सुनकर विमला धीमे से मुस्किराई और बोली—"विचार अच्छा है। परंतु प्राय: मनुष्य जो कल्पना करता है, उसे व्यवहार में नहीं ला पाता। लाए भी, तो पछतावा होता है।"

लखनपाल ने कोई उत्तर न दिया। विमला की व्यंग्योक्ति का अभिप्राय वह समझ गया था।

किंतु उसी समय गंभीर होकर विमला ने कहा—"मैं आज तुमसे एक बात कहने आई हूँ। लक्ष्मी बहन के मन में यह बात बैठ चुकी है कि वह नहीं बचेंगी, और मेरी दृष्टि में यही उनके लिये घातक है। मेरा अपना मत है कि उनका रोग अभी बेहाथ नहीं हुआ। वह रोग-मुक्त हो सकती हैं।"

लखनलाल बोला—"विमलादेवी, इस जीवन का मोह सभी को है। हम-तुमको भी है। जब हम अपने पास की किसी जड़ वस्तु को छोड़ते हुए कष्ट पाते हैं, उससे मोह करते हैं, तो जीवन तो हमारे अधिकतम निकट है, उसमे ममता होना स्वाभाविक है।"

विमला ने कहा—"मैं भी इसे अनुभव करती हूँ। लक्ष्मी बहिन इस झंझावात से मुक्त हों, इसके लिये मैं अपनी बड़ी-से-बड़ी क़ुर्बानी देने के लिये प्रस्तुत हूँ।"

उसी समय रूपवती वहाँ आई और विमला को लक्ष्य कर बोली—"बेटी, तुम लक्ष्मी की सेवा करना चाहती हो, यह बड़े पुण्य का काम है। पर साव-

धानी की तुम्हें भी आवश्यकता है। यही मैंने लखनपाल से भी कहा, पर यह तो मस्तिष्क की नहीं, हृदय की आज्ञा पर चलता है।"

विमला ने कहा—"लक्ष्मी बहिन के बजाय मौत मुझे ले जाय, तो क्या बुरा है। अपनी रक्षा के लिये उनकी उपेक्षा करूँ ?"

"राम-राम ! कैसी बात करती हो, बेटी ! भगवान् तुम्हारी रक्षा करे ! लक्ष्मी के समान तुम्हारा जीवन भी अभी अधूरा है। तुमने जिस सद्भावना का परिचय दिया, प्रभु तुम्हारी सदा रक्षा करेंगे।"

सहसा विमला ने हँसकर कहा—"माजी, कल तुम्हारा चुनाव है। कहे देती हूँ, जीत तुम्हारी ही होगी। मै अनेक स्थानों पर गई, जनता को तुम्हारे ही गुन गाते पाया है।"

रूपवती बोली—"नही, बेटी ! मैं चाहती हूँ, तुम्हारे पिता ही विजयी हों। परंतु उस जीत के साथ उनका दृष्टिकोण बदल जाय, जनता के प्रतिनिधि के रूप में जनता के दुख-दर्द समझने की क्षमता आ जाय, तो इससे अधिक सुंदर बात और क्या हो सकती है !"

विमला ने कहा—"माजी, प्रत्येक पुत्री अपने पिता की श्रीवृद्धि की कामना करती है। मैं भी अपने पिता का यश चाहती हूं, परंतु इस चुनाव के संघर्ष को देखकर तो मेरी आत्मा कहती है कि जीत तुम्हारी होगी। भेड़िया तो भेड़िया रहेगा।"

रूपवती ने एकाएक खिन्न स्वर में कहा—"तुम ऐसा भी कह सकती हो, अपने पिता के लिये ? नहीं, ज़मींदार साहब भी मनुष्य है। उनकी आत्मा में भी मानवीय भाव हैं। परिस्थितिवश वह अभी विषैले संस्कारों के नीचे दबा पड़ा है। आवश्यकता है, उस सुषुप्त भावना को जगाने की !"

विमला ने कहा—"माजी, मेरे पिता मुझे घर में सबसे अधिक प्यार करते है। मेरे सिर में ज़रा-सा दर्द भी होता है, तो वह खाना-पीना भूल जाते हैं; परंतु उन्होंने यह मानवीय दया और प्रेम समाज की अन्य पुत्रियों को क्यों न दिया ! क्या आपके साथ भी अनुचित व्यवहार नहीं किया ? आपने मुझसे भले ही छिपाया, पर मैं सब कुछ सुन चुकी हूँ। तब क्या कहूँ ऐसे पिता को ?

वह मेरे पिता है, मुझे प्यार करते हैं, केवल इसी हेतु उनके पापों पर पर्दा डाल दूं ? न माजी ! मेरी आत्मा कहती है कि पिता के कुकर्मों का विरोध करूं। समाज के समक्ष चिल्लाकर कहूँ कि मेरे पिता मनुष्य नहीं, राक्षस......"

एकाएक रूपवती के दाँत भिच गए, मुट्ठियाँ बँध गईं और चेहरा क्रोध से तमतमा उठा। चीखकर बोली—"चुप रह मूर्ख ! बकवास किए जाती है ? चली जा, निकल जा यहाँ से।"

मा का अचानक ही ऐसा उग्र रूप देखकर, लखनपाल जैसे हतप्रभ रह गया। वह कुछ कहता कि तभी अत्यंत भावनामयी बन, रूपवती ने विमला के समीप आकर उसका मुँह अपनी छाती से लगाते हुए कहा—"हाय, क्या हो गया मुझ से ! क्रोध ने मुझे अंधा कर दिया।"

लखनपाल बोला—"मा, यह अच्छा नहीं है।"

आर्द्र स्वर में रूपवती बोली—"हाँ बेटा, यह अच्छा नहीं हुआ।" और तभी उसने विमला को दुलराते हुए कहा—"पर यह पगली भी तो ऐसा होश खो बैठी कि अपने बड़ों को ही कहनी-अनकहनी सब कह गई। राम जाने मुझे भी क्या हो गया था जो....."

बीच ही में विमला ने कहा—"माजी, आज समझी मैं कि तुम सच्ची मा हो। सच, मुझे ऐसा न कहना चाहिये था, पर जो दंड मेरी मा नहीं दे सकती, तुमने दिया। अपना समझकर ही तो।"

रूपवती ने अपराधिनी के सदृश बनकर कहा—"न, बेटी ! यह मेरा अधिकार नहीं था, पर आदत की बात थी, अपशब्द निकल गए। मुझे क्षमा करना बेटी।"

विमला ने रूपवती के हाथ पकड़ लिए और अपने होठों से लगाते हुए कहा—"मैं आज धन्य हुई ! तुमने मुझ पर अपना अधिकार तो समझा।"

रूपवती ने वहाँ से जाते हुए कहा—"अच्छा, तुम दोनों बैठो, मैं खाना लगाती हूँ। दोनों बैठकर पहले खा लो। फिर बातें होंगी।" कहते हुए रूपवती वहाँ से चली गई।

तभी लखनपाल ने कहा—"देखा, यह है मेरी मा का वास्तविक रूप !"

विमला ने साँस भरकर कहा—"हाँ, देखा मैंने आपकी मा का रूप !" वह पुनः बोली—"काश ! मेरी मा भी इतनी कठोर, इतनी निष्ठावान होती ! पर वह तो पिताजी के शासन और क्रोध से इतनी दबी है कि अपनी आत्मा की पुकार को भी व्यक्त नहीं कर पाती। वह कभी भी अपनी इच्छा से कुछ नहीं कर पाती—न घर में, न बाहर।"

लखनपाल ने कहा—"यह अन्याय है। घर में नारी का अस्तित्व स्वीकार करना चाहिये। उसी की बात का आदर होना चाहिये।"

उस समय विमला के मन में एक ही बात उमड़-घुमड़ रही थी। उसी को लेकर वह बोली—"लखनपालजी, माजी ने अकस्मात ही मुझ पर जो क्रोध किया, उससे उन्हें कितनी पीड़ा मिली, इसका अनुमान न तुमने किया, न मैंने। और मुझे आज जीवन में एक श्रेष्ठतम पाठ मिला।"

लखनपाल बोला—"मेरी मा को क्रोध जल्दी आता है, परंतु जब उसका शमन होता है, तो स्वयं ही अपने-आप रो पड़ती हैं, पश्चात्ताप करती हैं। आज तुम्हारे साथ भी जो कुछ किया, उसके लिए उन्हें पश्चात्ताप करना पड़ेगा।"

विमला ने अपने स्वर पर जोर देकर कहा—"माजी ने अपने शत्रु की पुत्री को अपनत्व दिया। आज मैंने देखा कि उनके हृदय में शत्रु के प्रति भी कितना अनुराग है।"

उसी समय रूपवती खाने की थाली लाई और बोली—"लो, खाओ तुम दोनों।" यह कहते हुए उसने दो थालियाँ चटाई के पास ज़मीन पर रख दीं, और विमला को लक्ष्य कर बोली—"तूने जो कुछ कहा, वह मैंने सुन लिया। पर मैं तो सदा कहती आई हूँ कि मेरा कोई शत्रु नहीं—तेरे पिता भी नही।"

खाने की थाली देखकर लखनपाल बोला—"आज तो मिठाई भी है।"

रूपवती बोली—"आजकल लोग आते हैं, तो कुछ-न-कुछ ले आते हैं।"

विमला ने कहा—"माजी, आपकी आज्ञा का पालन तो करना ही पड़ेगा, पर घर पर दुबारा खाना पड़ेगा। अम्मा तभी खाती हैं, जब मैं खा लेती हूँ।"

हँसकर रूपवती ने कहा—"ऐसा ही सही। पर थोड़ा-सा खा ही लो। चुनाव

के बाद मैं तेरी मा से मिलूँगी। उनके समक्ष भिखारिणी बनकर अपनी झोली फैला दूँगी।"

"भिखारिणी क्यों ?"

"हाँ बेटी ! किसी के घर की शोभा छीनने के लिये भिखारिणी बनना ही पड़ता है। तू अपने मा-बाप के घर की शोभा नहीं है क्या ?"

विमला ने हँसकर कहा—"माजी, लड़की बोझ होती है मा-बाप के लिये, घर की शोभा नहीं। यही परंपरा है।"

रूपवती ने वहाँ से जाते-जाते कहा—"यह सब पुरानी बातें हैं। अब समय बदल रहा है।"

जब मा चली गई, तो लखनपाल ने देखा कि उस समय विमला के मुख पर लाज भरी लाली छा गई है। वह चुपचाप सिर झुकाए बैठी है।

लखनपाल बोला—"मा कहती थी, तुमने मुझे पाने के लिये योग-साधना की है। क्यों ?"

लाज से कुम्हलाते हुए विमला ने कहा—"नहीं तो, मैंने कुछ भी तो नहीं किया। हाँ, मैं तुम्हारी सहानुभूति अवश्य चाहती हूँ। और चाहती हूँ तुम्हारी प्रियतमा को जीवित देखना। लक्ष्मी बहन के लिये मुझसे जो कुछ भी हो सकता हैं, करने को उद्यत हूँ।"

लखनपाल स्नेहसिक्त स्वर में बोला—"मेरा अनुभव है कि प्रियतमा और गृहणी दोनों के अलग-अलग कर्म हैं। मेरी मा की इच्छा है, यदि तुम्हारे पिता सहमत हुए, तो हम-दोनो अपनी गृहस्थी का निर्माण करें। क्यों, तुम्हारा मन इसके विपरीत है ?"

विमला ने कहा—"मैं प्रियतमा और गृहणी में कोई अंतर नहीं मानती। यदि ऐसा कुछ हो भी, तो उसे समाज के लिये शुभ नहीं समझती।"

दोनो भोजन करने लगे। लखनपाल विमला की ओर मिठाई की तश्तरी बढ़ाकर बोला—"यह खाओ। जनकपुर का कलाकंद है। बड़ा स्वादिष्ट है।" फिर बोला—"प्रियतमा या प्रियतम शब्द अविवाहित अवस्था में ही सार्थक हो सकता है निःसंदेह, विवाह के बाद नहीं। विवाह के पूर्व दोनो एक-दूसरे के

प्रति आकर्षित होते है, एक-दूसरे मे कुछ खोजते है, कुछ पाना चाहते हैं ; विवाहोपरांत नर-नारी एक-दूसरे मे लीन हो जाते है, एक आत्मा दो शरीर हो जाते हैं। दो हृदयों की वाणी, दो आत्माओं का घोष यदि एक स्वर में न बोले, तो फिर दांपत्य-प्रेम का महत्व क्या ? प्रेम इस जगत की सबसे बड़ी संपदा—अनूठी देन है। यही भावना तो समूचे जीव-जगत में प्रचिलित है। इसी का जयघोष मानव-हृदय को तरंगित करता है।"

विमला ने कहा—"तुम तो कविता करने लगे !"

उसी समय रूपवती आई और बोली—"विमला बेटी, लक्ष्मी के पास गई थी ? वह अब तुझे बहुत याद करती है।"

विमला ने कहा—"हाँ, संध्या समय गई थी। एक प्याला फल का रस पिला आई थी।" पुनः बोली—"लक्ष्मी बहिन का दुख देखकर कलेजा मुँह को आता है। उनके मन की अनेक अभिलाषाएं मन में रह गईं। मै तो कहती हूँ, विधाता लक्ष्मी को जीवन दे दे, मेरा जीवन ले ले।"

भरे कंठ मे रूपवती ने कहा—"अभी कितने दिन दुनिया देखी है उसने ! निरी कच्ची कली है। भगवान की लीला, कली असमय ही सूख चली और बूढ़े, पुराने पेड़ हरे हैं। अभी तो उसकी जिंदगी का आरंभ हुआ था।"

दोनो भोजन कर चुके थे। विमला ने बाहर काले अंतरिक्ष की ओर देखकर कहा—"माजी, मैं लक्ष्मी बहिन के मन की पीड़ा पहचानती हूँ।" फिर लखनपाल की ओर देखकर हँसी—"पिताजी एक दिन कहते थे कि मा चुनाव में खड़ी है और बेटा हाथ-पर-हाथ धरे बैठा है।"

रूपवती ने कहा—"लखना को चुनाव पसंद नहीं है। मुझे भी नहीं, परंतु पार्टी की बात न टाल सकी। इस एक मास में मुझे बहुत परिश्रम करना पड़ा है। इतना बोली कि गला बैठ गया है। शरीर थक-सा गया है। वास्तव में विचित्र है यह चुनाव का नशा !"

लखनपाल बोला—यह एक रोग है समाज का। इसी के माध्यम से पैसेवालों का विष सर्वत्र बिखर रहा है।"

विमला ने कहा—"सचमुच, यह रोग ही है।"

लखनपाल बोला—"जिन्हें समाज की सेवा करनी है, उन्हें चुनाव में खड़े होने की आवश्यकता नहीं। कर्मठ व्यक्तियों का यह रास्ता नहीं है।"

"मैं भी यही मानती हूँ, पर इस चुनाव द्वारा मैंने जन-सेवा का अपना एक नया रास्ता चुन लिया है।"

एकाएक विमला ने प्रश्न किया—"नया रास्ता कैसा माजी ?"

"अब मेरा क्षेत्र सीमित नहीं रहेगा। मैं जनता के लिये, अपने ग्राम-वासियों के लिये सरकार की सहायता भी प्राप्त करूँगी।"

तभी विमला ने विषय बदलते हुए कहा—"माजी, कभी-कभी आदमी अपनी आत्मा की आवाज़ भी सुनता है और मन की बात कह ही बैठता है। एक दिन पिताजी ने भावातिरेक में स्वतः ही मुझे वह सब बताया, जो उन्होंने तुम्हारे साथ किया। उन्होंने अतिशय दीन भाव में कहा था—'यह दंभ और पैसा आदमी को अंधा बनाता है। बेटी, चुनाव में खड़ा तो हुआ हूँ, रुपया भी खर्च कर रहा हूँ, परंतु मेरी आत्मा कहती है कि विजयी नहीं हूँगा। श्रेयस्कर भी यही है कि जो व्यक्ति जनता का सेवक है, वही विधान-सभा में उनका प्रतिनिधित्व करे।'"

रूपवती ने गभीर होकर कहा—"मानव-प्रकृति ही परिवर्तनशील है। कुटिल से कुटिल व्यक्ति भी एक दिन अवश्य अपनी भूल अनुभव करता है। उसके जन्म-जात सुसंस्कार उसे सही मार्ग खोजने की प्रेरणा देते हैं।"

विमला ने कहा—"जिस समय आपने डाकुओं के पंजे से छुड़ाया, और जीवन दान दिया, तभी से उनके मन में आपके प्रति अटूट श्रद्धा है। प्रगट रूप में भले ही वह उसे स्वीकार न करें, क्योंकि भूल स्वीकार करने का उन्हें अभ्यास नहीं हैं, पर घर में आपकी जन-सेवा की सराहना करते नहीं अघाते।"

एकाएक रूपवती ने कहा—"भगवान उदार है! वह एक दिन सभी का सुधार करता है।"

विमला ने कहा—"परंतु उस भगवान का रूप तो आपने धारण किया है, माजी। आपने ही उन्हें प्रेरणा दी है।"

लखनपाल व्यंग्य से बोला—"समय के साथ आदमी बदलता है। हवा के परों

पर उड़ता है। समय बदला है, तो गाँव की दीन जनता की कराह भी ज़मींदार साहब की ऊँची अटारी तक एक दिन अवश्य पहुँचेगी।"

विमला बोली—"आप आश्चर्य करेंगे, मेरे द्वारा दिये गये रुपये का उल्लेख जब पिताजी से किया गया, तो उन्होंने कोई आपत्ति नही की, अपितु मेरे इस कार्य की सराहना की। अब उन्होने भैया से मजदूरों को बोनस बाँटने के लिये भी कहा है। मिल को कई लाख का लाभ भी तो हुआ है। सच तो यह है, कि उन्हें भी अब दीन दुखियों के प्रति सहानुभूति होने लगी है। किंतु प्रगट रूप में उनके लिए कुछ करने में उन्हें संकोच होता हैं कि कहीं उनका यह कर्म वोट प्राप्त करने की युक्ति न समझी जाय।"

सुनकर रूपवती व लखनपाल ने एक-दूसरे की ओर एक अर्थपूर्ण दृष्टि से देखा और आश्चर्य-विस्फारित नेत्र विमला की ओर टिका दिए।

उसी समय एक आदमी दौड़ा आया और हाँफते हुए बोला—"माजी, ग़ज़ब हो गया। ज़मींदार के आदमियों ने झगड़ा शुरू कर दिया। ज़मींदार बाबू बुरी तरह घायल हो गए हैं।"

बात सुनी, तो रूपवती चिल्लाई—"हाय राम! नाश हो इस चुनाव का।" और वह तभी पुत्र और विमला को साथ ले, घटनास्थल की ओर बढ़ गई।

जब रूपवती घटना-स्थल पर पहुँची, तब तक पुलिस ने स्थिति पर नियंत्रण कर लिया था। ज़मींदार साहब अस्पताल पहुँचा दिए गए थे। रूपवती विमला और लखनपाल को साथ लेकर जब अस्पताल पहुँची, तो उसने देखा, डॉक्टर तथा अन्य सभी एकत्रित व्यक्ति अत्यंत चिंतित हैं। डॉक्टर ने उसे बताता—"शरीर से खून अधिक निकल गया है। इस छोटे-से अस्पताल में एकत्रित खून तो है नहीं। और यहाँ जितने भी लोग हैं, उनका खून मेल नहीं खाता। बड़े अस्पताल तक ले जाने में समय लगेगा। हमें भय है, तब तक रोगी की दशा हाथ से बे-हाथ न हो जाय।"

रूपवती ने कहा—"आप चाहें तो खून मेरे शरीर से ले लें।"

डॉक्टर मुस्किराया—"आप स्वयं निर्बल हैं, आपका खून क्योंकर लिया जा सकता है? लखनपालजी का खून यदि आप कहें, तो मैं टेस्ट कर लूँ।"

लखनपाल आगे बढ़ आया और उत्साह से बोला—"अवश्य । यदि किसी के जीवन की रक्षा मेरे ख़ून से हो सकती हो, तो इससे अधिक सौभाग्य की बात मेरे लिये क्या हो सकती है ।"

परीक्षण द्वारा लखनपाल का रक्त ज़मींदार साहब के उपयुक्त पाया गया । लखनपाल को उनके पास के एक पलंग पर लिटाया गया । नर्स और डॉक्टर ने शीघ्रता-पूर्वक सारी व्यवस्था की । और लखनपाल का रक्त ज़मींदार साहब के शरीर में पहुँचाया जाने लगा । एक निर्धन का रक्त धनवान् के शरीर में दौड़ने लगा था !

रात आधी से अधिक बीत गई थी, ज़मींदार को चेत हुआ । उन्होंने धीरे से आँखें खोलीं, और देखा कि उनके पलंग के पास लखनपाल लेटा है, दूसरी ओर उनके परिवार के सदस्यों के अतिरिक्त रूपवती भी बैठी है ।

उसी समय विमला ने कहा—"पिताजी, अब कैसी तबियत है ? आपको ख़ून दिया गया हैं । लखनपाल बाबू ने आपको ख़ून दिया है ।"

किंतु ज़मींदार साहब ने कोई उत्तर नहीं दिया । वह सारी परिस्थिति समझ गए थे । क्षोभ और ग्लानि से उनका हृदय भर आया । उन्होंने पुन: आँखे मूंद लीं ।

उसी समय एकाएक रूपवती ने कहा—"ज़मींदार साहब !"

ज़मींदार ने आँखें खोलीं, उनमें भरा खारा जल उनके मुख पर तैर आया, और उन्होंने पुन: आँखे बंद कर लीं ।

डॉक्टर ने लखनपाल को एक बीकर में दवा पीने को दी, और आरामकुर्सी पर बैठने को कहा । खतरा टल चुका था । सभी ने संतोष की साँस ली ।

तभी रूपवती ने लखनपाल से कहा—"उठो बेटा ! रात अधिक हो गई है ।"

ज़मींदार की पत्नी ने उसे रोककर हाथ जोड़ते हुए धीर भाव से कहा—"तुम्हें कितना कष्ट हुआ, बहन !"

रूपवती ने कहा—"नहीं-नहीं, यह तो मेरा कर्तव्य था । अंतत: हमें सोचना पड़ेगा कि हम सब एक हैं । एक दूसरे के दुख:-सुख के साथी हैं । आप लोग इसे नहीं मानते, यही खेद का विषय है । अच्छा, अब चलूँगी । नमस्कार ।"

बिना किसी प्रत्युत्तर की प्रतीक्षा किए मा-बेटे घर लौट चले। रास्ते भर दोनों शांत चित्त अपने-अपने विचारों में डूबते-उतराते रहे, और घर आकर अपने-अपने स्थान पर लेट रहे।

---

# पैंतालीस

अप्रत्याशित रूप से चुनाव में हारकर जमींदार विक्रम के अहंभाव को करारी ठेस लगी। इस प्रकार गाँव की एक साधारण स्त्री से पराजित होना पड़ेगा, ऐसी कल्पना भी उसने कभी न की थी। यों समय के साथ उसकी विचार-धारा बदल रही थी, ऊँच-नीच का भेद-भाव मिट रहा था, किंतु सदा विजय प्राप्त करने का अभ्यस्त उसका उप-चेतन मन निरंतर उसकी आत्मा को कचोटता रहता।

ज़मींदार के चाटुकारों ने चिल्लाना आरंभ किया—"ज़मींदार साहब हारे नहीं, हराए गए हैं। सरकारी कर्मचारियों ने उनके साथ छल किया है। हम रूपवती और उसके समर्थकों को अच्छी तरह देख लेंगे।"

ज़मींदार विक्रम ने उन्हें समझाया—"जब साँप निकल गया, तो लकीर पीटने से क्या लाभ! समय के साथ समझौता कर लेने में ही बुद्धिमानी है।" अतः दुनियादारी के नाते रूपवती के पास बधाई का पत्र भेज दिया गया। चाटुकार मित्र अपने आक़ा में कोई उत्साह न देख मन मारकर रह गए।

ज़मींदार विक्रम ने अपने साथियों को तो समझा लिया, किंतु अपने हृदय को न समझा सका। उसे लगता, रूपवती सम्मुख खड़ी उपेक्षा की दृष्टि से उसे देख रही है। एक व्यंग्य-पूर्ण मुस्कान उसके मुख पर नाच रही है, और उसके पीछे खड़ा जन-समूह उस पर थूक रहा है, अट्टहास कर रहा है। वह भय से काँप उठता। उसने बाहर आना-जाना बंद कर दिया। निरंतर चिंता और मानसिक द्वंद्व के फल-स्वरूप शारीरिक शक्ति क्षीण होती गई, और एक दिन वह बिस्तर से लग गया।

रूपवती को जब अपनी विजय का समाचार मिला, हर्ष से उसका मन-मयूर नाच उठा। इसलिये नहीं कि उसे विधान-सभा में स्थान मिला, अथवा

उसके शत्रु पराजित हुए, वरन् इसलिये कि चिरकाल से दासता की शृंखलाओं में जकड़ी ग्रामीण जनता ने करवट बदली है। उसकी विजय इस बात का प्रमाण है कि निर्धन ग्रामीण भी अब अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक हैं। चाँदी की चमक और सोने की ठनक में अब ये भटक नहीं सकते। सहसा उसे अपनी वस्तु-स्थिति का ज्ञान होता, और वह अत्यंत गंभीर हो जाती। वह सोचती कि अब उसका कर्तव्य-पथ उतना सुगम नहीं—एक भारी उत्तरदायित्व का बोझ उसके कंधों पर आ पड़ा है। जिन निरीह प्राणियों ने अपना प्रतिनिधित्व—अपना विश्वास—उसे सौंपा है, उनकी आँखें कितनी आतुरता, कितनी आशा से उसकी ओर लगी हुई हैं। भूख की पीड़ा से छटपटाती, अकिंचन, अकेतन जनता का आर्त-नाद उसके श्रवण-रंध्रों में गूँजने लगा। क्या वह अकेली इन निरीह प्राणियों के रोटी-कपड़े का प्रश्न हल कर सकेगी? क्या वह विधान-सभा में पहुँचकर अपने अबोध, निर्धन बंधुओं के कल्याण के लिये सफलता-पूर्वक संघर्ष कर सकेगी?

इन्हीं विचारों में उलझी रूपवती अपने कमरे में गंभीर मुद्रा में अकेली बैठी थी। अँधेरा हो चला था, चरवाहे ढोरों को लेकर गाँव की ओर लौट रहे थे। उसी समय लखनपाल ने कमरे में प्रवेश किया। मा को अँधेरे में चिंतित बैठे देख उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। अबोध बालक की भाँति अपनी मा से लिपटते हुए बोला—"क्या हुआ मा? अँधेरे में क्यों बैठी हो? क्या मुझसे नाराज़ हो? लो, मैं कान पकड़े लेता हूँ। बस, अब तो क्षमा कर दो।" कहते हुए दोनों हाथों से उसने अपने कान पकड़ लिए, और हँस पड़ा।

रूपवती की तंद्रा भंग हुई। अपने पुत्र के सिर पर सप्रेम हाथ फेरते हुए विहँसकर बोली—"यह क्या करता है, रे! मैं कभी अपने बेटे से रुष्ट होऊँगी? मैं तो यों ही बैठी कुछ सोच रही थी, समय का ध्यान ही न रहा। कहाँ से आ रहा है?"

लखनपाल उठकर दीपक जलाते हुए बोला—"कहीं से नहीं मा! यों ही जरा पड़ोस के गाँव में चला गया था। और, हाँ मा! आज के यह बधाई के पत्र तुमने देखे? नगर के सभी गण्य-मान्य नेताओं को तुम्हारी सफलता पर

हर्ष है। जमींदार साहब ने भी तुम्हें बधाई का पत्र भेजा है। मालूम होता है, कोई नई चाल..."

रूपवती बीच ही में बोल उठी—" नहीं बेटा, ऐसा नहीं कहते। मनुष्य में बुराई खोजो, तो उसकी हर चेष्टा तुम्हें कलुपित प्रतीत होगी। मैं तो समझती हूँ कि जमींदार विक्रम की विचार-धारा में आमूल परिवर्तन हो रहा है। उन्हें अपने कुकर्मों पर क्षोभ है, पश्चात्ताप की अग्नि में जल रहे हैं वह।"

लखनपाल ने उपेक्षा के स्वर में कहा—"तुम तो सबको धर्मात्मा ही समझती हो। मैं कहता हूँ, वह कच्ची गोलियाँ नहीं खेलते, बड़ी मोटी नस है उनकी। सुनते हैं, दूध का जला मठा फूंक-फूंककर पीता है, किंतु तुम उनके प्रति सहानुभूति-पूर्ण विचार रखती हो, यह देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य होता है। मैंने उसे खून दिया, केवल मनुष्यता के नाते, अन्यथा मुझे उससे कोई सहानुभूति नहीं थी।"

रूपवती ने हँसकर कहा—"अच्छी बात है। मेरी धारणा सही है अथवा तेरी, समय बताएगा।"

लखनपाल ने व्यंग्य से कहा—" तो फिर जाकर उसे अपनी हमदर्दी दिखा आओ। बिस्तर पर पड़ा तड़प रहा है। विमला कह रही थी, बीमार है। मैं समझता हूँ, तुम्हारी विजय का समाचार सुनकर ईर्ष्याग्नि में जल रहा होगा।"

रूपवती किंचित् रोष में बोली—"कैसी बातें करता है लखना ? विवेक से काम ले। इस प्रकार ओछी बातें करना तुझे शोभा नहीं देता। बुरे समय पर शत्रु से भी सहानुभूति रखनी चाहिए। बाबा की शिक्षा तूने बिलकुल भुला दी ?" कुछ क्षण रुककर वह पुनः बोली—"मैं जानती हूँ, तू युवक है। तेरे रक्त में उबाल आना स्वाभाविक है, किंतु मनुष्य को संयम से काम लेना चाहिए। मनुष्यता के नाते हमें उन्हें देखने जाना चाहिए, उन्हें सांत्वना देनी चाहिए।"

लखनपाल ने झुँझलाकर कहा—" तो तुम हो आना उनके यहाँ। मुझे तो उस पापात्मा के नाम से घृणा है।" वह द्रुत वेग से कमरे के बाहर निकल गया।

रूपवती रात्रि-भर कल्प-विकल्प करती रही। एक क्षण के लिये भी उसकी

आँख न लग सकी। मानस में भीषण द्वंद्व चलता रहा—"क्या उसका ज़मींदार के यहाँ जाना उचित होगा ? क्या लखनपाल की धारणा सत्य है ? ज़मींदार अथवा उसके परिवारवाले उसका अपमान करेंगे, तिरस्कार करेंगे ? अथवा उसका आगमन चाटुकारिता तो न समझा जायगा ?

पौ फटने से पूर्व ही रूपवती ने शय्या त्याग दी। नित्य-कर्म से निवृत्त होकर मा दुर्गा के चित्र के सम्मुख उसने मस्तक टेक दिया—"वरदायिनि ! शत्रु-विमोचिनि ! मा ! मेरी रक्षा करो। मेरे कर्तव्य का ज्ञान मुझे कराओ मा ! मैं भटक गई हूँ, मुझे राह दिखाओ !" उसका अंतर चीत्कार कर उठा।

तभी मा दुर्गा के चित्र में प्रकंपन-सा हुआ। मानो मा उसे आदेश दे रही हों, उससे कह रही हों—"धीरज धर, पुत्री ! अपने गुरु बाबा का उपदेश तूने विस्मृत कर दिया ? कष्ट में पड़े शत्रु की भी सहायता कर, यही मानव-धर्म है। विक्रम को अपने विगत कुकर्मों पर क्षोभ है। उसे प्रायश्चित्त करने का अवसर प्रदान कर। उठ, मेरा आशीर्वाद तेरे साथ है।"

रूपवती की तंद्रा भंग हुई। शीश उठाकर विस्मय से चित्र की ओर देखा। सभी कुछ पूर्ववत् था। "फिर यह किसका स्वर था ? क्या यह केवल कल्पना-मात्र थी, भ्रम था ? नहीं, देवी का स्पष्ट आदेश था। मैं इसकी अवहेलना नहीं कर सकती।" रूपवती बुदबुदाई।

उसने पाँवों में चप्पलें डालीं, अलगनी पर पड़ा दुशाला खींचकर कंधे पर डाला, और तडिद् वेग से ज़मींदार के भवन की ओर चल पड़ी। भगवान् भास्कर ज़मींदार विक्रम की विशाल अट्टालिका को अपने स्वर्णिम धागों से सजा रहे थे। मानो उस अट्टालिका के निवासियों को नवजीवन का संदेश दे रहे हों। रूपवती द्वार पर पहुँचकर एक क्षण के लिये ठिठककर खड़ी हो गई। सहसा भीतर जाने का उसे साहस न हुआ।

तभी पुष्प-चयन के लिये आई ज़मींदार की पत्नी ने उसे देखा। हर्ष और विस्मय से उनका अंतस् डोल उठा था। "कौन, रूपा बहन ! आओ बहन, आओ। वहाँ क्यों खड़ी हो ? धन्य भाग हमारे, जो तुमने हमारे घर को पवित्र किया।"

कहती हुई वह द्वार पर आई, और रूपवती को अत्यंत प्यार एवं आदर के साथ हाथ पकड़कर अंदर ले गई।

जब रूपवती ज़मींदार के कक्ष में पहुँची, उसने देखा, वह वज्र-हृदय, अहंकारी पुरुष, जिसे देखकर एकबारगी भय से संपूर्ण शरीर रोमांचित हो उठता था, करुणा की मूर्ति बना शिथिल भाव से पलंग पर एक ओर पड़ा था। विशाल मांसल देह हड्डियों का ढाँचा-मात्र रह गई थी। झुर्रियों से भरे मुख-मंडल पर कालिमा छा गई थी। नेत्र निस्तेज हो गए थे।

ज़मींदार की पत्नी ने पति को लक्ष्य कर कहा—"देखिए तो, कौन आई हैं।"

ज़मींदार विक्रम ने धीरे से अपने नेत्र ऊपर किए। सहसा रूपवती को अपने कक्ष में देखकर स्तंभित-सा रह गया। उसे अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हुआ। हर्ष, भय और आश्चर्य का विचित्र सामंजस्य उसके मुख-मंडल पर व्याप गया। यंत्रवत् उसके कृप हाथ अभिवादन के लिये उठे, और वह केवल इतना ही कह सका—"आओ बहन!"

रूपवती ने सहज भाव से अभिवादन का उत्तर दिया, और पास पड़ी एक कुर्सी पर बैठ गई। तभी उसने लक्ष्य किया कि विक्रम उसकी ओर एकटक दीन भाव से देख रहा है। मानो आँखों-ही-आँखों में उससे अपने अपराधों की क्षमा माँग रहा हो। उसके नेत्रों की कोर पर अश्रु-बिंदु झिलमिला रहे थे।

विक्रम की वह करुण मूर्ति देखकर रूपवती का हृदय हिल उठा। स्नेह-सिक्त स्वर में बोली—"ज़मींदार बाबू, आप क्यों अपना मन भारी करते हैं। देखिए, अंततः मैं नारी हूँ, दुर्बल हूँ, आपने तो दुनिया देखी है, अनेक संघर्ष देखे हैं, फिर इतना दुर्बल मन क्यों?"

विक्रम ने अत्यंत क्षीण स्वर में कहा—"बहन, अपराधी का मन सदैव दुर्बल रहता है। मै सदा अपने साथियों द्वारा छला गया हूँ, पथ-भ्रष्ट किया गया हूँ। तुम्हारे समक्ष भी मैं अपराधी हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि मेरे पापों का पात्र भर चुका है। मेरा हृदय अपने पापों का प्रायश्चित्त करने के लिये छटपटा रहा है। बोलो बहन, क्या तुम मुझे क्षमा कर सकोगी?"

रूपवती अचकचाकर बोली—"नहीं, नहीं, यह आप क्या कहते हैं ? आपने कोई अपराध नहीं किया। यह तो विधि का लेखा था। यदि वह सब घटनाएँ न घटतीं, तो सभवत: मैं अपने ग्रामवासियों की सेवा से वंचित रह जाती—एक अशिक्षित ग्रामीण स्त्री की भाँति अंध-कूप में पड़ी रहती ! मैं तो आपका सदा आभार मानूँगी।"

सुनकर जमींदार विक्रम अवाक् रह गया। इतनी मृदुभाषिणी, इतनी विशाल-हृदया तथा इतनी क्षमाशील होगी रूपवती, ऐसी कल्पना भी उसने कभी न की थी।

तभी रूपवती ने पुन: कहा—" इस वृद्धावस्था में आपको इस सत्य के दर्शन हुए, यह बड़े सुख का विषय है। अब अपने जीवन की समस्त निधियाँ आप जनता की झोली में डाल दीजिए। भाग्य से आप साधन-संपन्न हैं, प्रांत के सबसे बड़े धनिक हैं। सहारा दीजिए भूखी और दारिद्र्य से छटपटाती जनता को। फिर आप देखेंगे, निर्धन के अंत:करण से निकला आशीष आपकी आत्मा को कैसा बल प्रदान करेगा, आपके प्राणों में कैसी अपूर्व सुगंध पैदा होगी।"

जमींदार ने एक दीर्घ नि:श्वास छोड़ते हुए कहा—"तुम ठीक कहती हो बहन ! काश, मेरी आँखें पहले खुल गई होतीं !"

रूपवती ने कहा—"जब आँख खुले, तभी सबेरा। आप अपने मन में व्यर्थ की चिंता न लाएँ।"

तभी जमींदार की पत्नी बोली—"क्यों, रूपा बहन ! लखनपाल तुम्हारे साथ क्यों नहीं आए ? सुना है, वह आजकल नित्य सायंकाल नदी-तट पर गाँववालों को रामायण सुनाते हैं। शहर से भी अनेक संभ्रांत नेता आते रहते हैं। मैंने तो सिमला से कई बार कहलाया कि यह कार्य-क्रम हमारी हवेली में ही हुआ करे, तो हमें भी सत्संग-लाभ का अवसर मिले, परंतु पता नहीं क्यों, उन्हें यह रुचिकर नहीं।"

रूपवती ने बात टालते हुए हँसकर कहा—"अरे, वह क्या पंडिताई करेगा। यों ही लफंगों का जमाव होता होगा, तभी वह आपके यहाँ आने में आनकानी करता है।"

ज़मींदार ने बीच ही में कहा—"नहीं, लखनपाल ऐसा नहीं। एक दिन वह देश का बड़ा नेता होगा। अपने गाँव का मुख उज्ज्वल करेगा।"

ज़मींदार की पत्नी ने हँसते हुए कहा—"अच्छा, रूपा बहन, एक बात कहूँ, बुरा तो न मानोगी?"

रूपवती विनीत भाव से बोली—"यह आप क्या कह रही हैं? मुझमें इतनी शक्ति नहीं कि आपकी किसी आज्ञा का उल्लंघन कर सकूँ।"

ज़मींदार-पत्नी ने धीमे स्वर में कहा—"मैं चाहती हूँ, तुम्हारा लखनपाल और विमला......"

बीच ही में रूपवती बोल उठी—"इसमें मेरी अनुमति की क्या आवश्यकता? लखनपाल पर मुझसे अधिक आपका अधिकार है।"

"तो फिर....."

"आप मुझसे यह बात आज कह रही हैं, पर विमला बेटी ने तो न-जाने कब से मुझे मा मान लिया है। मैं उस पर मुग्ध हूँ। वह बड़ी सुशील है, बड़ी स्नेहमयी है।"

ज़मींदार की पत्नी ने पति की ओर देखकर अत्यंत कातर स्वर में कहा—"बहन, मैं चाहती हूँ, किसी शुभमुहूर्त में यह काम शीघ्र-से-शीघ्र हो जाय, तो अच्छा है। इनका स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रहता। डॉक्टर का कहना है, दिल बहुत कमज़ोर हो गया है। नित्य इंजेक्शन लगते हैं, औषधियाँ दी जा रही हैं, पर कोई लाभ नहीं होता। पता नहीं, विधाता क्यों वाम हैं हम पर!"

रूपवती सांत्वना भरे स्वर में बोली—"चिंता न करो बहन! भगवान पर भरोसा रक्खो। मैं समझती हूँ, निरंतर मानसिक द्वन्द्व के फल-स्वरूप ही ज़मींदार साहब के स्वास्थ्य को धक्का लगा है, किन्तु अब इन्हें पथ का प्रकाश मिल गया है। अब आप देखेंगी, कितनी तीव्र गति से यह स्वास्थ्य-लाभ करेंगे। निर्धन के आशीष में बड़ी शक्ति होती है।"

ज़मींदार विक्रम ने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए अत्यंत करुण स्वर में कहा—"मेरे कुकर्मों का दंड मिल रहा है मुझे!"

सुनकर रूपवती का हृदय रो उठा। उसने लक्ष्य किया कि सचमुच ही इस व्यक्ति के हृदय में निःसीम पीड़ा है, व्यथा है, और इसे अपने किए पर क्षोभ है।

तभी विक्रम ने कहा—"मैंने सदा ही समाज से छीना है, कभी कुछ दिया नहीं उसे। संभवतः उसी का दंड भोग रहा हूँ। परन्तु अब मैं समाज को उसका वह सब कुछ लौटा देना चाहता हूँ, जो मैंने उससे छीना है।"

रूपवती हर्ष-विह्वल मुद्रा में बोली—"भगवान आपकी आकांक्षा की पूर्ति करें, आपके संकल्प में सहायक हों।" फिर सहसा बोली—"विमला बेटी नहीं दिखाई दी। कहीं गई है क्या?"

ज़मींदार-पत्नी बोली—"अरे, उसका कुछ ठीक रहता है? सुबह से ही निकल जाती है। इसे देखना है, उसे देखना है, सारे गाँव की सुख-सुविधा की मानो उसी ने ज़िम्मेदारी ले रक्खी हो। मैं भी अब उसे नहीं टोकती। सोचती हूँ, अंत में उसे इसी पथ का आरोहण करना है।" कहकर वह मुस्किरा दी।

रूपवती ने हँसकर कहा—"आपका कहना यथार्थ है, बहन। मैं जानती हूँ, वह कहाँ गई होगी। अच्छा, अब चलूँगी। अपनी विमला बेटी के हाल-चाल देखूँ चलकर।

रूपवती ज़मींदार-दंपति को अभिवादन कर चलने को हुई, तभी ज़मींदार विक्रम ने अति क्षीण स्वर में कहा—"यह क्या? रूपा बहन, हमारे यहाँ तुम प्रथम बार आई हो। विना भोजन किए तो आज तुम नहीं जा सकोगी।"

रूपवती अत्यंत विनम्र स्वर में बोली—"आज तो मुझे क्षमा कीजिए ज़मींदार साहब! फिर आपकी जब आज्ञा होगी, आ जाऊँगी। अभी तमाम काम पड़ा है। लक्ष्मी को भी देखने जाना है। विना खाए-पिए विमला अकेली बैठी होगी उसके पास। जाऊँ, उसे भेजूँ।"

ज़मींदार-पत्नी सहास्य बोली—"देखती हूँ, अभी से विमला बेटी की चिंता तुम्हें अधिक रहती है। अच्छा, आज तो मैं तुम्हारा कहा माने लेती हूँ, पर

वचन दो, तुम शीघ्र ही किसी दिन हमारे यहाँ आओगी, और दिन-भर यहीं रहोगी।"

रूपवती ने भाव-विह्वल हो जमींदार-पत्नी के दोनों हाथ अपने हाथों में लेते हुए कहा—"अवश्य बहन ! जिस दिन भी अवकाश मिला, चली आऊँगी।"

---

# छियालीस

जब रूपवती लक्ष्मी के घर पहुँची, आशा के अनुकूल उसने विमला को लक्ष्मी के कक्ष में बैठे पाया। लक्ष्मी की शय्या के पास भूमि पर चटाई बिछाकर बैठी विमला रामायण सुना रही थी लक्ष्मी को। देखकर रूपवती का हृदय पुलक उठा। बोली—"मैं तो पहले ही जानती थी कि तू यहीं होगी। रामायण-पाठ हो रहा है? बड़ा ही सुंदर है। रामायण-पाठ से आत्मा को बड़ी शांति मिलती है, बल मिलता है।"

विमला सहसा कुछ सकुचा-सी गई। फिर बोली—"किंतु माजी, हम इसके अनुसार आचरण तो नहीं करते। यों तो हम रामायण का पाठ करते हैं, आदर्श-भरी बातें करते हैं, अध्यात्म और धर्म की ठेकेदारी करते हैं, परंतु हमारे आचरणों का केंद्र-बिंदु सांसारिक माया-मोह ही रहता है। परलोक की चिंता भी हम कभी करते हैं?"

रूपवती धीर-गति से आकर विमला के पास बैठ गई, और सहज भाव से बोली—"विमला बेटी, तुम इतनी पढ़ी-लिखी, विदुषी होकर भी इन पुराने घिसे-पिटे वाक्यों को दोहरा रही हो, आश्चर्य है!" पुनः विमला के कंधे पर हाथ रखते हुए स्नेह-सिक्त स्वर में बोली—"बेटी, अध्यात्म और धर्म-विश्वास का पारलौकिक लक्ष्य मनुष्य को निःस्वार्थ और उदात्त कैसे बना सकता है? आजीवन पारलौकिक सुख के पीछे दौड़ते रहना उचित है क्या? ऐसा व्यक्ति संसार के अन्य जीवों के प्रति अपना क्या कर्तव्य समझेगा, और क्यों उनके प्रति उदात्त होगा? वह कभी भी दूसरों के सांसारिक कल्याण में अपना कल्याण नहीं समझेगा। हाँ, सांसारिक सफलता को लक्ष्य माननेवाला व्यक्ति अवश्य, यदि दूरदर्शी होगा, तो अपना कल्याण सामूहिक कल्याण में समझेगा। सांसारिक लगाव और सामूहिक हित के लिये सांसारिक सफलता का दृष्टिकोण ही समाज को सहिष्णुता, सह-अस्तित्व और भावनात्मक एकता की प्रेरणा दे सकता

है। धर्म क्या है ? धर्म एक विश्वास है, जो हमारी आत्मा को बल प्रदान करता है, हमें मनुष्य बनाता है, किन्तु उसके पीछे आँख मूँदकर दौड़ना विवेक-हीनता है। काल-परिस्थिति के अनुरूप ही धर्म का स्वरूप होना चाहिए।"

विमला एकटक रूपवती का मुख निहारती रही। उसे लगा, मानो साक्षात् सरस्वती उसकी वाणी में उतर आई हैं। आज एक बार फिर वह उस साधारण ग्रामीण नारी के अपूर्व ज्ञान और विद्वत्ता को लखकर चकित रह गई। उससे सहसा कोई उत्तर देते न बना। विनीत स्वर में उसने कहा—"माजी, आपका तर्क अकाट्य है। सचमुच ही हमारी यह घिसी-पिटी विचार-धारा ही हमारी प्रगति में बाधक है। परलोक सुधारने के लिये इस लोक का भी सुधार..."

रूपवती बीच ही में बोल उठी—"मैं तो यह मानती हूँ कि लोक-परलोक, सब यहीं है। अच्छे-बुरे कर्मों का फल सब यहीं मिल जाता है। मनुष्य को सदा अपनी आत्मा का आदेश मानना चाहिए। जो आत्मा कहे, उसी को उचित मानो। हाँ, अपनी आत्मा का हनन न होने दो।"

लक्ष्मी ने बड़ी कठिनाई से करवट बदली, और अत्यंत शिथिल-सी शय्या पर चित्त लेट गई। मानो करवट बदलने में उसे अतीव श्रम करना पड़ा हो। अत्यंत दीन भाव से वह छत की ओर ताकती रही। नेत्र-कोणों पर अश्रु-बिंदु झलक आए।

रूपवती ने बड़े स्नेह से उसके मस्तक पर हाथ फेरते हुए कहा—"क्यों, लक्ष्मी बेटी, अब जी कैसा है ?"

लक्ष्मी ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह एकटक छत की ओर देखती रही। अश्रु-बिंदु मुख पर ढुलक आए।

लक्ष्मी की जर्जर काया, जो इस बीच और भी कृप हो चली थी, देखकर रूपवती का हृदय चीत्कार कर उठा। सोने-सी काया राख का ढेर हो चुकी थी। रूपवती का गला भर आया। आर्द्र कंठ से बोली—"लक्ष्मी, मेरी बेटी, रो मत, मन शांत कर। तुझे किस बात का दुख है बेटी ? मैं तेरी मा हूँ, मुझसे कुछ न छिपा। बेटी, जो कुछ प्रारब्ध में है, उसे कोई नहीं टाल सकता। जो हमारे

अधिकार में नहीं, उसके लिये दुःख क्यों ? यह जीवन की संपदा भगवान् की है, उसी का इस पर अधिकार है। अपनी आत्मा को यों न दुखा बेटी !"

लक्ष्मी की यह करुणाजनक दशा देखकर विमला का कोमल हृदय पीड़ा से कराह उठा। वेदना-सिक्त स्वर में वह बोली—"माजी, लक्ष्मी बहन जान-बूझकर अपना शरीर गला रही हैं। जब देखो, तब रोती रहती हैं। तभी तो स्वास्थ्य और गिरता जाता है। काश ! मैं इनका दुख दूर कर सकती !"

रूपवती ने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए कहा—"स्वाभाविक ही है। सम्बन्धी-संबंधी छूटते हैं, तो दुःख तो होता ही है। अभी तो उसका जीवन अधूरा ही है। कौन-सी साध पूरी हुई इसकी !"

रूपवती ने लक्ष्मी के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—"बेटी, देख तो, तूने अपनी क्या दशा बना ली है। अब आराम कर। कई-कई रोज तू सोती नहीं। इस तरह कैसे काम चलेगा ? इस समय तू रानी बेटी की तरह आँख मूंदकर सो जा, फिर देख शाम को कैसी शक्ति आ जायगी मेरी बेटी में।" पुनः विमला की ओर देखकर बोली—"क्यों विमला बेटी, लखनपाल आजकल नहीं दिखाई देता। कहाँ रहता है दिन-दिन-भर ? कई-कई दिन हो जाते हैं, उससे भेंट ही नहीं हो पाती। पिछले सप्ताह नंदपुरबा में मिला था। मैंने लक्ष्य किया, उसका स्वास्थ्य गिरता जा रहा है। काफ़ी दुबला हो गया है। बेटी, उसे समझा। इस प्रकार अपने स्वास्थ्य के प्रति उदासीन रहकर वह कभी भी कोई बड़ा काम न कर सकेगा।"

क्षीण स्वर में लक्ष्मी बोली— "उन्हें मेरी चिंता और भी खाए जाती है, चाची !"

रूपवती बोली— "उसकी एक चिंता हो, तो कही जाय। जाने कितनी समस्याओं का बोझ अपने सिर पर लादे फिरता है। तू अपना मन दुखी न कर बेटी।" फिर विमला की ओर देखकर बोली—" तूने बताया नहीं, बेटी ! कहाँ गया है आज लखनपाल ?"

विमला ने स्मृति पर जोर देते हुए कहा—"हाँ, आज तो वह दूर के गाँव में गए हुए हैं। वह वृद्ध भोला चमार, जिसकी शुश्रूषा-सेवा वह कई महीनों से

कर रहे थे, कल रात मर गया। उसी के क्रिया-कर्म के प्रबंध में सुबह से गए हुए हैं। जीवन-भर भोला ने अपने गाँववालों की सेवा की, और आज उसी के शव को श्मशान पहुँचाने के लिये केवल इसलिये कोई तैयार नहीं कि वह अछूत है। कैसी विडंबना है! लखनपाल बाबू को संभवत: सब कुछ अकेले ही करना पड़ा होगा।"

लक्ष्मी क्षीण स्वर में बोली—"वह महान् है, चाची! वह देवता हैं! दूसरों की चिंता में उन्हें अपनी सुध-बुध नहीं रहती। उन्हें ऐसे साथी की जरूरत है, जो उनकी चिंता रक्खे, उन्हें सहारा दे। विमला बहन उन्हें अपना लेतीं, तो..." वह कुछ क्षण साँस लेने के लिये रुकी, फिर अत्यंत अधीर होकर, विमला की ओर देखकर बोली—"विमला बहन! बोलो, क्या तुम मेरी इच्छा पूर्ण करोगी? सच, उन्हें तुम्हारी-जैसी जीवन-संगिनी चाहिए।"

तभी रूपवती सहसा कह उठी—"अरे, मैं तो भूल ही गई। विमला बेटी, आज मैं तेरे घर गई थी। तेरे पिताजी से मिली, बातें कीं। सीधी वहीं से तो आ रही हूँ।"

सुनकर विमला का रोम-रोम पुलक उठा। हर्षोन्माद में बोली— "सच माजी? और कौन-कौन था वहाँ? पिताजी से क्या बातें हुईं? माताजी ने आपका ठीक से सत्कार किया न? और..."

रूपवती हँसकर बोली—"अरे-अरे! इतने सारे प्रश्न एक साथ ही पूछ डालेगी? जरा दम तो ले। तू चिंता न कर, सभी ने बड़े स्नेह से मेरा स्वागत किया। तुम्हारी माताजी तो मुझे आने ही न दे रही थी, किंतु मुझे लक्ष्मी की चिंता थी, तुझे भी भेजना था, भूखी-प्यासी सुबह से बैठी है। मैं कैसे रुक सकती थी! वह तो आज तेरा और लखना का संबंध पक्का करने पर तुली..." सहसा उसे लक्ष्मी का ध्यान आया, और वह बात पूरी करते-करते रुक गई। संभव है, यह सब सुनकर लक्ष्मी के भावुक हृदय को पीड़ा पहुँचे, यह विचारकर उसने विषयांतर करते हुए कहा—"अरे, मैं भी कैसी बावली हूँ, तुझे बातों में उलझाए हूँ। अब तू जा, नहा-धो, आराम कर। मैं लक्ष्मी के पास बैठी हूँ।"

किंतु विमला ने गंभीर भाव से कहा—"थोड़ी देर में चली जाऊँगी, माजी।

किंतु मेरी माताजी और आप सब मिलकर जिस परिकल्पना का जाल बुन रही हैं, क्या वह लक्ष्मी बहन के प्रति अन्याय नहीं ? क्या आप सबने यह निश्चय धारणा बना ली है कि लक्ष्मी बहन अब कभी स्वस्थ न हो सकेंगी ? नहीं, मैं लक्ष्मी बहन का अधिकार न छीन सकूंगी । मैं इस योग्य भी नहीं ।"

सुनकर रूपवती स्तब्ध रह गई । कोई उत्तर उससे देते न बना । तभी लक्ष्मी बोली—"किंतु मैं अपना यह अधिकार तुम्हें सहर्ष सौंप रही हूँ, विमला बहन । लखना को इस समय तुम्हारी आवश्यकता है । उसे किसी सहारे की आवश्यकता है । तुम यह क्यों भूलती हो, लखना के सुख में ही मेरा सुख निहित है । अब मै कितने दिन की मेहमान हूँ ! मेरा अंत निश्चित है ।"

विमला ने लक्ष्मी के जर्जर शरीर पर हाथ फेरते हुए अत्यंत पीड़ित स्वर मे कहा—"नहीं लक्ष्मी, नहीं, तुम फिर स्वस्थ होगी, भगवान् अवश्य हम सबकी सुनेंगे !"

लक्ष्मी की आँखें डबडबा आईं, कंठ रुँध गया । तभी आँसुओं की झिलमिलाहट से उसने देखा, बिखरे बाल, म्लान मुख, शरीर पर मैला कुरता डाले लखनपाल द्वार का सहारा लिए खड़ा है । हर्ष की एक क्षीण रेखा उसके मुख पर फैल गई, और वह बुदबुदाई —"लखनपाल ! बड़े अच्छे समय पर तुम आए ।"

विमला और रूपवती का ध्यान भी द्वार की ओर गया । रूपवती तत्काल लखनपाल के पास पहुँची , और उसे हाथ पकड़कर अंदर लाते हुए बोली—" यह कैसी दशा बना रक्खी है तूने, लखनपाल ? भला इस प्रकार अपने शरीर को गलाकर काम करने मे क्या लाभ ? जा, जल्दी से नहा-धो ले । मैं तेरे भोजन का प्रबंध करूं ।"

किंतु लक्ष्मी बीच ही में बोल उठी—"नहीं चाची, समय कम है । मैं लखना से जी-भरकर बातें कर लेना चाहती हूँ । पुनः लखनपाल को संबोधन कर बोली—"मैं जानती हूँ, तुम थके-माँदे हो, परंतु...... " उसे ज़ोर की खाँसी आई, और वह बात पूरी न कर सकी । साँस फूलने लगी ।

लखनपाल का हृदय रो उठा । कितनी साध से उसने लक्ष्मी का जीवन संवारने का संकल्प किया था, परंतु सहसा क्या-से-क्या हो गया ! लक्ष्मी को

धीरज बंधाते हुए वह बोला—"इतनी अधीर क्यों होती हो, लक्ष्मी ? इसी से तुम्हारा स्वास्थ्य और भी गिरता जाता है। तू अच्छी हो जायगी, तो मैं दिन-भर बैठा तेरी बातें सुना करूँगा।"

लक्ष्मी ने हाँफते हुए कहा—"नहीं, अब मैं कभी अच्छी न हूँगी। झूठे दिलासे से विधि का लेखा तो न बदल जायगा ?" लखनपाल ने उसे अधिक बोलने से मना करना चाहा, किंतु वह बोली—"नहीं, मुझे कह लेने दो, अन्यथा मन की बात सदा के लिये मन ही में रह जायगी। सुनो लखनपाल, जन-सेवा का दुर्गम पथ ही तुम्हारा भवितव्य है। अपने प्रति उदासीन रहना तुम्हारा स्वभाव है। तुम अपने जीवन में तभी सफल होगे, जब तुम्हें प्रेरणा देनेवाला—तुम्हारे क़दम-से-क़दम मिलाकर चलनेवाला—कोई साथी तुम्हारे साथ हो। मैंने सब सोचकर ही, लोक-लाज की चिंता न कर, तुम्हारा साथ निबाहना चाहा था, परंतु प्रभु की इच्छा ! उसने संभवत: मुझे इस योग्य न समझा।" कुछ क्षण रुककर वह पुन: बोली—"मैं चाहती हूँ, जो काम मैं अधूरा छोड़ रही हूँ, विमला बहन उसे पूरा करें। यह सर्वथा तुम्हारे योग्य हैं। इन्हें अपनी जीवन-संगिनी बना लो। फिर तुम देखोगे, सफलता तुम्हारे चरण चूमेगी।"

निरंतर चिंता व शारीरिक श्रम के कारण लखनपाल का मन पहले ही उद्विग्न था, लक्ष्मी का यह हृदय-द्रावक प्रलाप, जिसके लिये संभवत: वह तैयार न था, सुनकर वह खीज-सा उठा। उसने एक दृष्टि विमला पर डाली, जो लाज से गड़ी धरती पर दृष्टि गड़ाए अविचल बैठी थी, तदंतर कुछ झुँझलाहट भरे स्वर में बोला—"तुम्हें यह क्या हो गया है, लक्ष्मी ! क्या यह सब बातें अभी ही करने की है ?"

लक्ष्मी ने किंचित् तीव्र स्वर में कहा—"हाँ, यही उपयुक्त समय है। फिर पता नहीं, समय मिले या न मिले। आज मुझे वचन दो कि तुम मेरी इच्छा—मेरे जीवन की अंतिम इच्छा—पूर्ण करोगे। तुम यह क्यों भूलते हो, तुम्हारी सफलता, तुम्हारे सुख-वैभव में ही मेरे जीवन का सुख-चैन निहित है। तुम्हें विमला बहन के हाथों सौंपकर मैं सुख से मर सकूँगी। मुझे जीवन में कभी सुख की अनुभूति न हुई, क्या जीवन के अंत समय में भी तुम मुझे सुख प्रदान न करोगे ?

बोलो, लखनपाल, बोलो। तुम बोलते क्यों नहीं ?" कहते-कहते लक्ष्मी बेहद उत्तेजित हो उठी थी। सहसा उसे ज़ोर से खाँसी आ गई, और ढेर-सा रक्त पृथ्वी पर फैल गया। भय-विह्वल होकर रूपवती ने लक्ष्मी का सिर अपनी गोद में ले लिया, और विमला से कहा—"जा बेटी, दौड़कर वैद्यराज को तो बुला ला।" तदंतर लक्ष्मी का मुख पोछती हुई बोली—"बेटी, तू चिंता न कर। मन शांत कर। मैं तेरी इच्छा पूरी करूँगी।"

लखनपाल किंकर्तव्य-विमूढ़-सा लक्ष्मी के पास पलंग पर एक ओर बैठ गया। लक्ष्मी निढाल होकर नेत्र मूँदे पड़ी थी। श्वास तेजी से चल रही थी। ओठ काँप रहे थे, मानो कुछ कहने की चेष्टा कर रहे हों। लखनपाल का हृदय चीत्कार कर उठा। भावावेश में लक्ष्मी के सिर पर अपना सिर रखता हुआ वह चीख़-सा उठा—"नहीं, लक्ष्मी, नहीं। मैं वह सब कुछ करूँगा, जो तू चाहती है। मेरी अच्छी लक्ष्मी ···"

लक्ष्मी ने धीरे से नेत्र खोले। ओठों पर एक हल्की-सी मुस्कान नाच उठी। लखनपाल की ओर उसने एक अर्थ-पूर्ण दृष्टि से देखा, और फिर शीघ्र निःश्वास छोड़ते हुए नेत्र मूँद लिए।